अंक : 64, भाग : 2, वर्ष : 2018-19
Vol. : 64, No. : 2, Year : 2018-19

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय BANARAS HINDU UNIVERSITY

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

अंक : 64, भाग : 2, वर्ष : 2018-19
Vol. : 64, No. : 2, Year : 2018-19
प्रज्ञा PRAJÑĀ
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

महामना द्वारा सृजित अविस्मरणीय श्लोक

प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथे तटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठो, हिन्दूनां मानवर्द्धनः।
सर्वप्रान्तसमायाताश्छात्राः विद्याभिलाषिणः
वसन्ति सुखिनो यत्र पुरा गुरुकुले यथा।
नित्यं निषेव्यते यत्र व्यायामः शक्तिवर्धनः
व्याख्यानैश्च कथाभिश्च धर्मो यत्रोपदिश्यते।
तस्मिन् विद्यालये स्फीते विद्यार्थिजनसङ्कुले
स्थाप्यो देवालयो दिव्यः लोकमङ्गलकाम्यया।

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 64, भाग 2

वर्ष 2018-19

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 64 No. 2, 2018-19
ISSN 0554-9884

© Banaras Hindu University
January, 2018

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो. राकेश भटनागर

कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

प्रो. विजय कुमार शुक्ला
रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवम्
निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. प्रमोद कुमार जैन
निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. रमेश चन्द
निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

प्रो. मल्लिकार्जुन जोशी
निदेशक, विज्ञान संस्थान

प्रो. सुजीत कुमार दुबे
निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्रो. ए. एस. रघुबंशी
निदेशक, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान

प्रो. चन्द्रकला त्रिपाठी
प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रो. दिप्ती प्रकाश मोहन्ती
प्रमुख, दृश्य कला संकाय

प्रो. आर. पी. पाठक
प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. चन्द्रमा पाण्डेय
प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्रो. राजेश शाह
प्रमुख, संगीत एवं मंच कला संकाय

प्रो. रुद्र प्रकाश राय
प्रमुख, विधि संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. राधेश्याम राय
हिन्दी विभाग, कला संकाय

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. राघवेन्द्र प्रताप सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रो. देवेन्द्र कुमार
सिरामिक अभियांत्रिकी विभाग,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र
भूगोल विभाग, विज्ञान संस्थान

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

डॉ. ज्ञान प्रकाश मिश्र
पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय

डॉ. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

सम्पादक

प्रो. अशोक सिंह
प्रमुख, कला संकाय

मुख्य सम्पादक (मानद)

प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय
इमेरिटस प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी॥
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर॥
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर०॥
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा॥
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर०॥
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी॥
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी। मधुर०॥
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले॥
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर०॥
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी॥
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर०॥
विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन॥
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति॥
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी॥

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

कुलगीतम्

(संस्कृतरूपान्तरम्)

शंकरदेव अवतरे

मधुरमनोज्ञातितरां सुरूपा समस्तविद्यावर-राजधानी

इयं त्रिलोक्या बहिरस्ति काशी
सुज्ञानधर्मादिक - सत्यराशिः
स्थितास्ति गङ्गारमणीयतीरे समग्रविद्यावर-राजधानी

एषा प्रसिद्धाऽत्र पवित्रशिक्षा
सत्यं हि पूर्वं तत आत्मरक्षा
गतो हरिश्चन्द्र इहैव पण्यं तत्सत्यशिक्षाकर-राजधानी

अधीत्य यानीश्वरसत्यवाचः
नित्यं नरा ब्रह्मविभूतिभाजः
चकार तान् व्यास इहैव वेदान् सा ब्रह्मविद्याक्षय-राजधानी

स शङ्करो मुक्तिपदप्रदाता
बुद्धश्च सद्धर्मपथं विधाता
इहैव वृद्धिं च गतौ समृद्धिं राजर्षिपूज्यामर-राजधानी

असी - सुधारा - वरूणा - जलेषु
स्नातौ कबीरस्तुलसी च येषु
तरङ्गिता किं कविताऽत्र न स्याच्छब्दार्थ-विद्याधर-राजधानी

कलार्थशास्त्राणि च गायनानि
खगोल-भूगोल - रसायनानि
प्राचीप्रतीच्यद्भुतसङ्गमेयं संसारविद्यावर-राजधानी

सा मालवीयस्य हि देशभक्तिः
तत्साहसश्चैव तदीयशक्तिः
इयं नवीनाविरभूदजस्त्रं या कर्मवीराव्यय-राजधानी

मधुरमनोज्ञातितरां सुरूपा समस्तविद्यावर-राजधानी

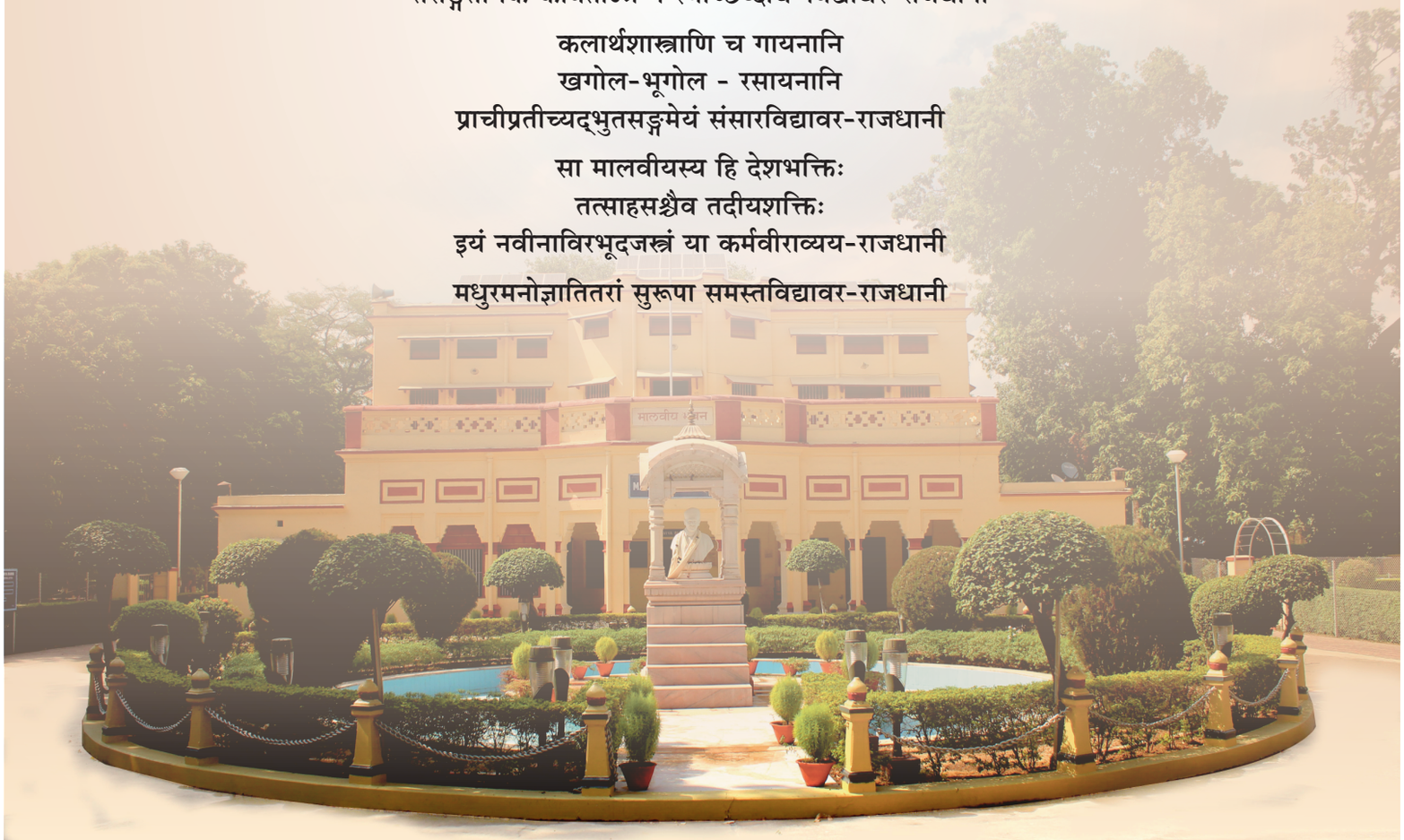

प्रो. राकेश भटनागर
कुलपति
Prof. Rakesh Bhatnagar Ph.D.
FNA, FASc, FNASc
Vice-Chancellor

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
Banaras Hindu University
(Established by Parliament by Notification No. 225 of 1916)
Varanasi–221005 (INDIA)
Phone : 91-542-2368938, 2368339
Fax : 91-542-2369100, 2369951
E-mail : vc@bhu.ac.in
Website : www.bhu.ac.in

७ जनवरी २०१९

शुभ – संदेश

विश्वविश्रुत काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की समादृत शोध पत्रिका **"प्रज्ञा"** के वर्तमान अंक-६४, भाग-२, वर्ष २०१८-१९ के प्रकाशन के अवसर पर मुझे अत्यंत हर्ष का अनुभव हो रहा है। भारत रत्न महामना पंडित मदन मोहन मालवीय द्वारा सन् १९१६ में संस्थापित इस महान विश्वविद्यालय का अपना विशिष्ट गौरव है। यह राष्ट्रीय महत्व का संस्थान है। देश में तो कई विश्वविद्यालय हैं, लेकिन यह विश्वविद्यालय महामना की दूर दृष्टि, शुभ संकल्प, स्वदेशी भावना, सांस्कृतिक बोध एवं राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित होने के कारण सम्पूर्ण विश्व में अपनी एक अलग पहचान रखता है। इससे निकलने वाले अनेक छात्र/छात्राओं ने विश्वपटल पर अपनी विलक्षण प्रतिभा, उच्च बौद्धिक क्षमता एवं सत्चरित्र द्वारा विश्वविद्यालय की गरिमा को स्थापित किया है। इस कार्य में गत ६० वर्षों से **"प्रज्ञा"** पत्रिका भी अपना अमूल्य योगदान कर रही है। इसमें राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों एवं चिन्तकों के लेख प्रकाशित होते रहे हैं। यह अंक भी उसी गरिमामयी परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। आशा है गत अंकों की भाँति यह अंक भी विद्वानों में समादरणीय एवं स्वीकार्य होगा।

मैं शोध-पत्रिका **"प्रज्ञा"** के इस अंक के सम्पादन एवं प्रकाशन से जुड़े हुए समस्त लोगों को साधुवाद देता हूँ, साथ ही अनेक शुभकामनायें भी देता हूँ कि यह अंक गत अंकों की भाँति वृहद पाठक वर्ग में समादृत हो और यह अंक विश्वविद्यालय के यश में और अधिक वृद्धि करे।

राम

(राकेश भटनागर)

सम्पादकीय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक भारत रत्न पूज्य महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी भविष्य दृष्टा ऋषि एवं दूरदृष्टि सम्पन्न युगपुरूष थे। उन्होंने बहुत समय पहले ही महसूस कर लिया था कि लार्ड मैकाले की शिक्षा दृष्टि एवं अंग्रेजों की शिक्षा नीति का कुफल देश के भावी नवयुवकों को झेलना पड़ेगा। इस पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रभाव में आकर बहुत से नवयुवकों में अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रगौरव के प्रति वितृष्णा का भाव पैदा होगा, अतएव उन्होंने अपनी शिक्षा नीति में सनातन धर्म एवं भारतीय आध्यात्मिक चेतना का सन्निवेश किया। उनका स्पष्ट कथन था कि देश में पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित अन्य विश्वविद्यालय हैं, जो ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा दे रहे हैं। वह तो हम भी अपने विश्वविद्यालय में कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त उनमें देश के गौरव एवं अपनी संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव भी हम भर रहे हैं, अतः यहाँ से निकलने वाले शिक्षित नवयुवक न केवल आधुनिक ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न होगें, अपितु उनमें भारतीय सांस्कृतिक-शैक्षणिक परम्परा एवं उसकी आध्यात्मिक चेतना से भी अनुप्राणित होगें। उनका न केवल मानसिक एवं बौद्धिक विकास होगा अपितु उनमें नैतिकता एवं उच्च चरित्रबल का भी सन्निवेश होगा, इसलिए वे हिन्दू धर्म एवं उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास में आजीवन लगे रहे। अपने इस उद्देश्य एवं संकल्प की पूर्ति हेतु उन्होंने विश्वप्रसिद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनका स्पष्ट कथन था कि हिन्दू धर्म अत्यन्त उदार एवं विश्व मंगल की भावना से ओतप्रोत है, अतएव हिन्दू धर्म का संरक्षण एवं पोषण करना हर भारतीय का कर्तव्य है। इससे न केवल भारत देश का अपितु सम्पूर्ण विश्व का कल्याण होगा-

''उत्तमः सर्वधर्माणां हिन्दू धर्मोऽयमुच्चते।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्व लोकहितैर्षिभिः।।''

उनका स्पष्ट मत था कि भारत में उत्पन्न एवं संस्थापित प्रत्येक धर्मों एवं सम्प्रदायों के मतावलम्बी सभी हिन्दू हैं। इसका तात्पर्य है कि जैन, बौद्ध, सिक्ख, एवं आर्य समाजी जैसे अनेक मतों के अनुयायी भी हिन्दू हैं। उन्होंने धर्म के विविध स्तरों को व्याख्यायित करते हुए स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत किया है- **''घर में हमारा बाह्मण धर्म है, परिवार में सनातन धर्म है, समाज में हिन्दू धर्म है, देश में स्वराज्य धर्म है और विश्व में मानवधर्म है।''**

बहुमुखी प्रतिभा के धनी महामना जी उदार चेता युगपुरूष थे। वे हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, यहूदी एवं इसाई धर्मों के अनुयायियों में परस्पर प्रेम एवं एकता के समर्थक थे। उनका स्पष्ट मानना था कि भारत देश में रहने वाले सभी सम्प्रदायों, वर्गो एवं जातियों के समवेत प्रयास द्वारा ही हमारा राष्ट्र समृद्ध एवं सशक्त बनेगा। उनका यह कथन आज के राष्ट्रीय परिवेश में और भी अधिक प्रासंगिक हो गया है-

''पारसीयैर्मुसलमानैरीसाईयैर्यहूदिभिः।
देश भक्तैमिलित्वा च कार्यादेशमुन्नतिः।।''

महामना ने अपने इन विचारों एवं संकल्पों की पूर्ति हेतु इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की। यहाँ के सभी शिक्षक, कर्मचारी एवं छात्र-छात्राओं का परम कर्तव्य है कि वे इसकी पूर्ति हेतु सतत संलग्न रहें। **'प्रज्ञा'** परिवार भी महामना के इन विचारों के प्रचार-प्रसार में यथाशक्ति सक्रिय है। इस अंक में कुल 35 शोध प्रपत्र/लेख संकलित है, जिनमें से 27 लेख हिंदी एवं संस्कृत भाषा में है और 07 लेख अंग्रेजी भाषा में लिखे गये हैं।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक 64, भाग-2, वर्ष 2018-19 के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम कुलपति प्रो0 राकेश भटनागर के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके सतत् प्रोत्साहन एवं सकारात्मक सहयोग से हमें पर्याप्त बल मिलता है। तत्पश्चात रेक्टर (कुलगुरू) प्रो0 विजय कुमार शुक्ल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके कर्मठ जीवन से हमें पर्याप्त प्रेरणा मिलती है। तदनन्तर कुलसचिव डॉ0 नीरज त्रिपाठी, वित्त अधिकारी श्याम बाबू पटेल, परीक्षा नियन्ता डॉ0 मनोज कुमार पाण्डेय एवं अन्य पदाधिकारियों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से मेरा उत्साह वर्धन किया। इस अंक के विद्वान लेखकों, संरक्षक मण्डल एवं सम्पादक मण्डल के सभी सदस्यों को उनके सकारात्मक सहयोग के लिए साधुवाद देता हूँ। मैं बी0एच0यू0 प्रेस के प्रभारी प्रो0 हीरा लाल प्रजापति एवं उनके सहयोगियों का शुक्रिया अदा करता हूँ। अन्त में मैं **'प्रज्ञा'** कार्यालय के अपने सहयोगियों श्री राजेश कुमार, श्री जय प्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने मेरे सम्पादन कार्य में पर्याप्त सहायता की।

(प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय)
मुख्य सम्पादक (मानद), प्रज्ञा जर्नल एवं इमरिटस प्रोफेसर
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग तथा
पूर्व प्रमुख, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

विषय-सूची

1. जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा और नरेन्द्र कोहली — 1
वंदना राय एवं प्रो. अवधेश प्रधान

2. भारतीय सांस्कृतिक चेतना के सार्वभौम आयाम और विश्वकवि तुलसीदास — 6
प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय

3. दुराय नैना बनाए बतियाँ : अमीर खुसरो का काव्य — 9
डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

4. लोकोक्ति शैली का विलक्षण कवि ठाकुर — 16
डॉ. अनुकूलचंद राय

5. भिखारी ठाकुर : व्यक्तित्व के विविध आयाम — 21
डॉ. राकेश कुमार राम

6. भारतीय कला एवं संस्कृति में वृक्षों की धार्मिक मान्यतायें — 26
डॉ. शीतल राणा

7. वेदों में मनुष्य-जीवन का प्रशस्त आदर्श — 30
प्रो. आनन्द कुमार श्रीवास्तव

8. नैषधीयचरित में उल्लिखित पौराणिक आख्यानों का समीक्षात्मक अध्ययन — 34
डॉ. राजेश सरकार

9. पुरातात्विक उत्खननों से ज्ञात खरपतवार : एक विश्लेषण (उत्तर प्रदेश के विशेष सन्दर्भ में) — 38
डॉ. सुजाता गौतम एवं प्रियंका श्रीवास्तव

10. खजुराहो का पार्श्वनाथ जैन मन्दिर : कला एवं धर्म समन्वय का विशिष्ट उदाहरण — 45
ज्योति सिंह एवं डॉ. विनय कुमार

11. कन्दकारी का भारतीय कला एवं स्थापत्य में योगदान : खजुराहो के विशेष संदर्भ में — 51
डॉ. सचिन कुमार तिवारी एवं अजीत कुमार

12. शिवमहापुराण में वेदान्त के मोक्षसाधन — 58
नेहा मिश्रा एवं प्रो. विभा रानी दुबे

13. मैत्रायणीय-आरण्यकानुसार ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व स्वरूप विवेचन — 62
नेहा मौर्या एवं डॉ. शिल्पा सिंह

14. हास्य रस का स्वरूप तथा मानव जीवन पर वेज्ञानिक प्रभाव — 67
किरन प्रकाश एवं डॉ. प्रदीप कुमार

15. नैषधीयचरित के आलोक में श्रीहर्ष की व्याकरणिक प्रतिभा — 70
अभिषेक पाण्डेय एवं डॉ. प्रदीप कुमार

16. प्रेमचन्द विषयक कथा समीक्षा और डॉ0 रामविलास शर्मा — 74
ऋतम्भरा तिवारी एवं प्रो. बलिराज पाण्डेय

17. श्रीमद्भगवद्गीता में योग — 81
सूर्य प्रकाश गोंड एवं डॉ. दीपा मेहता

18. संस्कृत रूपकों में वर्णित प्रतिनायक का अध्ययन — 85
डॉ. प्रदीप कुमार

19. उपभोक्तावादी संस्कृति एवं पर्यावरणीय संकट — 88
डॉ. दिनेश कुमार सिंह

20. सत्य की पक्षधरता में निर्णायक क्षण की तलाश करती कवितायें — 96
डॉ. सत्यपाल शर्मा

21. दीनदयाल हस्तकला संकुल और ब्राण्ड बनारस — 103
डॉ. सुषमा सिंह एवं प्रो. मृदुला सिन्हा

22. उत्तर भारतीय संगीत के विकास में पखावज का योगदान — 111
डॉ. भीमसेन सरल

23. अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या — 117
शुभंकर बाबू एवं डॉ. शिल्पा सिंह

24. हिन्दी कविता में जनजातीय जीवन — 120
दीपेश मिश्र एवं प्रो. चम्पा सिंह

25. धूमपान, तम्बाकू सेवन एवं गुलमंजन के भयावह परिणाम — 125
डॉ. श्रीधर द्विवेदी

26. अभिज्ञानशाकुन्तले प्रणय विमर्शः — 127
डॉ. पवनकुमार शास्त्री

27. लक्षणावृत्तिविमर्शः — 132
डॉ. सिद्धिदात्री भारद्वाज

28. Today's Women From My Specs — 135
Garima Upadhyay and Dr. J. N. Singh

29. Social Inclusion and Human Rights: Some Reflections From Criminological Perspective — 138
Prof. Bibha Tripathi and Shambhu Sharan

30. Adjectives in Hindī and German : A Comparative Study — 142
Dr. Prem Niwās Sinhā

31. Role of Microfinance Helping People in Eradication of Poverty — 153
Abhishek Kumar Singh and Dr. Deepak Kumar

32. Building Science of Indian Temples in Ancient India 160
Dr. Vinay Kumar

33. Kiran Desai's the Inheritance of Loss: A Study in multicultural Perspective 165
Prof. M. K. Pandey and Geetanjali

34. A Sociological Interpretation of Education: Some Conceptual Issues 168
Vinay Kumar Verma and Dr. Alok Gardia

35. The Earth: Our Home and Us 172
K. N. Prudhvi Raju

●

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा और नरेन्द्र कोहली

वंदना राय एवम् प्रो. अवधेश प्रधान***

हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में जीवनीपरक उपन्यास एक नया सृजन है। लेखक तथा विद्वान संत महात्माओं तथा महापुरुषों की जीवनियाँ तो लिखते ही है हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसे लेखकों की परम्परा है जो इन संतों, महात्माओं, महापुरुषों के जीवन को औपन्यासिक कथा तत्व में बाँध कर प्रस्तुत करते है। प्रख्यात और महान चरित्रों को केन्द्र में रख या नायक बनाकर लिखने की प्रथा क्लासिक अथवा अभिजात पारंपरिक सृष्टियों की विशेषता रही है। अरस्तू और भरतमुनि समान रूप से इसका निर्देश करते हैं। आधुनिक युग में इस रूझान में कमी आई और प्रेमचंद शरतचन्द्र आदि लेखकों ने जो कहानी कहनी शुरू की उसके केन्द्र में समकालीन समाज, मध्यवर्ग, दलित, शोषित, स्त्री, किसान और वे सारे लोग रहे जिन्हें हम सामाजिक और सांस्कृतिक तौर पर उत्पीड़ितों का समूह कहते हैं।

जीवनीपरक उपन्यासों का आधार ऐतिहासिक होता है परंतु इन उपन्यासों में लेखक ऐतिहासिक वातावरण एवं घटनाक्रम की अपेक्षा कथानक की ओर उन्मुख रहता है। हिन्दी के प्रख्यात कथा समीक्षक गोपाल राय का मत है कि ''ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन पर आधारित उपन्यास वस्तुतः अतीताश्रित उपन्यास का ही एक प्रकार है। हिन्दी में इस उपन्यासधारा की शुरूआत हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत बाणभट्ट की आत्मकथा (1946) से हुई।''[1]

'बाणभट्ट की आत्मकथा' सही मायनों में 'बाणभट्ट' की जीवनी है उसी अर्थ में जिस अर्थ में प्रेमचंद्र ने कहा था कि 'भावी उपन्यास जीवनी के रूप में लिखा जाएगा।'

जीवनीपरक उपन्यासों में उपन्यासकार इतिहास में वर्णित संतों, महापुरुषों एवं साहित्यकारों के व्यक्तित्व के आधार पर अपना औपन्यासिक भवन खड़ा करता है। यहाँ उपन्यासकार पात्रों के चरित्र निर्धारण के साथ-साथ कथा निर्माण के क्षेत्र में पूर्णरूपेण स्वतंत्र रहता है। इन उपन्यासों में नायक का चरित्र विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होता है। अन्य उपन्यासों से इतर जीवनीपरक उपन्यासों में मौलिक विशेषता यह रहती है कि इनमें उपन्यासकार के अपने विचारों के मध्य उसके ही पात्र के वचन और कार्य निर्धारित होते हैं। हिन्दी साहित्य में जीवनीपरक उपन्यासों के आगमन के पूर्व कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों में जीवन चरितात्मक उपन्यासों के लक्षण दृष्टिगोचर होते है परंतु वे ऐतिहासिक परिस्थितियों के निर्माण में प्रवृत्त होने के कारण ऐतिहासिक बन जाते है, जीवन चरितात्मक नहीं। ''जीवन चरितात्मक उपन्यासों को उपन्यास की एक नयी विधा के रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह हिन्दी उपन्यास की नवीनतम उपलब्धि है।''[2]

जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा में कतिपय समालोचक वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास 'झांसी की रानी में' जीवनीपरक उपन्यासों के लक्षण के आधार पर हिन्दी का प्रथम जीवनीपरक उपन्यास घोषित करते है तो कुछ विद्वान इस उपन्यास-धारा की शुरूआत हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' से मानते है। परंतु वृंदावनलाल वर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास रानी लक्ष्मीबाई और बाणभट्ट के व्यक्तित्व मात्र पर ही केन्द्रित न होकर अपने आवरण में तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण के प्रति सजगता के कारण जीवनीपरक उपन्यास की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यास अधिक प्रतीत होता है। इस दृष्टि से जीवनीपरक उपन्यास लेखन के क्षेत्र में डॉ0 रांगेय राघव, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतलाल नागर, वीरेन्द्र कुमार जैन, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, गिरिराज किशोर, भगवान सिंह, संजीव, सुधाकर अदीब, नरेन्द्र कोहली आदि कथाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

जीवनीपरक उपन्यास हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में रांगेय राघव की मौलिक प्रस्तुति है। रांगेय राघव ने भारतीय इतिहास की संस्कृति के युग निर्माता महापुरुषों संतों, एवं हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठतम कवियो के व्यक्तित्व को केन्द्र में रखकर जीवनीपरक उपन्यासों का समृद्ध भंडार हिन्दी उपन्यास जगत को प्रदान किया। कृष्ण, बुद्ध, कबीर, तुलसी, भारतेंदु, बिहारी, गोरखनाथ विद्यापति, जैसे कई ऐतिहासिक एवं साहित्यिक चरित्रों को माध्यम बनाकर इन्होंने इस देश के इतिहास के उन-उन पड़ावों का आलेखन किया जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक धारा को विस्तृत एवं निश्चित दिशा देने का कार्य किया है।

रांगेय राघव का पहला जीवनीपरक उपन्यास 'देवकी का बेटा' है जो कृष्ण के जीवन-चरित को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास के कथानक का आधार श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण चरित तथा कृष्ण संबंधी अन्य पौराणिक आख्यान है। यह उपन्यास उन परिस्थितियों का भी संकेत करता है, जब त्रेता के राम के बाद कृष्ण के प्रादुर्भाव के काल तक समाज अपने अंतर्विरोधों के कारण जर्जर हो चला था। उपन्यास में पूरी तरह कृष्ण के चरित्र के प्रति लेखक का अपना दृष्टिकोण है-''मैंने कृष्ण चरित्र को चमत्कारों

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

से अलग करके देखा। धर्ममूढ़ लोग शायद इसे नहीं समझ सकेगें उनसे मैं क्षमा चाहता हूँ परंतु वैसे जो महानता कृष्ण के मनुष्य रूप में प्रकट होती है, वह वैसे नहीं मिलती। चमत्कारों से सत्य डूब जाता है।''[3]

इस उपन्यास में लेखक ने कृष्ण के देवत्व युक्त परम्परागत चरित्र को बिलकुल नये ढंग से चमत्कारों से परे रखकर कृष्ण को एक मेधावी तथा जननायक युवा के रूप में प्रस्तुत किया हैं।

रांगेय राघव का दूसरा महत्वपूर्ण जीवनीपरक उपन्यास 'यशोधरा जीत गई' है जिसमें महात्मा बुद्ध का जीवन चरित वर्णित है। उपन्यास के कथानक को तीन भागों में विभक्त किया गया है- ''प्रथमा' जिसमें सिद्धार्थ के जीवन एवं तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन है। 'मध्यमा मे सिद्धार्थ का भोग-विलास के प्रति उदासीनता, पुत्र का जन्म गृहत्याग एवं गौतम की साधना संबंधी घटनाओं का आकलन है।' 'उत्तरा' में यशोधरा का विद्रोह मुख्य रूप से अंकित है, जो इस उपन्यास का मुख्य बिन्दु है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी देन यशोधरा का अद्भुत चरित्र है। सिद्धार्थ के भिक्षु हो जाने के पश्चात् विद्रोहिनी यशोधरा पुरुष वर्ग के मिथ्याभियान एवं दम्भ पर गहरा आघात करती है ''यशोधरा दया नहीं अधिकार चाहती थी, करूणा नहीं सहयोग चाहती थी।''[4]

इस जीवनीपरक उपन्यास में यशोधरा नारी की गरिमा और अधिकार को वाणी देती है। यशोधरा की दृष्टि में पलायन अधर्म है।

संत कबीर के जीवन पर आधारित 'लोई का ताना' उपन्यास अपने शीर्षक से ही व्यंजित करता है कि रांगेय राघव ने जुलाहे के रूप में लोई के बनाये ताने पर कबीर रूपी चरित्र का बाना गढ़ा है। उपन्यास में सर्वत्र कबीर के जीवन का फक्ड़पन एवं उनका अक्खड़ स्वभाव व्यक्त हुआ है। उपन्यासकार ने इस महान कवि को एक लोकनायक तथा पीड़ित मानवता के उद्धारक के रूप में चित्रित किया है। कबीर के लिए लोई का ताना ही प्रेरणा स्रोत था, जो प्रेम कर्तव्य को संतुलित बनाता था।

रांगेय राघव का चौथा महत्वपूर्ण उपन्यास 'रत्ना की बात' है। यह उपन्यास गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व पर आधारित है। महाकवि तुलसीदास के जीवन के विविध पक्षों को उजागर करता यह उपन्यास रत्नावली के चरित्र को भी प्रस्तुत करता है। काशी के गंगातट पर मरणासन्न तुलसी के आँखों में उनके जीवन का बचपन से लेकर अब तक का प्रत्येक अध्याय खुलने लगा और उस कष्टप्रद अवस्था में अपने सम्पूर्ण संघर्षमय जीवन को देखने लगे, तुलसीदास के आत्म स्मरण में ही उपन्यास का संपूर्ण कथानक तुलसी के पूरे चरित्र को संजोये हुए व्यक्त होता है।

आधुनिक काल में हिन्दी के उन्नायक कवि और लेखक भारतेदुं हरिश्चंद्र के जीवन पर केंद्रित 'भारती का सपूत' उपन्यास में रांगेय राघव ने भारतेंदु की असाधारण प्रतिभा तथा उनके अक्खड़, निर्भीक एवं स्वाभिमानी व्यक्तित्व का चित्रण किया है। भारतेन्दु की साहित्य-साधना के वैशिष्ट्य की ओर संकेत करके लेखक कहता है- ''भारतेंदु के समय भारत जैसे एक नई लड़ाई के लिए तैयारी कर रहा था। वे उस नये युग के अगुआ थे। अपने युग के बंधनों के बावजूद वे कला और साहित्य का नाता, सीधा जनजीवन से जोड़ना चाहते थे।''[5]

मैथिल कोकिल कवि विद्यापति के जीवन चरित पर आधारित उपन्यास 'लखिमा की आँखे' एक ब्राह्मण यात्री की स्मृतियों पर आधारित है। विद्यापति का संबंध मिथिला के शासकों से अधिक रहा है। विद्यापति राजा शिवसिंह और कीर्तिसिंह के अधिक निकट थे। विद्यापति का व्यक्तित्व बहुमुखी था। इनमें पाण्डित्य, कला, रसिकता और भावुकता का अद्भुत सामंजस्य था। ये उपन्यास विद्यापति के गीतों के सौष्ठव को रेखांकित करता है।

रांगेय राघव का 'धूनी का धुँआ' उपन्यास नाथ-सम्प्रदाय के प्रवर्तक महानयोगी गोरखनाथ के व्यक्तित्व पर आधारित है। इस जीवनीपरक उपन्यास में लेखक ने गोरखनाथ द्वारा किये गये चमत्कारों का भी वर्णन किया है। कथानक की दृष्टि से इस उपन्यास की महता इस बात में निहित है कि लेखक ने नायक के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को चुना है, जिसके जीवन में प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण घटनाओं की कमी नहीं रही।

'मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरी सोय' दोहे के माध्यम से राधा के आराधक रीतिकालीन कवि बिहारी के जीवन पर लिखा उपन्यास 'मेरी भव बाधा हरो' रांगेय राघव का महत्वपूर्ण उपन्यास है। उपन्यास में बिहारी का चरित्र स्वभिमान एवं पाण्डित्य के संस्कारों से युक्त है।

रांगेय राघव का 'आँधी की नीवें' उपन्यास महाराणा प्रताप के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में महाराणा प्रताप के जीवन संघर्ष, शौर्य एवं पराक्रम की कथा है।

रांगेय राघव के बाद अमृतलाल नागर महाकवि तुलसीदास और सूरदास के जीवन पर आधारित उपन्यास 'मानस का हंस' और 'खंजन नयन' लिखकर जीवनीपरक उपन्यासों की परम्परा को प्रशस्त करते हैं।

अमृतलाल नागर के 'मानस का हंस' उपन्यास में गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी और व्यक्तित्व को आधर बनाकर उपन्यास-रचना का प्रयास किया गया है। मानस का हंस गोस्वामी तुलसीदास की कल्पित, किंतु यथार्थ, जीवनी ही नहीं, अपने समय का सांस्कृतिक इतिहास भी है। अमृतलाल नागर ने इस उपन्यास में एक ओर तो तत्कालीन युग-जीवन की ऐतिहासिक सांस्कृतिक पीठिका प्रस्तुत की है, दूसरी ओर तुलसी के व्यक्तित्व का संघटन करने वाली मानसिक भूमिकाओं को उभारने की कोशिश की है। व्यक्तिवाद के आंतरिक उन्नयन के स्तर पर तुलसीदास काम और राम के बीच संघर्ष की स्थिति से गुजरकर काम का अतिक्रमण करते हैं और लोक-कल्याण में प्रवृत होते है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पीठिका

को दृष्टि में रखकर देखा जाये तो वे अंधविश्वासों, रूढ़ियों, भेदों-प्रभेदों से ऊपर उठकर एक जन-नेता का रूप ले लेते हैं और अन्याय का विरोध करते हैं। 'मानस का हंस' तत्कालीन परिवेश के जीवंत चित्रण के माध्यम से आज के परिवेश को भी उजागर करता है। इस उपन्यास में परिवेशगत यथार्थ को तुलसी की जीवन प्रक्रिया के साथ इतनी कुशलता से बुना गया है कि तुलसी का जनसंघर्ष और परिवेशगत कुरूपता तथा उससे तुलसी की टकराहट एक ही व्यक्तित्व के अंतर्गत समाविष्ट हो गए।''[6]

नागर जी का दूसरा जीवनीपरक उपन्यास 'खंजन नयन' है जो महाकवि सूरदास के जीवनवृत को आधार बनाकर लिखा गया है। जिसमें सूरदास के भक्त और कवि व्यक्तित्व को उभारा गया है। इस उपन्यास में अंधे कृष्णभक्त कवि सूरदास की तमाम मानसिक और शारीरिक वृतियों का सूक्ष्म अंकन हुआ है। नागर जी ने सूरदास को अलौकिकता से लौकिकता के धरातल पर सामान्य मनुष्य के समानान्तर प्रतिष्ठित किया है। अंधे कवि की बाह्य और आंतरिक छटपटाहट, जिज्ञासा की प्रवृत्ति और जिजीविषा को बड़ी ही बारीकी से उद्घाटित किया गया है। पूरा उपन्यास सिंकदर लोदी के आक्रमण और आगरा में राजधानी बनाने की उथल-पुथल के साथ सूरदास के विकास को चित्रित करता है।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय द्वारा लिखित जीवनीपरक उपन्यास 'जोगी मत जा' भर्तृहरि के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। भर्तृहरि का चरित्र इतिहास और मिथक दोनों है। उनमें दर्शन और अध्यात्म के सूत्रों के समावेश की संभावनाएँ हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध और अधोगामी प्रवृत्तियों के ऊर्ध्वीकरण की साधना भी उनके चरित्र की विशेषताएँ है। श्रृंगार और वैराग्य का द्वन्द्व भर्तृहरि के व्यक्तित्व को गत्यात्मक बनाता है। स्वयं लेखक के शब्दों में ''वह मनुष्य मात्र के मन और मूल्य, प्रवृत्ति और निवृत्ति में नाटकीय द्वन्द्व का प्रतीक बन गया है।''[7]

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का दूसरा महत्वपूर्ण जीवनीपरक उपन्यास 'विश्वबाहु परशुराम' है। यह उपन्यास जमदग्निपुत्र महर्षि परशुराम के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस जीवनीपरक उपन्यास में परशुराम को ऐसे युग-पुरूष के रूप में चित्रित किया गया है, जो अनार्यों से आक्रांत आर्य संस्कृति की रक्षा के लिए पूरी तरह समर्पित हैं लेखक ने परम्परा से हटकर परशुराम को एक विवेकशील, दार्शनिक, सत्यनिष्ठ, न्यायप्रिय, कोमल-हृदय-प्रज्ञा-पुरूष के रूप में चित्रित करके अपनी मौलिक रचनाशक्ति का परिचय दिया है। लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि आज की पूरी व्यवस्था कंस की राज्य व्यवस्था जैसी है। आज के पूँजीवादी उपभोक्तावादी समाज में पदार्थीकरण, अमानवीकरण, आपाधापी और अधः पतन को देखकर लेखक का ध्यान उन महिमामय विभूतियों की ओर आकृष्ट हुआ है, जिन्होंने अपने समय में अधोगामी प्रवृत्तियों से संघर्ष करके मानव मूल्यों को सुरक्षित रखा था।[8]

संजीव द्वारा रचित जीवनीपरक उपन्यास 'सूत्रधार' है। इस उपन्यास में भोजपुरी गीत-संगीत और लोकनाट्य के अनूठे सूत्रधार भिखारी ठाकुर का जीवन चरित वर्णित है। जीवनीपरक होने पर भी यह उपन्यास आज के लोक-जीवन की बहुविध विडम्बनाओं और उनके भीतर से गुजरते हुए एक संवेदनशील रचनाकर के बहुस्तरीय जीवन-संघर्ष को मूर्त करने में सफल सिद्ध हुआ है।

भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा लिखित जीवनीपरक उपन्यास 'अंतिम अध्याय' हिन्दी के प्रख्यात लेखक और प्रकाशक उपेन्द्रनाथ अश्क के जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास में प्रकाशन जगत में फैले भ्रष्टाचार का चित्रण हुआ है। यह उपन्यास एक साद्देश्यपूर्ण कथाकार की निरूद्देश्यपूर्ण कृति है।

वीरेन्द्र कुमार जैन का महत्वपूर्ण जीवनीपरक उपन्यास 'अनुत्तरयोगी' है। महावीर स्वामी के जीवन पर आधारित यह वृहद उपन्यास चार खण्डों में विभाजित है। हजारों वर्षों के भारतीय पुराण-इतिहास धर्म, संस्कृति, दर्शन, अध्यात्म का गंभीर एवं तलस्पर्शी मंथन करके वीरेन्द्र कुमार जैन ने यहा इतिहास के पट पर महावीर स्वामी को जीवंत और ज्वलंत रूप में अंकित किया है। पहली बार यहाँ शिशु, बालक, किशोर, युवा, तपस्वी, तीर्थंकर और दिक्काल विजेता योगीश्वर न केवल मनुष्य के रूप में बल्कि इतिहास-विधान के रूप में सांगोपोग अवतीर्ण हुए है। इस उपन्यास में महावीर स्वामी को उनके विविध रूपों में मानवीय बनाने का प्रयत्न किया गया है। वे चाहे विद्रोही राजकुमार हों चाहे योगी सर्वत्र मानवीय सुख-दुःख और सामाजिक चेतना से स्पंदित लगते हैं। वे सम्प्रदाय विशेष के अग्रपुरूष होकर भी उस सम्प्रदाय की उपन्यास-परिधि में नहीं अटते बल्कि सामान्य मानवीय भूमि पर खड़े दिखाई पड़ते है।[9] भगवान सिंह द्वारा लिखित जीवनीपरक उपन्यास 'महाभिषग' महात्मा बुद्ध के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में महात्मा बुद्ध को एक महापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। इस औपन्यासिक जीवनी में महात्मा बुद्ध के चरित वर्णन में भगवान सिंह को विशेष सफलता नहीं मिली है।

गाँधी जी के जीवन पर 'पहला गिरमिटिया' उपन्यास लिखकर गिरिराज किशोर जीवनीपरक उपन्यास लेखन के क्षेत्र में एक नया आयाम देते है। इस उपन्यास का कथा बिन्दु महात्मा गाँधी के दक्षिण अफ्रीका के जीवन संघर्ष पर केंद्रित है। महात्मा गाँधी आज के इतिहास पुरूष भी हैं और जननायक 'राष्ट्रपिता' भी। उपन्यास का गाँधी, इतिहास का गाँधी होते हुए भी गिरिराज किशोर के विजन का गाँधी है, जो भारत का 'पहला गिरिमिटिया' है। यह उस मोहनदास गाँधी की कथा है, जिसने दक्षिण अफ्रीका के गिरमिटियों की नियति से अपने को एक कर लिया है। ''गिरमिट पर अँगूठा लगा और लगाने वाला आदमी से गिरमिटिया बन गया। गिरिमिटिया का मतलब काम और गुलामी, राशन शुरू। काम और गुलामी ज्यादा, राशन कम।''[10] उपन्यासकार की दृष्टि में गाँधी जी के राजनीतिक व्यक्तित्व से अधिक उल्लेखनीय उनका निजी व्यक्तित्व

है, जो उनके परिवार और परिजनों के संदर्भ में उभरता है। गाँधी जी का संपूर्ण जीवन पीड़ित मानवता को समर्पित था। गाँधी जी की पत्नी कस्तूरबा और उनके बच्चों को न चाहकर भी उनके महायज्ञ की समिधा बनना पड़ा था। गिरिराज किशोर ने कस्तूरबा की पीड़ा तथा पति और पिता के रूप में गाँधी जी के कठोर, संवेदनाशून्य, अनुशासनात्मक पक्ष का अंकन बड़े सधे हाथों से किया है। दाम्पत्य जीवन के सपनों को संजोती स्त्री के रूप में कस्तूरबा की पीड़ा और अनुशासन में बंधे युद्धरत गाँधी का आत्मसंघर्ष बड़ा ही करूण है।

महात्मा गाँधी को लेकर एक बड़ा और चर्चित उपन्यास लिख चुके गिरिराज किशोर अपने दूसरे जीवनीपरक उपन्यास 'बा' में कस्तूरबा गाँधी के जीवन और उनके संघर्ष को केन्द्र में रखकर इस उपन्यास की रचना करते है। इस उपन्यास में गाँधी जैसे व्यक्तित्व की पत्नी के रूप में एक स्त्री का स्वयं अपने और साथ ही देश की आजादी के आंदोलन से जुड़ा दोहरा संघर्ष दर्शाया गया है।

ऐसे दस्तावेज बहुत कम है जिनमें कस्तूरबा के निजी जीवन या उनकी व्यक्ति रूप में पहचान का रेखांकित किया जा चुका हो। नहीं के बराबर।

इस जीवनीपरक उपन्यास से गुजरने के बाद हम उस स्त्री (कस्तूरबा) को एक व्यक्तित्व के रूप में पहचान सकेगें, जो बापू के 'बापू' बनने की ऐतिहासिक प्रक्रिया मे हमेशा एक खामोश ईंट की तरह नींव में बनी रही। और उस व्यक्तित्व को भी जिसने घर और देश की जिम्मेदारियों को एक धुरी पर साधा।

19वीं सदी के भारत में एक कम उम्र की लड़की का पत्नी रूप में होना और धीरे-धीरे पत्नी होकर सीखना, उस पद के साथ जुड़ी उसकी इच्छाएँ, कामनाएँ और फिर इतिहास के एक बड़े चक्र के फलस्वरूप एक ऐसे व्यक्ति की पत्नी के रूप में खुद को पाना जिसकी ऊँचाई उनके समकालीनों के लिए एक पहेली थी। यह यात्रा कई लोगों के हिस्से की थी। जिसे बा ने अकेले पूरा किया। यह उपन्यास इस यात्रा के हर पड़ाव को इतिहास की तरह रेखांकित भी करता है और कथा की तरह हमारी स्मृति का हिस्सा भी बनता है।

इस उपन्यास में हम बापू के भी एक भिन्न रूप से परिचित होते है। उनका पति और पिता का रूप। घर के भीतर वह व्यक्ति कैसा रहा होगा जिसे इतिहास ने पहले देश और फिर पूरे विश्व का मार्गदर्शक बनते देखा।

सुधाकर अदीब का उपन्यास 'रंगराची' मीरा के जीवन पर केंद्रित है। मीराबाई के बारे में सुधाकर अदीब लिखते है, मीरा को साधु-संतों, भक्तों और जनसाधारण में नारायण का वास दिखता था। वह एक ऐसी स्त्री थी जो कि एक राजकुल में जन्मी और दूसरे राजकुल में ब्याही गई। उन्होंने सामंती व्यवस्था का वैभव व तिरस्कार दोनों भोगा, सहा और उसे तृण सम त्याग दिया। कृष्ण तो स्वयं मीरा के भीतर समाये हुए थे। मीराबाई के जीवन संघर्ष को बयाँ करता यह जीवनीपरक उपन्यास तत्कालीन समय में समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता, स्त्रियों के निर्धारित दायरे और पुरुषवादी सामंती सोच पर गहरी चोट करता है।

जीवनीपरक उपन्यास लेखन के क्षेत्र में नरेन्द्र कोहली का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। नरेन्द्र कोहली ने स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित छः खण्डों की औपन्यासिक श्रृंखला 'तोड़ो कारा तोड़ो' निकालकर जीवनीपरक उपन्यास के क्षेत्र में मौलिक एवं अद्भुत रचनाशक्ति का परिचय दिया।

आधुनिक व्यक्तित्व को उपन्यास का नायक बनाने का प्रयास बहुत चुनौतीपूर्ण होता है। यह कार्य नरेन्द्र कोहली ने तोड़ो, कारा तोड़ो (प्रथम भाग निर्माण 1992, द्वितीय भाग साधना 1993, तृतीय भाग परिव्राजक 2003, चतुर्थ भाग निर्देश 2004, पंचम भाग संदेश 2009, षष्ठ भाग प्रसार) में संपन्न किया है। 'तोड़ो कारा तोड़ो' स्वामी विवेकानंद, की जीवनी पर आधारित एक उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसमें चरित-नायक के अंतर्द्वन्द्व, अदम्य आत्मविश्वास और लोकनिष्ठा की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। 'तोड़ो, कारा तोड़ो' उपन्यास में बालक नरेन्द्र से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक के जीवन एवं उनके संघर्ष को चित्रित किया गया है। एक रईस परिवार के विपदाग्रस्त और दाने-दाने को मोहताज बिलेह अथवा नरेन्द्र का युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द के रूप में संसार को मानवता का संदेश देना इस उपन्यास का चरम बिन्दु है।

नरेन्द्र अपने जीवन के समस्त बंधनों और सीमाओं के अतिक्रमण के लिए तो सार्थक संघर्ष करता ही है, साथ ही मानव समाज की प्रत्येक कारा (बंधन) को तोड़ने का भी सतत प्रयत्न करता है क्योंकि इसी में मानवता का हित संचित है। उपन्यास की मुख्य कथा नरेन्द्र के माध्यम से मानवता की स्थापना है जिसमें नरेन्द्र की करुणा, प्रेम, अंतर्द्वन्द्व, संघर्ष, त्याग, सेवा आदि रंग उभरकर आये है।

स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पर आधारित प्रथम मौलिक उपन्यास 'तोड़ो, कारा तोड़ो' की कथा को मूलतः चरित्रों के माध्यम से ही विकास और विस्तार मिला है। उपन्यास में मुख्य चरित्र स्वामी विवेकानन्द अर्थात् नरेन्द्र का है जो भारत के ही नहीं, विश्व के प्रसिद्धतम व्यक्तियों में से एक है। इस लोक विश्रुत चरित्र के चरित्रांकन में उपन्यासकार को अभीप्सित सफलता अर्जित हुई है, ''लेखक नरेन्द्र ने युगपुरूष नरेन्द्र को सही अर्थों में आत्मसात किया है।''[11]

'तोड़ा, कारा तोड़ो' के कथ्य का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 विवेकी राय ने इसे अध्यात्म, धर्म तथा ईश्वर की प्रौढ़ और प्रबल अनुभूति का तथा स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व प्रस्फुटन और परिपूर्णता का उपन्यास कहकर वंदित किया है।''

नरेन्द्र कोहली का स्वामी विवेकानंद के जीवन पर आधारित दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'न भूतो न भविष्यति' देश के इतिहास और संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ने वाले स्वामी विवेकानंद के

व्यक्तित्व और उस युग पर लिखा हुआ उपन्यास है। इस उपन्यास में नरेन्द्र कोहली ने स्वामी विवेकानंद के लक्ष्य, कर्म और उनके संघर्ष की कथा को प्रस्तुत किया है।

स्वामी विवेकानंद के जीवन पर आधारित नरेन्द्र कोहली का तीसरा उपन्यास 'स्वामी विवेकानंद' है। इस उपन्यास में लेखक ने नरेन्द्र के जीवन के सभी पहलुओं को बड़ी कुशलता से समेटा है। लेखक ने संस्कृत नाटकों अथवा महाकाव्यों वाली धीरोदात्त पद्धति की भाँति नरेन्द्र को जन्मतः महापुरुष नहीं माना अपितु उसका विकासमान रूप चित्रित किया है, 'धीरे-धीरे उसमें उन चारित्रिक गुणों का विकास किया है जो उसे महामानव की ओर ले गये थे।'

इन जीवनीपरक उपन्यासों के माध्यम से नरेन्द्र कोहली ने स्वामी विवेकानंद के व्यक्तित्व एवं जीवन संघर्ष की गाथा को महाकाव्यात्मक विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है।

जीवनीपरक उपन्यासों के लेखकों ने युग निर्माताओं को युग की सीमाओं के बीच देखते हुए मानवता के विकास में उनके साहित्यिक-सांस्कृतिक अवदानों का मौलिक मूल्यांकन किया है। इन जीवनीपरक उपन्यासों में तद्युगीन परिस्थितियाँ वर्णित महापुरुषों के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में सहायक सिद्ध हुई है। लेखकों की दृष्टि परिस्थितियों की अपेक्षा चरित्र पर अधिक है।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, आँचलिक उपन्यासों की भाँति जीवनीपरक उपन्यासों की भी एक स्वस्थ परम्परा चल रही है जो रांगेय राघव से लेकर नरेन्द्र कोहली तक विद्यमान है।

हिन्दी में जीवनीपरक उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है, पर जो हैं, वे भारतीय उपन्यास साहित्य में अपनी अलग पहचान रखते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. हिन्दी उपन्यास का इतिहास/प्रो0 गोपाल राय/राजकमल प्रकाशन छठा संस्करण 2016/पृ0सं0 454, 455
2. रांगेय राघव के उपन्यासों का शास्त्रीय अनुशीलन/डॉ0 लाल साहब सिंह/प्रकाशन-संजय बुक सेंटर/प्रथम संस्करण 1998/पृ0सं0 143
3. देवकी का बेटा की भूमिका से/डॉ0 रांगेय राघव/प्रकाशन विनोद पुस्तक मंदिर/ प्रथम संस्करण 1954
4. यशोधरा जीत गयी/डॉ0 रांगेय राघव/राजपाल एण्ड संस प्रकाशन/प्रथम संस्करण 1954/पृ0सं0 94
5. भारती का सपूत/डॉ0 रांगेय राघव/राजपाल एण्ड संस प्रकाशन/प्रथम संस्करण 1954/पृ0सं0 12
6. हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा/रामदरश मिश्र/राजकमल प्रकाशन/ द्वितीय संस्करण 1986/पृ0सं0 229,230
7. हिन्दी उपन्यास/डॉ0 रामचंद्र तिवारी/विश्वविद्यालय प्रकाशन/प्रथम संस्करण 2006/पृ0सं0 85
8. वही, पृ0सं0 86
9. हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा/रामदरश मिश्र/राजकमल प्रकाशन/द्वितीय संस्करण 1986/पृ0सं0 233
10. पहला गिरमिटिया/गिरिराज किशोर/भारतीय ज्ञानपीठ/प्रथम संस्करण 1996/पृ0सं0 12
11. डॉ0 विवेकी राय : गगनांचल/अप्रैल-जून 1996, पृ0सं0 13

●

भारतीय सांस्कृतिक चेतना के सार्वभौम आयाम और विश्वकवि तुलसीदास†

*प्रो0 श्रीनिवास पाण्डेय**

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन एवं विकासशील परम्परा से संयुक्त रही है। यह आस्तिक मूलक भावना एवं आध्यात्मिक चेतना से अनुप्राणित है। इसमें मनुष्य एवं समाज के सर्वांगीण विकास (लौकिक एवं पारलौकिक) तथा उसे सुसम्पन्न एवं सुसभ्य बनाने की प्रबल भावना समाहित है। भारतीय संस्कृति अपने मूल तत्व को सुरक्षित रखते हुए अत्यन्त उदार, समन्वयकारी, सहिष्णु एवं विकासमान परम्परा से संयुक्त है। इसमें जब कभी भी जड़ता के लक्षण दिखायी दिये तब कोई न कोई युगपुरूष अवतार लेकर उसकी जड़ता को दूर कर उसे पर्याप्त लचीला एवं विकासशील बनाया। इस दृष्टि से महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, आद्यशंकराचार्य, कबीर, रैदास, नानक, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, पं0 मदन मोहन मालवीय, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी एवं भीमराव अम्बेडकर आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतीय सांस्कृतिक चेतना के सार्वभौम आयाम हैं- विश्वबन्धुत्व की भावना, विश्व मंगल की कामना, मानव मात्र में प्रेम की प्रतिष्ठा, समाज में सत्य एवं न्याय की स्थापना, भय एवं आतंक से मुक्ति का आश्वासन, प्राणी मात्र के प्रति ममता एवं समत्व बुद्धि तथा स्वहित एवं परहित में उचित संतुलन की स्थापना आदि। सत्यम, शिवम् एवं सुंदरम् भारतीय सांस्कृतिक चेतना का मूल मंत्र है, जिसकी पराकाष्ठ तुलसी के श्रीराम में दिखाई पड़ती है। इस संदर्भ में 'बसुधैव कुटुम्बकम्' 'सत्यमेव जयते' 'सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया', एवं 'तमसोमाँज्योर्तिगमयः' जैसे सूत्र न केवल भारतीय सांस्कृतिक चेतना के मूल स्वर को रेखांकित करते हैं, अपितु वर्तमान परिवेश में इनकी अर्थवत्ता को और भी अधिक बढ़ा देते हैं।

वर्तमान वैश्विक परिवेश एवं राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रचार-प्रसार की महती आवश्यकता है। इस संदर्भ में महाकवि तुलसीदास की रचनायें अत्यन्त सार्थक हैं एवं उपयोगी हैं, क्योंकि उन्होंने भारतीय सांस्कृतिक चेतना के सार्वभौम आयामों को अत्यन्त सहज, सरल, मनोहर एवं मार्मिक ढंग से चित्रित किया है, जिसे सामान्य पाठक भी आसानी से हृदयंगम कर लेता है। समाज में फैली हुई हिंसा एवं आतंक, भय एवं असुरक्षा की भावना, अनैतिकता एवं भ्रष्टाचार, धन की लोलुपता एवं भोगवादी प्रवृत्ति, संकीर्ण सोच एवं आत्मकेन्द्रित मनोवृत्ति, आसुरी वृत्तियाँ एवं पशुता की भावना तथा खलों की खलता एवं दुष्टजनों की दुष्टता का कुफल दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। इस भयावह माहौल एवं त्रासद परिस्थितियों से मुक्ति दिलाने में, विश्व कल्याण की भावना से रची गयी महाकवि तुलसीदास की रचनायें आज भी हमारे लिए अजस्र प्रेरणास्रोत हैं, जिनसे आलोक ग्रहण कर वर्तमान परिवेश की अनेक भयावह परिस्थितियों से मुक्ति पायी जा सकती है।

तुलसी के श्रीराम उदात्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना की सक्षात् मूर्ति हैं। उनका अवतार संसार में व्याप्त अमंगल को दूर कर सम्पूर्ण जगत में मंगल की स्थापना करने हेतु हुआ था। वे सत्य प्रतिज्ञ एवं श्रुतियों की मर्यादाओं के रक्षक थे। उनके सच्चे भक्त सम्पूर्ण चराचर जगत में अपने प्रभु की ही छवि देखते हैं और सम्पूर्ण जगत को अपने स्वामी का रूप समझ कर सच्चे मन से उसकी सेवा करने को तत्पर रहते हैं और उसे ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। तुलसी के श्रीराम को खिन्न, दुर्बल एवं पीड़ित व्यक्ति अत्यन्त प्रिय हैं। राम को धन, बल, पौरूष, चतुराई से नहीं अपितु सच्चे प्रेम से पाया जा सकता है। तुलसी की रचनायें शास्त्र सम्मत एवं लोकव्यवहार के अनुकूल है। तुलसीदास विश्व के एक मात्र ऐसे कवि हैं जिन्हें सामान्य जन एवं निरक्षर व्यक्ति भी आसानी से ग्रहण कर सकता है और बड़ा से बड़ा विद्वान भी उनकी पक्तियों के अर्थ गाम्भीर्य की थाह नही पा सकता; अर्थात तुलसी का सहित्य जन साहित्य (मास लिटरेचर) एवं अभिजात्य साहित्य (क्लैसिकल लिटरेचर) दोनों कसौटियों पर खरा सिद्ध होता है।

कालजयी रचनाकार सच्चे अर्थो में विश्वकवि होते हैं। तुलसीदास की रचनाओं से आकृष्ट होकर न केवल देश के अपितु विदेश के भी अनेक विद्वान इनकी रचनाओं का गम्भीर अध्ययन करते हैं और अनेक सार्थक निष्कर्ष निकालते हैं, जिनका सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महत्व है। इन विद्वानों में होरेस विल्सन, गार्साद तासी, फ्रेडरिक समन ग्राउस, अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन, फादर कामिल बुल्के, एवं प्रो0 चिन तिङ्ग आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम है होरेस विलसन का जिन्होंने 'दि रिलिजंस सेक्ट्स आफ हिन्दूज' नामक लेख लिखा, जो एशियाटिक रिसर्चेस में 1828 एवं 1832 ई0 में प्रकाशित हुआ।

---

* सम्पादक, प्रज्ञा जर्नल, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

† यह शोध प्रपत्र मारीशस में आयोजित ग्यारहवें विश्व हिंदी सम्मेलन (18-20 अगस्त 2018) के 'साहित्य एवं संस्कृति' नामक सत्र में 19 अगस्त 2018 को पढ़ा गया था।

तत्पश्चात फ्रांसीसी विद्वान गार्सा द तासी ने फ्रेंच भाषा में 'श्रीरामचरितमानस' के महत्व के बारे में 'इस्तवार दल लितेरत्युर ऐंदई ऐ हिन्दुस्तानी' (1839 ई0) में लिखा। इस क्रम में अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान फ्रेडरिक सालमान ग्राउस का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने 07 वर्षो के अथक परिश्रम द्वारा 700 पृष्ठों में 'श्रीरामचरितमानस' का अंग्रेजी भाषा में 'रामायण आफ तुलसीदास' शीर्षक से अनुवाद किया, 1871 से 1978 के बीच। इनके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष का विश्वव्यापी महत्व है **'मानस काव्य मानव जाति के सामान्य जीवन का विश्वसनीय पथ प्रदर्शक है'।**[1]

तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' को सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठा दिलाने की दृष्टि से आब्राहम जार्ज ग्रियर्सन का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने अत्यन्त साहसपूर्वक घोषणा की ''पिछले तीन सौ वर्षो से हिन्दू समाज के जीवन, आचरण और कथन में यह घुल मिल गया है। **अंग्रेज पादरियों द्वारा बाइबिल जितनी भगवत् प्रेरित मानी जाती है, उतनी ही भगवत्प्रेरित तुलसीदास कृत रामायण है।''**[2] प्रसिद्ध रूसी विद्वान अलेक्सेई वारान्निकोव ने 'श्रीरामचरितमानस' का कठिन परिश्रम करके रसियन भाषा में काव्यनुवाद किया। उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्ष अत्यन्त सार्थक हैं **''रामचरितमानस उस साहित्यिक स्मारक की तरह है जो दूसरों की भलाई के लिए मानव को सच्चा मानव बनाने की युगों-युगों तक प्रेरणा देने की क्षमता रखता है।''**[3] रूस में गेन्नादी मिरवाअलोविदा पिचनिकोय रामलीला का प्रशिक्षण देते हैं।

'श्रीरामचरितमानस' को विश्वव्यापी एवं अन्तरराष्ट्रीय महत्व दिलाने की दृष्टि से वेल्जियम निवासी फादर कामिल बुल्के का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। उन्होंने 'श्रीरामचरितमानस' की एक पंक्ति **('धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू')** से प्रभावित होकर अपना देश छोड़कर भारत निवासी हो गये और अपना समपूर्ण जीवन तुलसीदास के साहित्य के अध्ययन, अध्यापन एवं अनुसंधान में लगा दिया। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'राम कथा की उत्पत्ति और विकास' का तुलसीदास को अन्तरराट्रीय पटल पर स्थापित करने में अविस्मरणीय योगदान है। उनका यह निष्कर्ष आज भी अत्यन्त प्रासंगिक एवं सार्थक है – **''तुलसी दास अपने जीवन काल से ऊपर उठकर एक गंभीर तथा एकात्मक विश्वदर्शन को दृष्टान्तपूर्वक प्रस्तुत करते हैं।''**[4] इस संदर्भ में चीनी विद्वान प्रो0 चिन तिङ्ग का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने फासमान छंद में पद्य बद्ध शैली में 'श्रीरामचरितमानस' का अनुवाद किया। यह सर्वविदित है कि भारत से अनेक लोग गिरमिटिया मजदूर के रूप में मारीशस, फिजी, सूरीनाम, ट्रीनिडाड एवं दक्षिण अफ्रिका आदि देशों में गये। उन लोगों के लिए श्रीरामचरितमानस अक्षय प्रेरणास्रोत एवं अपरिमित सम्बल प्रदान करने वाला ग्रंथ रहा। इन देशों के प्रवासी भारतीय बन्धुओं ने श्रीराम के वनवास प्रसंग, उनके त्याग, धैर्य, संयम एवं पराक्रम तथा हनुमान जी की शक्ति से पर्याप्त ऊर्जा एवं शक्ति प्राप्त की।

तुलसीदास के राम संसार के कण-कण में व्याप्त हैं। सच्चे भक्त को संसार के प्राणीमात्र में ईश्वर के दर्शन होते हैं। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी, जीव-जन्तु यहाँ तक कि वनस्पतियों, वृक्षों, पहाड़ों, नदियों, तालाबों एवं सरोवरों आदि में सर्वत्र इनके आराध्य विराजमान हैं। तुलसीदास के लिए जड़चेतना से युक्त सम्पूर्ण विश्व प्रणम्य है। ऐसे उदार एवं व्यापक दृष्टि के प्रचार-प्रसार की आज महती आवश्यकता है-

'' जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि
बँदउ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।''[5]

वे जानते हैं कि राम ब्रह्म के अवतार हैं, वे सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापक हैं। श्री राम चेतन स्वरूप, सत्य की प्रतिमूर्ति एवं आनन्द के खान हैं-

''व्यापक एक ब्रह्म अविनासी/सत चेतन घन आनंद रासी''[6]

जब सभी प्राणियों, मनुष्यों में ईश्वर का वास है, सभी लोग उसी एक परम सत्ता के संतान हैं, तब पारस्परिक बैर भाव के लिए स्थान कहाँ है? सभी में भातृत्व की भावना एवं प्रेम का संचार होना चाहिए। यह कथन आज के हिंसा, आतंक एवं युद्ध की भयावह स्थितियों में कितना सार्थक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। विश्वशांति एवं जग मंगल के संदर्भ में तुलसीदास का निम्न कथन अत्यन्त उपयोगी एवं सार्थक है-

''उमा जे राम चरन रत विगत काम मद क्रोध
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध''।

संम्पूर्ण संसार को प्रभुमय देखने वाला व्यक्ति निष्काम भाव से जगत के सभी प्राणियों की सेवा करने को ही अपना परम धर्म समझता है। चराचर जगत को अपने प्रभु का स्वरूप समझने से सर्वत्र वैर भाव तिरोहित हो जायेगा। मैत्री एवं बन्धुत्व का भी प्रचार-प्रसार सारे संसार में दिखायी देगा-

''सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवन्त।।''[8]

'रामचरित मानस' की अनेक पंक्तियाँ विश्व के राजनैतिक परिदृश्य में अत्यन्त उपयोगी है। अनेक देश के तानाशाह शासक अपनी जनता को तरह-तरह से पीड़ित एवं शोषित करते हैं। उनके देश की जनता भूख, भय, प्यास, रोग एवं शोषण से त्रस्त हैं। उनके लिए तुलसीदास का निम्न कथन अत्यन्त उपयोगी है-

''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। से नृप अवसि नरक अधिकारी।[9]

नैतिकता विहीन राजनीति एवं सिद्धान्त से रहित शासक जनता का हित नहीं कर सकते, इसलिए शासक को नैतिक मूल्यों

के प्रति सजग होना पड़ेगा तभी वह अपनी प्रजा का कल्याण कर सकेगा-

''सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।।[10]

तुलसीदास ने धर्म की कालजयी अवधारणा एवं विश्वव्यापी भावना को अत्यन्त संक्षेप एवं अति सरल ढंग से व्यक्त किया है-

''परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अघ माई।।''

तुलसीदास ने सच्चे मित्र की सार्वभौम परिभाषा दी है, जिसका देशकालातीत महत्व है।

''जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि विलोकत पातक भारी।।''

''निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरू समाना''[12]

उपर्युक्त पंक्तियों के आलोक में समाज, देश एवं सम्पूर्ण विश्व में सुख, शान्ति एवं मैत्री भाव की स्थापना की जा सकती है।

समग्रतः विश्व के महान कालजयी रचनाकारों का महत्व देश कालातीत होता है। ऐसे महान कवि यद्यपि किसी काल विशेष एवं देश विशेष में पैदा होते हैं और उनकी रचनायें भी खास समय में लिखी जाती हैं। अतः स्वभाविक है कि उनकी रचनाओं में उनके देश की संस्कृति, सभ्यता एवं चिंतन प्रतिविम्बित होगा लेकिन जब वे समाधिस्थ अवस्था में अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा रचना कर्म में प्रवृत्त होते हैं तब उनकी कारयित्री प्रतिभा सार्वभौम एवं मनुष्य मात्र की भावनाओं को व्यक्त करती है। वे ऐसे रचनात्मक क्षणों में ऐसी उदात्त भावना एवं उर्ध्व चेतना से सम्पन्न हो जाते हैं कि वे वर्तमान की सीमा को पार करके सुदूर भविष्य के लिए भी कुछ न कुछ मूल्यवान सूत्र दे जाते हैं। भावी पीढ़ियों का दायित्व है कि वे अपने बदले परिवेश एवं नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में उनका आकलन करें और उनमें नीहित जीवन्त एवं सार्थक तत्वों का अनुसंधान कर उनका युगानुरूप उचित प्रतिपादन करें। ऐसे महान विश्वकवियों में होमर, शेक्सपियर, टालस्टाय, महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास एवं तुलसीदास आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों ने सम्पूर्ण मानव जीवन की विविध छवियों एवं समाज की अनेक घटनाओं का सम्यक एवं प्रभावशाली चित्रण किया है। ऐसे रचनाकारों का महत्व युगों-युगों तक बना रहेगा।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. 'आजकल' पत्रिका, 2012, जुलाई अंक, पृ0 16
2. 'तुलसी दास : एक पुनर्मूल्यांकन' सम्पादक अजय तिवारी, आधार प्रकाशन, पंजकूला, हरियाणा, संस्करण 2011, पृ0 255
3. 'कल्याण' श्रीराम विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् 1994, पृ0 392-93
4. 'आजकल' 2012, पृ0 17
5. 'श्रीरामचरितमानस' गीता प्रेस, गोरखपुर, बालकाण्ड दोहा 7 (ग)
6. 'श्रीरामचरितमानस', बालकाण्ड दोहा 22/6
7. वही, उत्तर काण्ड, दोहा 113 (ख)
8. वही, किष्किन्धा काण्ड, दोहा 6
9. वही, अयोध्याकाण्ड, दोहा 70/3
10. वही, दोहा 172/4
11. वही, उत्तर काण्ड, दोहा 40/1
12. वही, किष्किन्धा काण्ड, दोहा 7/1,2

●

दुराय नैना बनाए बतियाँ : अमीर खुसरो का काव्य

डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी[*]

अबुल हसन यामीनुद्दीन 'अमीर खुसरो' की गणना हिन्दी खड़ीबोली के प्रारम्भिक प्रयोक्ता के रूप में की जाती है। इनकी जन्मतिथि के विषय में मतभेद है। कुछ ग्रंथों में 1253 ई0 तो कुछेक ग्रंथों में 1254 ई0 या 1255 ई0 भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि खुसरो साहब का जन्म ईस्वी सन् 1253 से 1255 के बीच हुआ होगा। हिन्दी में इनकी रचनाओं का सर्वप्रथम संकलन-सम्पादन करने वाले मनीषी श्री ब्रजरत्नदास ने 1255 ई0 को ही खुसरो की जन्मतिथि स्वीकार किया है। तेरहवीं शताब्दी में जब दिल्ली पर गुलाम वंश का शासन था, लाचन जाति के तुर्क, खुसरो के पिता सैफुद्दीन महमूद, बलख हजारा (बैक्ट्रिया) से भागकर भारत आ गये तथा एटा जिले के पटियाली नामक ग्राम में गंगा-किनारे रहने लगे, वहीं पर कुछ समयांतराल बाद इनके घर में तीसरी संतान के रूप में अबुल हसन अर्थात् अमीर खुसरो का जन्म हुआ। बालक को कपड़े में लपेटकर पिता सैफुद्दीन जब एक दिन एक खुदा रसीदा बुजुर्ग (सूफ़ीसंत) के पास पहुँचे तो उसने बालक को देखते ही फरमाया- ''यह लड़का आरिफ बिल्लाह (ब्रह्मज्ञानी) और यागाना-ए-रोज़गार होगा। कयामत तक इसका नाम यादगार रहेगा और ख़ाकानी से दो क़दम आगे बढ़ जायेगा। उसके बाद दुआ दी कि अल्लाह इसको हरदिल अज़ीज़ (लोकप्रिय) करे।''[1]

'अमीर खुसरो' इनका वास्तविक नाम नहीं था। 'खुसरो' इनका उपनाम था और 'अमीर' का खिताब जलालुद्दीन ख़िलजी ने उनकी एक कविता पर प्रसन्न होकर उन्हें प्रदान किया था, तभी से अबुल हसन यामीनुद्दीन अमीर खुसरो के नाम से ख्यात हो गये। कालांतर में यह नाम इतना प्रसिद्ध हुआ कि इनका वास्तविक नाम भूल-सा गया। ''खड़ीबोली हिन्दी के प्रथम कवि अमीर ख़ुसरो में इतनी अद्भुत प्रतिभाएँ थीं जो बिरले ही लोगों में दिखाई देती हैं। जहाँ वे तुर्की, फारसी और अरबी के सिद्धहस्त कलमकार थे वहीं संगीत और बाह्यविद्या में निपुणता के साथ-साथ वे इतिहासकार राजनीतिज्ञ एवं शूरवीर भी थे।''[2] इसी प्रतिभा के कारण दिल्ली के बादशाहों द्वारा इन्हें समय-समय पर अनेक ख़िताब एवं जागीरें प्राप्त होती रहीं। इनके पिता स्वयं सम्राट इल्तुतमिश (अल्तमश) के यहाँ नौकरी करते थे और राज-परिवार में उनकी अच्छी पैठ थी। ख़ुसरो की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा दिल्ली में ही हुई। एक लड़ाई में पिता सैफुद्दीन की मृत्यु के बाद इनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी नाना इमादुल मुल्क ने उठायी। अमीर ख़ुसरो की खुशनसीबी थी कि उन्होंने कम उम्र में ही पीरोमुरशिद की कुरबत हासिल कर ली। इनके नाना का सूफ़ी संत हजरत निजामुद्दीन औलिया के यहाँ आना-जाना था, फलतः ख़ुसरो ने उनसे बहुत कुछ सीखा। अरबी और फारसी का ज्ञान प्राप्त कर ख़ुसरो ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

हजरत निजामुद्दीन औलिया से धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर ख़ुसरो ने अरबी-फारसी के अलावा हिन्दी, संस्कृत और तुर्की भाषाओं का भी गंभीरता से अध्ययन किया। उन्होंने इतिहास दर्शन, युद्ध-विद्या, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, संगीत, व्याकरण आदि का भी अध्ययन कर ज्ञान अर्जित किया, मुकम्मल तालीम हासिल की। एस.एस. गौतम ने लिखा कि- ''वे बाह्यसंगीत के कलाकार थे साथ ही साथ गायन में भी उन्होंने अद्भुत कुशलता प्राप्त की थी। उन्होंने अनेक राग-रागिनियों का आविष्कार किया। उन्होंने (हिन्दुस्तानी) 'वीणा' और (ईरानी) 'तम्बूरे' को मिलाकर एक तीन तारों का वाद्ययंत्र बनाया जिसका नाम 'सेहतार' रखा जो आगे चलकर 'सितार' के रूप में विख्यात हुआ।''[3] इतना ही नहीं, 'पखावज' को विभाजित कर उन्होंने तबला और ढोल का भी आविष्कार किया। इस प्रकार भारतीय और ईरानी संगीत को मिलाकर उन्होंने संगीत की एक नयी शैली विकसित की। भारतीय संगीत में ख़ुसरो ने एक और नयी चीज़ विकसित की जिसे ''कौव्वाल'' या ''कौव्वाली' के नाम से जाना जाता है। आज भी बड़े-बड़े कौव्वाल उन्हें अपना गुरु मानकर श्रद्धानत होते हैं।

अमीर ख़ुसरों में काव्य-प्रतिभा बचपन से ही विद्यमान थी वे लगभग 12 वर्ष की अवस्था में कविता करने लगे थे। ख़ुसरो ने अपनी पुस्तक 'तुहुफतुस्सग्र' की भूमिका में लिखा कि - ''ईश्वर की कृपा से मैं 12 वर्ष की अवस्था में शेर और रूबाई कहने लगा था, जिसे सुनकर विद्वान आश्चर्य करते थे और उनके आश्चर्य से मेरा उत्साह बढ़ता था। उस समय तक मुझे कोई काव्यगुरु नहीं मिला था जो कविता की उचित शिक्षा देकर मेरी लेखनी को बेचाल चलने से रोकता। मैं प्राचीन और नवीन कवियों के काव्यों का मनन करके उन्हीं से शिक्षा ग्रहण करता था।''[4] खुसरो में काव्य-प्रतिभा अद्वितीय थी, जिसके कारण दिल्ली के हर सुल्तान के वे चहेते बने रहे। उन्होंने अपने जीवनकाल में गयासुद्दीन बलबन से लेकर मुहम्मद तुगलक तक ग्यारह बादशाहों का ज़माना देखा था। इनमें सात बादशाहों के दरबार में वे स्वयं कई ओहदों पर रहे। लेकिन अपनी शख़सियत को कभी विवादास्पद नहीं होने दिया।

ख़ुसरो की यह विलक्षण प्रतिभा का जादू था कि 'रत्न' की भाँति हर बादशाह उन्हें अपने दरबार में रखकर वह स्वयं को

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कालेज, वाराणसी

गौरवान्वित महसूस करता था। अलाउद्दीन विशलू खाँ बारबक, जो दिल्ली का बादशाह था। ख़ुसरो की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें अपने यहाँ नौकरी पर रख लिया। एक दिन जब नासिरूद्दीन बुगरा खाँ उनके दरबार में आया तो खुसरो ने उनकी प्रसंशा में कसीदा पढ़ा। इससे वह अत्यन्त प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरुप ख़ुसरो को बहुत सारा धन-दौलत दिया, किन्तु विशलू खाँ बारबक इससे काफ़ी नाराज़ हो गया और खुसरो के लाख मनाने पर भी वह न माना। अंततः वे बुगरा खाँ के यहाँ चले गये। बुगरा खाँ ने उनका यथोचित सम्मान कर अपना खास साथी नियुक्त किया। कहते हैं कि जब लखनौती में विद्रोह हुआ तो बलबन ने बुगरा खाँ को उसे कुचलने के लिए भेजा जिसमें बुगरा खाँ की जीत हुई, दिल्ली में जश्न मनाया गया। कालांतर में बलबल के पुत्र सुल्तान मुहम्मद के भी साथ खुसरो बहुत दिनों तक जुड़े रहे। मुल्तान पर मंगोलों के आक्रमण के समय जब बादशाह उसे दबाने गये तो लड़ाई में ख़ुसरो भी साथ गये। इसमें बादशाह मारा गया और ख़ुसरो बंदी बना लिये गये। दो वर्ष तक बंदी रहने के पश्चात् अपनी वाक्पटुता, साहस और कौशल के कारण वे छुटकर गयासुद्दीन बलबन के दरबार दिल्ली आ गये। दरबार में आने के पश्चात् अमीर खुसरो ने उस युद्ध और मुहम्मद की मृत्यु पर अपना लिखा हुआ एक ऐसा कारुणिक मर्सिया पढ़ा कि जिसे सुनकर बलबन बहुत रोया। वह इतना रोया कि ज्वर से पीड़ित हो गया और तीसरे ही दिन उसकी मृत्यु हो गयी।

1290 ई0 में कैकुबाद (बुगरा खाँ के पुत्र) की मृत्यु के बाद दिल्ली में गुलाम वंश का अंत हो गया। कालांतर में अपने चाचा जलालुद्दीन की हत्या कर अलाउद्दीन खिलजी गद्दी पर बैठा। खुसरो ने उसके सम्मान में अनेक कसीदे और कविताएँ पढ़ीं। अलाउद्दीन ने भी उन्हें बहुत सारा धन-दौलत और सम्मान से नवाजा। ख़ुसरो के अंतिम आश्रयदाता गयासुद्दीन तुगलक थे जो अलाउद्दीन के मारे जाने पर गद्दी पर आसीन हुए। ख़ुसरो ने 'तुगलकनामा' इन्हीं की प्रसंशा में लिखा है। गयासुद्दीन ने जब बंगाल पर चढ़ाई की तो ख़ुसरो भी साथ गये। बंगाल-विजय के बाद गयासुद्दीन दिल्ली लौट आया, किन्तु ख़ुसरो कुछ समय के लिए अपने गाँव पटियाली चले गये। इसी दरम्यान उन्हें अपने गुरु हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया के मृत्यु की खबर मिली और ख़ुसरो ने बेचैन होकर दिल्ली के लिए कूच किया। गुरु की मृत्यु का समाचार सुनकर वे इतने दुःखी हुए कि उनकी कब्र के पास बैठकर विलख-विलखकर रोये और गमगीन मन से यह दोहा पढ़ा-

'गोरी सोये सेज पर मुख पर डाले केश।

चल ख़ुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देश॥''

कहते हैं कि इसके पश्चात् उन्होंने अपनी सारी दौलत यतीमों में लूटा दी और स्वयं गुरु की कब्र पर झाड़ू लगाने लगे। गुरु की मृत्यु के छः महीने बाद ही ख़ुसरो ने भी 1324 ई0 में इस फानी दुनिया को अलविदा कह दिया। उनकी इच्छानुसार उन्हें गुरु की कब्र के बगल में दफ़न कर दिया गया जहाँ आज भी दोनों की समाधियाँ मौजूद हैं। आदिल असीर देहलवी ने लिखा कि - ''अमीर खुसरो को अपने पीरो मुरशिद हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया से बेहद अकीदत और मुहब्बत थी। महबूबे इलाही हज़रत निजामुद्दीन औलिया भी ख़ुसरो को बहुत अज़ीज रखते थे। आपने अमीर ख़ुसरो की शायरी की तारीफ भी की है। अमीर ख़ुसरो ने अपने मुरशिद से अकीदत व मुहब्बत का इज़्हार अपनी फारसी और हिन्दवी शायरी में जगह-जगह निहायत शिद्दत के साथ किया है।''[5]

ख़ुसरो ऐसे खुशनसीब इंसान थे, जिनके दिन बादशाहों-सुल्तानों के दरबार में पूरे आलम और मस्ती के साथ गुजरते थे, तो रातें ख़ानक्वाहों में व्यतीत होती थीं। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा कि- ''ख़ुसरो ने अपनी आँखों से गुलामवंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन तथा तुगलक वंश का आरम्भ देखा। इनके समय में दिल्ली के तख्त पर 11 सुल्तान बैठे जिनमें सात की इन्होंने सेवा की थी। ये बड़े प्रसन्नचित्त, मिलनसार और उदार थे। .... सल्तनत के अमीर होने पर और कविसम्राट की पदवी मिलने पर भी ये अमीर और दरिद्र सभी से बराबर मिलते थे।''[6] उनके गंभीर अध्ययन, मनन-चिंतन और साझा संस्कृति वाले व्यक्तित्व के बारे में एस0एस0 गौतम ने लिखा कि- ''अमीर ख़ुसरो ने इस्लाम दर्शन, वेदांत दर्शन और बौद्ध दर्शन के गूढ़ विषयों का अध्ययन किया और उसे सरल भाषा में लोगों के सामने प्रस्तुत किया। उन्हें हिन्दू और मुसलमान समान रुप से प्यार करते थे। यही उनकी दार्शनिक समझ थी, जिससे उन्होंने सदियों से चली आ रही ऊँच-नीच, जात-पात के भेदभाव को मिटा दिया।''[7] खुसरो के व्यक्तित्व की एक विशेषता और थी कि उनके पूर्वज तुर्की के थे और वे बलख देश से भारत आये थे, लेकिन ख़सरो ने अपने को सदैव एक भारतीय ही माना। उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मानकर उसकी वंदना की है। उन्हें हिन्दुस्तानी होने का गर्व था और वे लोगों से कहते थे ''मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ और हिन्दवी में बात कर सकता हूँ।'' उनके एक-एक हर्फ में यहाँ की मिट्टी की खुशबू वास किया करती थी। हिन्दी-हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों से उनका रक्त का जुड़ाव था। यहाँ की हर चीज़ उन्हें बहुत प्यारी थी।

अमीर ख़ुसरो ने न केवल हिन्दी कविता वरन् हिन्दुस्तानी संगीत के लिए भी महान कार्य किया। उन्होंने यहाँ के संगीत को अरब के संगीत से श्रेष्ठ बताया। वे कहते थे, अरब के संगीत को जब रेगिस्तान के ऊँट सुनते हैं तो वे अपनी राह पर चलते जाते हैं लेकिन भारतीय संगीत ऐसा है, जिसे सुनाकर पशु-पक्षी भी अपनी सुध-बुध खो बैठते है। अमरता के लिए कुछ-न-कुछ विशिष्टता चाहिए और यह विशिष्टता खुसरो में विद्यमान थी, इसलिए वे आज भी अमर हैं और कायनात के कायम रहने तक अमर रहेंगे। ब्रजरत्नदासजी ने लिखा कि - ''इन्हीं में (अमर लोगों में) अमीर ख़ुसरो भी हैं कि जिनके शरीर को इस संसार से गये आज सात सौ

वर्ष हो गये पर वे अब भी जीवित हैं और बोलते-चालते हैं। इनके मुख से जो कुछ निकल गया वह संसार को भाया। इनके गीत पहेलियाँ आदि सात शताब्दी बीतने पर भी आज तक उसी प्रकार प्रचलित हैं।''[8]

ख़ुसरो अरबी-फारसी, तुर्की, संस्कृत और हिन्दवी (हिन्दी) के अच्छे जानकार थे, पर इन सबमें वे फारसी के प्रतिभाशाली कवि थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास-ग्रंथ में लिखा कि - ''ये फारसी के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे।.... इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता थी, यद्यपि कुछ रसीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे हैं।''[9] इसी प्रकार डॉ0 नगेन्द्र सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रंथ में कहा गया है कि ''जन-जीवन के साथ घुल-मिलकर काव्य-रचना करने वाले कवियों में खुसरो का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जनता के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी थीं। आदिकाल में खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं।''[10]

जहाँ तक अमीर ख़ुसरो के साहित्य-सृजन का प्रश्न है, उन्होंने फारसी और हिन्दी दोनों में बहुत अधिक लिखा है। इतिहासकार बरनी उनकी 100 से अधिक रचनाओं की बात करता है वहीं अमीनराजी 199 तथा नवाब इहास खाँ 45 ग्रंथों को ख़ुसरो-कृत मानते हैं जबकि डॉ0 वहीद मिर्जा ने केवल 21 ग्रंथों को ख़ुसरो की प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। श्री ब्रजरत्नदासजी ने उनकी कुल 22 रचनाओं का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं।

1. मसनवी किरानुस्सादैन, 2. मसनवी मतलउ अनवार, 3. मसनवी शोरों व खुसरू, 4. मसनवी लैली व मजनूँ, 5. मसनवी आइनैइस्कंदरी या सिकंदरनामा, 6. मसनवी हश्तबिहिश्त, 7. मसनवी खिज्रनामः या खिज्र खाँ देवलरानी या इश्किया, 8. मसनवी नूह सिपहर, 9. मसनवी तुगलकनामा, 10. खजायनुल्फुतुह या तारीखे अलाई, 11. इंशाए खुसरू या ख्यालाते खुसरू, 12. रसायलुलएजाज या एजाजे खुसरवी, 13. अफजलुल्फबायद, 14. राहतुल् मुर्जी, 15. खालिकबारी, 16. जवाहिरूलबन्ह, 17. मुकाल, 18. किस्सा चहार दर्वेश, 19. दीवान तुहफतुस्सग्र, 20. दीवानवस्तुल् हयात, 21. दीवान गर्रतुल्कमाल और 22. दीवान वकीयः नकीयः।

कहा तो यह भी जाता है कि ख़ुसरो ने एक लाख से अधिक शेर और शायरी लिखी, किन्तु आज वह सब अनुपलब्ध है। उक्त रचनाओ में कुछ रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हुईं तो कुछ कम। दरबार में रहते हुए भी ख़ुसरो की कविता में झूठी चापलूसी नहीं है।

उपर्युक्त रचनाओ में 'खजायनुल् फुतुह या तारीखे अलाई' 'रसायलुलएजाज या एजाजे खुसरवी' तथा 'अफजलुल् फबायद' आदि गद्य रचनाएँ हैं।[11] इन रचनाओं में राजाश्रय की रंगत के साथ-ही-साथ शृंगार, वीर, शांत आदि रसों का परिपाक है। ख़ुसरो की इन मसनवियों की महत्ता के विषय में श्री ब्रजरत्नदासजी ने लिखा कि- ''खुसरो की मसनवियों में कोरा इतिहास नहीं है। उस सहृदय कवि ने इस रुखे-सूखे विषय को सरस बनाने में अच्छी सफलता पायी है और उस समय के सुल्तानों के भोग-विलास, ऐश्वर्य, यात्रा, युद्ध आदि का ऐसा उत्तम चित्र खींचा है कि पढ़ते ही वह दृश्य आँखों के सामने आ जाता हैं।''[12] खुसरों की मसनवियों में 'किरानुस्सादैन' जिसका अर्थ है दो शुभ तारों का मिलन, मुख्य है। इसमें कैकुबाद और उसके पिता नासीरुद्दीन बुगरा खाँ की शत्रुता और संधि का 3944 शेरों में वर्णन है। इसी प्रकार मसनवी 'खिज्र खाँ देवलरानी या इश्किया' में खिज्र खाँ और देवलरानी के प्रेम और विवाह का वर्णन है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद मालिक काफूर ने खिज्र खाँ को अंधा कर कैदखाने में डाल दिया, कालांतर में मुबारक शाह ने काफूर को मारकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। मसनवियों में खुसरों की ये दोनों ही रचनाएँ बहुत मार्मिक और ख्यात हैं। 'नूह सिपहर' (नौ आकाश) मसनवी में अलाउद्दीन खिलजी के रंगीले उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के राज्याभिषेक और अन्य घटनाओं का उल्लेख है। इसमें कुल नौ परिच्छेद हैं। इसके तीसरे परिच्छेद में ख़ुसरों ने हिन्दुस्तान की जलवायु, पशु-पक्षी और यहाँ की भाषाओं का वर्णन किया है। इसी प्रकार 'तुगलक-नामा' में खिलजी वंश के पतन और तुगलकवंश के उत्थान का ऐतिहासिक वर्णन हैं। ख़ुसरो के उक्त ग्रंथों के ऐतिहासिक महत्व का प्रतिपादन करते हुए भी व्रजरत्नदास जी ने लिखा कि - ''इस प्रकार ख़ुसरो के ग्रंथों से गयासुद्दीन बलबन के समय से गियासुद्दीन तुगलक के समय तक का इतिहास लिखा जा सकता है।''[13]

फारसी के अतिरिक्त ख़ुसरो ने हिन्दवी (हिन्दी) में भी अनेक रचनाएँ की जिनमें कुछ पहेलियों, मुकरियों, निस्बतों और फुटकर गीतों के अलावा बाकी का साहित्य अभी तक अप्राप्य है, पर जो कुछ भी प्राप्त है उसी से ख़ुसरो हिन्दी और हिन्दुओं में लोकप्रिय हो गये। उनकी पहेलियों और मुकरियों ने जनता का काफी मनोरंजन किया। इतना ही नहीं फारसी और हिन्दी-मिश्रित गज़ल भी पहले-पहल ख़ुसरो ने ही लिखा। उन्होंने 'ध्रुपदराग' को तोड़कर कौल या कव्वाली तथा बहुत से अन्य नये रागों को भी सर्वप्रथम प्रचलित किया। अब थोड़ा उनकी इन हिन्दी रचनाओं की चर्चा कर लेना अभीष्ट होगा।

ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं में 'पहेलियाँ' बहुत लोकप्रिय हैं। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर ने इन पहेलियों के विषय में लिखा कि - ''अमीर ख़ुसरो की पहेलियों की एक विशेषता यह भी है कि वे जन-साधारण की वस्तुओं से संबंधित होती हैं, जैसे- पायजामा, दीया-बाती, ताला-ताली, चिलम, पतंग, चाक, रूपया, छाता, झूला, आरी, मोरी, ढोल, चौकी, चूड़ियाँ आदि।''[14] इनमें से कुछ पहेलियों के उत्तर उसी में छिपे होते हैं तो कुछ के लिए दिमागी

कसरत करनी पड़ती है। ब्रजरत्नदासजी ने इन्हें क्रमशः 'बूझ पहेलियाँ' और 'बिन बूझ पहेलियाँ' दो वर्गों में बाँटा है। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं-

(क) बूझ पहेलियाँ

1. **एक नार वह दाँत दँतीली। पतली दुबली छैल छबीली।।**

   जब बा तिरियहि लागै भूँख। सूखे हरे चबावै रुख।।

   जो बताय वाही बलिहारी। ख़ुसरो कहैं वरे को आरी।।[15]

   (उत्तर- 'आरी')

2. **सावन भादों बहुत चलत है माघ पूस में थोरी।**

   अमीर खुसरो यो कहें तू बूझ पहेली मोरी।।[16]

   (उत्तर - 'मोरी')

3. **बीसों का सिर काटा लिया।**

   ना मारा ना खून किया।।[17]

   (उत्तर- नाखून')

4. **जल जल चलता बसता गाँव। बस्ती में ना बाका ठाँव।।**

   खुसरु ने दिया बाका नॉव। बूझ अरथ नहिं छोड़ो गाँव।।[18]

   (उत्तर - 'नाव')

(ख) बिन बूझ पहेलियाँ

1. **एकनार पिया को भानी। तन वाको सगरा ज्यों पानी।।**

   आब रखे पर पानी नाँह। पिया को राखे हिर्दय माँह।।

   जब पी को वह मुख दिखलावे। आपहि सगरी पी हो जावे।।[19]

   (उत्तर 'दर्पण')

2. **गोरी सुंदर पातली, केसर काले रंग।**

   ग्यारह देवर छोड़ के, चली जेठ के संग।।[20]

   (उत्तर - 'अरहर')

3. **भीतर चिलमन बाहर चिलमन, बीच कलेजा धड़के।**

   अमीर खुसरो यों कहें, वह दो-दो अंगुल सरके।।[21]

   (उत्तर - 'कैंची')

4. **चटाख पटाख कब से। हाथ पकड़ा जब से।।**

   आह आवे कब से। आधा गया जब से।।

   चुपचाप कब से। सारा गया जब से।।[22]

   (उत्तर- 'चूड़ियाँ')

'मुकरियाँ' या 'कहमुकरनियाँ' भी पहेलियों की तरह ही लोकप्रिय हैं। ख़ुसरो ने इसमें भी लोकजीवन की बहुत सी बातें को प्रतीक रूप में रखा है। डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर के अनुसार - ''कहमुकरनी का अर्थ है- किसी बात को कहना और फिर उससे मुकर जाना यानी कहकर मुकर जाना।''[23] यह वस्तुतः पहेली का ही एक रूप है। संस्कृत साहित्य में इसे ही 'प्रहेलिका'' कहा गया है। खुसरो वह प्रथम रचनाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम कहमुकरनियाँ या मुकरियों की रचना कीं। ये बहुत रोचक और मनोरंजनपूर्ण होती हैं। कहमुकरनियों के उत्तर भी उसी में निहित होते हैं। कुछेक उद्धरण द्रष्टव्य हैं-

1. **वा बिन मोको चैन न आवे, वह मेरी तिस आन बुझावे।**

   है वह सब गुन बारह बानी, ऐ सखी साजन, ना सखी पानी।।[24]

   (उत्तर- 'पानी')

2. **रात समय वह मेरे आवे। भोर भए वह घर उठ जावे।**

   यह अचरज है सबसे न्यारा। ऐ सखी साजन ना सखी तारा।।[25]

   (उत्तर- 'तारा')

3. **लपट लपट के वाके सोई। छाती से पाँव लगाके रोई।**

   दाँत से दाँत बजे तो ताड़ा। ऐ सखी साजन ना सखी जाड़ा।।[26]

   (उत्तर - 'जाड़ा')

4. **रैन पड़े जब घर में आवे। वाका आना मोको भावे।**

   कर पर्दा मैं घर में लिया। ऐ सखी साजन ना सखी दीया।।[27]

   (उत्तर - 'दीया')

पहेलियों और मुकरियों के अतिरिक्त खुसरो ने कुछ 'निसबतें' भी लिखी हैं। 'निसबत' को परिभाषित करते हुए डॉ0 सुमनाक्षर ने लिखा कि - ''निसबत' का अर्थ है- सम्बन्ध, बराबरी। खुसरो ने निसबतें लिखकर हिन्दी साहित्य जगत को 'पहेली' की एक नई

विधा से परिचित कराया।''[28] निसबत और 'दो सखुना' की रचना में खुसरो ने फारसी और हिन्दी शब्दों के अर्थ- साम्य को दिखाने की कोशिश की है। इनके उत्तर जानने के लिए भी दिमाग लगाना पड़ता है, युक्ति सोचनी पड़ती है। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं-

1. गोते और आफताब में क्या निसबत है?

उत्तर - 'किरन'

2. गहने और दरख्त में क्या निसबत है?

उत्तर - 'पत्ता'

3. आदमी और गेहूँ में क्या निसबत है?

उत्तर - 'बाल'

4. बादशाह और मुर्ग में क्या निसबत है?

उत्तर - 'ताज'।[29]

'दो सखुनों' के विषय में डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर का कथन है कि - ''अमीर खुसरो पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने 'दो सख़ुने' लिखकर हिन्दी साहित्य को एक नई चीज दी। यह उनकी एक नई देन है जो संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध नहीं है।''[30] दो सख़ुनों में दो पहेलियाँ ऐसी होती हैं, जिनका उत्तर एक ही होता है। खुसरो ने इसमें दो या अधिक पहेलियों को मिलाकर इसे जनसाधारण के बीच बहुत ही लोकप्रिय बनाया। कुछ उद्धरण द्रष्टव्य होंगे -

1. गोश्त क्यों न खाया? डोम क्यों न गाया?

(उत्तर - 'गला न था')

2. अनार क्यों न चखा? वजीर क्यों न रखा?

(उत्तर - 'दाना न था')

3. रोटी जली क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों?

(उत्तर - 'फेरा न था')

उक्त के अलावा ख़ुसरो ने कुछ 'ढकोसलों' की भी रचना की है, जिसमें बेमेल वस्तुओं या विचारों की तुकबंदी हुआ करती है। एक बार ख़ुसरो को मार्ग में जाते हुए जोर की प्यास लगी, जब वे नजदीक के कुएँ पर गये तो चार पनिहारिनों ने अलग-अलग फरमाइश करते हुए उनसे 'खीर', 'चरखा', 'कुत्ता', 'ढोल' पर कविता करने को कहा। तब ख़ुसरो ने चारो शब्दों को मिलाते हुए यह ढकोसला कहा, फिर उन पनिहारिनों ने उन्हें पानी पिलाया-

खीर पकाई जतन से चरखा दिया चलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय।।[32]

ख़ुसरो आशु कवि थे, किसी भी विषय पर झट कविता करना उनकी प्रतिभा-सामर्थ्य का कमाल था, इसी से हर शहंशाह उन पर फिदा हो जाता था।

अमीर ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं में उनके द्वारा रचे गये गीत और गज़लें बहुत लोकप्रिय हुए। इनमें एक सहृदय और संवेदनशील कवि की प्रतिभा का परिचय हमें प्राप्त होता है। एकगीत, एक गज़ल और एक दोहे का उदाहरण रखकर यहाँ पर हम अपनी बात समाप्त करना चाहेंगे। पहले विदाई के बाद ससुराल में गई एक विवश स्त्री का यह दृश्य देखें, जिसमें सावन के महीने में नैहर के सुख को यादकर वह अपनी माँ से कहती है। प्रश्नोत्तर के रूप में यह गीत बहुत ही मार्मिक है-

अम्मा मेरे बाबा को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा बाबा तो बुड्ढा री, कि सावन आया।।
अम्मा मेरे भाई को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा भाई तो बाला री, कि सावन आया।।
अम्मा मेरे मामू को भेजो जी, कि सावन आया।
बेटी तेरा मामू तो बाँका री, कि सावन आया।।[33]

हिन्दी और फारसी को मिलाकर ख़ुसरो ने जिन गज़लो की रचना की वे उनके मर्मस्पर्शी गीतों से कम लोकप्रिय नहीं है। इनमें शब्दों की जादूगरी कमाल की है। यथा-

जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाए बतियाँ।
किताबे हिज्राँ न दारमेजाँ न लेहू काहे लगाए छतियाँ।।
शबान हिज्राँ न दारज़ चूँ जुल्फ़ व रोजे वसलत चू उम्र कोताह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ।।
यकायक आज दिल दो चश्मे जादू बसद फरेबम बेबुर्द तसकी।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पिआरे पी को हमारी बतियाँ।।
चु शमअः सोजाँ चु जर्रः हैराँ हमेशा गिरियाँ बइश्क आँ मेह।
न नीद नैना न अंग चैना न आप आवे न भेजे पतियाँ।
बहक्क रोजे बसाल दिल्वर कि दाद मारा फरेब ख़ुसरू।
से पीत मन की दुराए राँखूँ जो जाने पाऊँ पिया की घतियाँ।।[34]

और अंत में, यह दोहा जो ख़ुसरो की दार्शनिक मान्यताओं, सुफियाना चिंतन और अद्वैत-दृष्टि को द्योतित करता है, जहाँ भक्ति-भाव का माध्यम विद्यापति और कबीर की भाँति श्रृंगार है। यथा-

ख़ुसरू रैन सोहाग की, जागी पी के संग।

तन मेरो मन पीउ को, दोनों भये एक रंग।।[35]

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- ''ख़ुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल, पहेलियों, मुकरियों और दो सख़ुनों में ही मिलती है- यद्यपि उनमें भी कहीं-कहीं ब्रज भाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्यभाषा ही है।''[36]आगे उन्होंने कबीर और ख़ुसरो की साधारण बोलचाल की भाषा की तुलना करते हुए लिखा कि- ''ख़ुसरो के प्रायः दो सौ वर्ष पीछे लिखी जो कबीर की बानी की हस्तलिखित प्रति मिली है उनकी भाषा कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी है, पर इसमें पुराने नमूने अधिक हैं। जैसे, सप्तमी विभक्ति के रूप में 'इ' (घरि = घर में)। 'चला' 'समाया' के स्थान पर 'चलिया', 'चाल्या', 'समाइया'।'' और आगे लिखा कि - ''ख़ुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में ख़ुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा ख़ुसरो का ध्यान बोल-चाल की भाषा की ओर अधिक था।.....ख़ुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था। पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः उनकी बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ न कुछ ख़ुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए हैं।''[37] इस प्रकार शुक्लजी ने यह माना है कि ख़ुसरो की भाषा आमजन की भाषा के अधिक निकट है। कहना न होगा कि ख़ुसरो के काव्य में खड़ीबोली काव्यभाषा बनने के लिए अपना 'तुतलाता प्रयास' कर रही थी। अपनी रचनाओं के भाषागत मिठास के कारण ही ख़ुसरो 'तुतिये-हिन्द' (भारत का तोता) कहलाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ख़ुसरो नवोन्मेषी मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न फारसी और हिन्दवी के एक लोकप्रिय और महान रचनाकार थे। पहेलियों और मुकरियों के कौतूहल के बीच गीतों और दोहों में उनका दार्शनिक चिंतन उन्हें उच्चकोटि का संवेदनशील और जागरूक रचनाकार सिद्ध करता है। आधुनिक काल में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उनके पहेलियों और मुकरियों से प्रभावित होकर 'नये ज़माने की मुकरी' शीर्षक से महत्वपूर्ण रचनाएँ की हैं। यद्यपि कि आगे हिन्दी में इसका अनुकरण अधिक नहीं हुआ पर, रहस्य, कौतूहल और चमत्कार की प्रवृत्ति बराबर बनी रही। कालांतर में कबीर की उलटबाँसियों, सूर के दृष्टिकूट पदों और रीतियुगीन तथा आधुनिक कवियों की समस्यापूर्तियों में इसकी प्रतिछवि देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्य में 'खड़ीबोली के जनक' के तौर पर ख़ुसरो का योगदान सदा याद किया जाता रहेगा।

संदर्भ-ग्रंथ

1. आदिल असीर देहलवी (संकलन एवं हिन्दी अनुवाद) : 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ : प्रकाशक - मलिक बुक डिपो, 3212 फाटक तेलियान, तुर्कमान गेट, दिल्ली-110006, प्रथम संस्करण-2005, पृ0 3
2. एस.एस. गौतम (सम्पादक) : 'अमीर खुसरो', प्रकाशक-गौतम बुक सेंटर, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2016, पृ0 9
3. वही, पृ0 19
4. अमीर खुसरो : 'तुहुफतुस्सग्र' उद्धृत - ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता', प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण संवत् 2065 वि, पृ0 7
5. आदिल असीर देहलवी (संकलन एवं हिन्दी अनुवाद) : 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ, वही, पृ0 8
6. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता', वही, पृ0 10
7. एस.एस. गौतम (सम्पादक) : 'अमीर खुसरो', वही पृ0 20-21
8. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता', वही, पृ0 11
9. आ. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्रकाशक- नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 32वाँ संस्करण, संवत् 2054, पृ0 38
10. डॉ0 नगेन्द्र (सम्पादक) : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्रकाशक - मयूर पेपर बैक्स ए-95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, 25वाँ संस्करण - 1997, पृ0 77
11. आदिल असीर देहलवी (संकलन एवं हिन्दी अनुवाद) : 'अमीर खुसरो की पहेलियाँ, वही, पृ0 9
12. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता, वही, पृ0 11-12
13. वही, पृ. 15
14. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, उद्धृत - एस.एस. गौतम (सम्पादक) : 'अमीर खुसरो', वही, पृ0 25
15. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता' वही, पृ0 21
16. वही, पृ0 21
17. वही, पृ0 23
18. वही, पृ0 24
19. वही, पृ0 25
20. वही, पृ0 26
21. वही, पृ0 34
22. वही, पृ0 31
23. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, उद्धृत - एस0एस0 गौतम (सम्पादक) : 'अमीर ख़ुसरो', वही, पृ0 81
24. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'ख़ुसरो की हिन्दी कविता' वही, पृ0 39
25. वही, पृ0 39

26. वही, पृ0 40
27. वही, पृ0 41
28. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, उद्धृत - एस0एस0 गौतम (सम्पादक) : 'अमीर ख़ुसरो', वही, पृ0 106
29. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता' वही, पृ0 47
30. डॉ0 सोहनपाल सुमनाक्षर, उद्धृत - एस0एस0 गौतम (सम्पादक) : 'अमीर ख़ुसरो', वही, पृ0 102
31. वही, पृ0 106-107
32. वही, पृ0 110
33. ब्रजरत्नदास (संकलन और सम्पादन) : 'खुसरो की हिन्दी कविता' वही, पृ0 53
34. वही, पृ0 53-54
35. वही, पृ0 53
36. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', वही, पृ0 30
37. वही, पृ0 30

●

लोकोक्ति शैली का विलक्षण कवि ठाकुर

*डॉ0 अनुकूलचंद राय**

रीतिमुक्त कवि ठाकुर रीतिकाल के अप्रतिम कवि हैं। वे प्रकृति के स्वच्छंद, मनमौजी, निर्भीक, स्पष्टवादी एवं सौन्दर्य प्रेमी व्यक्ति थे। दरबारी कवि होते हुए भी उन्होंने आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसा नहीं की। वे रीतिबद्ध कवियों की परंपरा से, बंधी हुई रचना से अत्यन्त चिढ़ते थे। वे किसी बंधे-बंधाये विषय पर जोड़-तोड़ करके कविता करने वाले कवि नहीं थे। वे सहज और स्वाभाविक अनुभूति के कवि थे। स्वानुभूति की गहराई को वे काव्य में महत्त्व देते थे। यद्यपि उनका कला के प्रति आग्रह था, पर भावक्षेत्र में वे स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठाकुर की इसी विशेषता पर टिप्पणी करते हुए कहा है-''जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है।''[1]

कवि ठाकुर जिस युग में कविता की सर्जना कर रहे थे उस युग में कविता को चमत्कार युक्त बनाना कवियों का विशेष लक्ष्य था और इस चमत्कार के लिए कवि अलंकारों का जमकर प्रयोग करते थे। इसी चमत्कारप्रियता के कारण एक बार पद्माकर ने ठाकुर की कविता पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि ''ठाकुर कविता तो अच्छी करते हैं पर पद कुछ हल्के पड़ते हैं। इस पर ठाकुर बोले, 'तभी तो हमारी कविता उड़ी-उड़ी फिरती है।''[2] स्पष्ट है कि ठाकुर ने अपने काव्य में अलंकारों एवं चमत्कारों को उत्पन्न करने वाले उपादानों से अपने को अलग कर लिया था। वे समय एवं काल की नब्ज को सही पहचानने में सफल दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि यह पद्धति धीरे-धीरे अपना आकर्षण खो रही थी। वे ऐसे कवियों को जो अलंकार एवं चमत्कार के माध्यम से प्रशंसा पाना चाहते थे। उन पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं-

ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात
वाको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कवित्त कीबो खेल कर जानो है।[3]

अनूठी भाषा का प्रयोग रीतिमुक्त कवि ठाकुर की खास विशेषता है। लाला भगवान दीन ने उनकी भाषा के विषय में लिखा है-''उन्होंने न तो केशव और तुलसीदास की तरह किताबी भाषा अपनायी, न पजनेस की भाँति उसे गढ़ा ही, वरन् अपने लिए एक विलक्षण ही भाषा अंगीकार की जैसी किसी दूसरे बुंदेलखंडी कवि को नहीं मिली।'' लोकानुभवी कवि ठाकुर ने अपने इस कथन की सार्थकता के लिए मुहावरों एवं लोकोक्तियों और प्रचलित तद्भव शब्दों के संगत एवं सटीक प्रयोग करके जिस गहराई तक सम्प्रेषणात्मक ऊर्जा प्रदान करने में सफलता प्राप्त की है वहाँ तक मध्यकाल का कोई ब्रजभाषा का कवि नहीं जा सका। इसीलिए आचार्य लाला भगवानदीन ने उनकी कविता को 'ठाकुर' नामधारी अन्य कवियों से अलग करने का सरलतम उपाय लोकोक्ति प्रयोग बताया और उनका यह मत बुंदेलखंडी ठाकुर की पहचान को रेखांकित करने में सर्वमान्य बना। कवि ठाकुर ने अपने शिक्षार्जन काल में विशेषतः गणित विषय में भाष्कराचार्य (लीलावती) तथा काव्य के क्षेत्र में केशवदास (रामचन्द्रिका, कविप्रिया) और नंददास (अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी) आदि का अध्ययन किया था, पर कवि बनने के बाद उन्होंने न तो भाषा की गणित (व्याकरण) को अपनाया और न विभिन्न कवियों के अनेकार्थी शब्दों को तवज्जो दी। उन्होंने तो अपनी भाषा के माध्यम से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि संवारी हुई काव्य-भाष प्रकृत (स्वाभाविक) लोकवाणी का साथ छोड़कर अपनी संप्रेक्षणात्मक गतिशीलता को हानि पहुँचाती है। अपनी इसी काव्यभाषा की अवधारणा को लेकर उन्होंने मुहावरों, लोकोक्तियों (कहावत) के प्रति अपनी विशेष आस्था व्यक्त की और उसे ही उन्होंने अपनी वह शैली बनाई जिसके आधार पर उनकी पहचान स्थापित हो सकी और यह शैली हिन्दी साहित्य की एक नवीन और विलक्षण काव्य शैली बनी जिसे हम लोकोक्ति प्रधान शैली कह सकते हैं। उन्होंने कहीं भी अपनी कविता को अलंकारों से लादने का प्रयास नहीं किया। उनके काव्य के अलंकरण तो मुहावरे और लोकोक्तियाँ ही थीं।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने लोकोक्ति को अलंकार के रूप में परिगणित किया। सर्वप्रथम अप्पय दीक्षित ने अर्थालंकारों में 'लोकोक्ति' और 'छेकोक्ति' को सूचीबद्ध किया। उनके अनुसार लोकोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ लोक प्रवाद (मुहावरा, लोकोक्ति) आदि का अनुसरण किया गया हो, जैसे 'हे प्रिये; आँखें मुंदकर कुछ महीने और बिता लो।'' इसमें 'आँखे मूंदकर' कुछ महीने बिता लेने का जो सुझाव विरहिणी को दिया गया है, वह लोक प्रचलित मुहावरे से 'चुपचाप', 'शांत होकर' या 'कष्ट सहकर' का अर्थ प्रकट करता है-

लोक प्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।
सहम्ब कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने।।[4]

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

जो भी हो, अप्पय दीक्षित लोकोक्ति को विशेषतः मुहावरे के अर्थ में ग्रहण करते हैं, जबकि भाषा और बोली में लोकोक्ति 'कहावत' के अर्थ में रूढ़ है जिसे ठाकुर ने स्वयं 'कहनावत' कहा है-

1. 'ठाकुर या कहनावत और की साँचियै आजहू आनि परी है।[5]

2. 'साँची भई कहनावति या कवि ठाकुर कान सुनी हती जोऊ।'[6]

इसके अतिरिक्त उपखान (उपाख्यान) को भी कहावत के अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है-

ठाकुर कहत उपरवानो यो प्रमान्यो गयो

मान्यो गयो मंत्र सो न कैसहूँ उमसिया।[7]

स्पष्ट है कि लोकोक्ति (कहनावत) कान से सुनी हुई दूसरों की उक्ति और की बात कान सुनी' होती है न कि स्वयं गढ़ी जाती है। जैसे मुहावरे गूढ़ अर्थ बोध कराने में सहसा याद आकर मुँह से निकल पड़ते हैं वैसे ही लोक में प्रचलित उक्तियाँ उदाहरण देने के लिए अचानक जबान पर आ जाती हैं। लोकोक्तियाँ पूर्वजों के अनुभवों को ढोते हुए लम्बे समय से चली आ रही होती हैं, न कि तुरंत बना ली जाती हैं। ये कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ प्रकट करती हैं तथा इनमें मानव-जीवन का व्यापक अनुभव निहित रहता है। एक व्यक्ति की उक्ति सुप्रचलित होकर कहावत बन सकती है, किन्तु इसके लिए उसे लोक स्वीकृति के साथ-साथ लंबी काल-यात्रा भी करनी पड़ती है। लोकोक्ति पर जन साधारण का नीतिशास्त्र टिका होता है। ठाकुर इसी लोकोक्ति के अभूतपूर्व प्रयोक्ता हैं। लोकोक्ति का यही विशिष्ट स्वरूप काव्य की संवेदना को अधिक धारदार बना देता है।

इस पूरे संदर्भ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अप्पय दीक्षित के लोकोक्ति, अलंकार और भाषा (बोली) कवियों के लोकोक्तियों में बहुत बड़ा अंतर है। इसे हिन्दी में अलंकार मानना उतना ही विवादास्पद है जितना स्वभावोक्ति को अलंकार में सम्मिलित करने का हठ ठानना। वस्तुतः संस्कृत पाणिनी के व्याकरण से बद्ध भाषा रही है जिसमें ऐसे कथनों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था जो जन सामान्य के मुख से अपने बहुविध सामाजिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्यों से जुड़कर स्वतः स्फूर्त हो जाया करते हैं। भाषा (बोली) तो 'बहता नीर' है वहाँ किसी भी उद्‌गार को सम्मिलित किया जा सकता है, पर संस्कृत में यह संभव नहीं। वह तो 'कूप जल' है। वहाँ अपने व्याकरण बद्ध रूप का परित्याग वर्जित है। वहाँ ऐसा जनभाषा-प्रयोग त्याज्य है।

लोकोक्तियों के प्रयोग की चर्चा के पूर्व इस बात का भी संकेत कर देना आवश्यक है कि ठाकुर ने अपनी भाषा को अधिक लाक्षणिक, प्रवाहशील, सप्राण एवं सर्वस्वीकार्य बनाने के लिए मुहावरों का भी जमकर प्रयोग किया है। प्रायः लोग मुहावरे और लोकोक्ति को एक ही समझते हैं, परन्तु दोनों में पर्याप्त अंतर है। मुहावरा वाक्य में बिल्कुल मिल जाता है, किन्तु लोकोक्ति की अलग सत्ता रहती है। इसका कारण यह है कि अर्थ की दृष्टि से लोकोक्ति सूत्र रूप में ही पूर्ण होती है जबकि मुहावरे में यह बात नहीं होती। यह तो भाषा विशेष में प्रचलित प्रयोग, वाक्यांश या कुछ पदों या शब्दों का समूह है जिसका लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ लिया जाता है। मुहावरे में अन्य शब्दों की भी आवश्यकता होती है। वह हमारी अभिव्यक्ति का अंग होता है, किन्तु लोकोक्ति उस रूप में अंग नहीं होती है। मुहावरे जब अधिक प्रचलित हो जाते हैं तो उनका मुहावरापन समाप्त हो जाता है। वे सामान्य प्रयोग समझे जाया करते हैं, लेकिन लोकोक्ति में यह बात नहीं होती। लोकोक्ति अनुभव, ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं या प्राकृतिक नियमों आदि पर आधारित ऐसी संक्षिप्त और सार गर्भित लोक प्रचलित उक्ति या कथन है जिसका प्रयोग किसी बात की पुष्टि या विरोध के लिए होता है। कवियों के छंदांश भी लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो जाते हैं। इसे हिन्दी-उर्दू में 'कहावत' भी कहते हैं। लोकोक्ति सभी भाषाओं में सभी कालों में मिलती है। कुछ लोकोक्ति परंपरागत होती है और कुछ नवनिर्मित, अस्तु।[8]

ठाकुर भाषा की सम्प्रेषणीयता के प्रति अत्यधिक सजग रहे और उसे उन्होंने जन सामान्य से जोड़ने का तथा अधिक लाक्षणिक और धारदार बनाने का निरंतर प्रयास किया। इसलिए लोकोक्ति के प्रयोग की विलक्षणता के साथ मुहावरों को भी अधिक से अधिक अपनाया। उनके प्रायः सभी छन्दों में मुहावरे किसी न किसी प्रकार अपनी छटा बिखरते हुए नजर आते हैं। इस संदर्भ में अपने अल्पांश कृतित्व के उपलब्ध होने के बावजूद ठाकुर उत्तर मध्यकाल के श्रेष्ठ भाषा प्रयोक्ता बने। उनके कुछ मुहावरे उदाहरण रूप में यहाँ देखे जा सकते हैं-

बात गाँठ बाँधना

ज्योतिष देख लै ऐसी कहै गठियाइ ले आँचल के छियरा सो।[9] (कवि ने गोपी-प्रसंग में ज्योतिषी की एक नई व्यवस्था की है, जिसमें गोपियाँ कृष्ण को पाने का भविष्य फल पूछती हैं।

मुँह मीठा करना

'ठाकुर मीठो करौं मुख रावरो, पाँव परौ, जग करिति गैहौं।[10]

चैत के चार दिन

चैत (वसन्त ऋतु का महीना) के चार दिन होना या चार दिन की चाँदी (सुख का अल्पकालिक होना)

मनमोहन को हिलिबो मिलिबो दिन चारिक चैत सो हो गयो हैं।[11]

गुलाम की गाजर करना (तुच्छ बनाकर छोड़ देना-स्थानीय)

खाई कछू बगराई कछू हरि गोपी गुलाम की गाजरैं कीनी।'[12]

पानी उलीच कर कीचड़ उछालना-

'ठाकुर एक विचार हिये अब नीर उलीचि को कीच मचावै।।'[13]

बाँह गहना

'या कुल रीत बड़ेन की प्रीत जो बाँहि गहे की निबाहतु है।'[14]

कलंक (नील) का टीका लगाना

'कोऊ कहूँ लखिलेप जौ चाहि तौ होय लला मोहिं लील को टीको।''[14]

हाथ न आना (वश में न कर पाना)

'आँखिन आवै हियै लगि जावै पै प्यारी परोसिन हाथ न आवै।'[16]

चित्त चुराकर ले जाना-

'काम की उमंग मैं चोराय चित्त लै गई।'[17]

पेट की न पाना (भेद न जान पाना)

'चेटकी चबाइन के पेट की न पाई मैं।'[18]

मुहावरों के संदर्भ में एक बात का संकेत कर देना आवश्यक है कि मुहावरे का वाक्यांश यदि 'प्रकरण' से लगकर प्रयुक्त नहीं होता तो उसका अर्थ नहीं निकल सकता है। सीधे कहा जाय कि वह निरर्थक होता है। कवि ठाकुर का प्रत्येक मुहावरा 'प्रकरण' से लगा हुआ है, सीधी पहुँच रखने वाला या ठीक निशाने पर लगने वाला है। उनकी सफलता 'अक्षरों' जैसे मनोहर माला' गूंथने में ही नहीं है, क्योंकि रीतिकाल के अनेक कवि अक्षरों की माला गूँथने में अग्रणी रहे हैं। उनके समकालीन पद्माकर स्वयं इस कला के आचार्य हैं। ठाकुर इसलिए बड़े हैं कि उनके मुहावरे उन्हें हर जगह ले जाने में सक्षम हैं-वह शुद्ध काव्य जगत हो अथवा सबका सुपरिचित व्यवहार जगत। मुहावरों से अर्थ की ऐसी व्यंजना बहुत कम कवियों के यहाँ मिलती है।

हिन्दी में लोकोक्तियों के सबसे धनी प्रयोक्ता कवि ठाकुर हैं। उनके कृतित्व के विषय में शुक्ल जी की धारणा है-''बुंदेल खंडी ठाकुर की वे कविताएं पहचानी जा सकती है जिनमें बुंदेल खंडी कहावतें या मुहावरे आए हैं। ....बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएं प्रायः स्त्रीपात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं, अतः स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया उनसे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अद्भुत बात है कि स्त्रियाँ बात-बात में कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिए ये कहावतें मानो एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों में से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेल खण्ड की हैं। ठाकुर सच्चे, उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे, इसी से इनकी कविताएं विशेषतः 'सवैये' इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छन्द कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना कहाँ पसंद करता? जब जिस विषय पर जी में आया, कुछ कहा।''[19] आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी स्वीकार किया है कि ठाकुर की ख्याति उनकी लोकोक्तियों ही लिए अधिक है। उसका कारण यह है कि ठाकुर की लोकोक्तियाँ प्रसंग में ऐसी चिपकी हैं कि उन्हें निकाल देने से कविता का हीर निकल जाता है। 'हीर' से तात्पर्य है-वस्तु का भीतरी मूल तत्व या सार।

ठाकुर की काव्य शैली की अकृत्रिमता, ओजस्विता तथा कोमल भावों को अभिव्यंजित करने की क्षमता की प्रशंसा प्रायः रीतिकाल के सभी आलोचकों ने की है। ठाकुर ने लोकोक्तियों का प्रयोग और उनका विनियोग अधिकतर सवैयों में ही किया है और उन्हें चौथे चरण में प्रस्तुत किया है। सवैया प्रयोक्ताओं का प्रयास होता है कि उसके अंतिम चरण में अनुभूति की सघनता भरपूर हो, अंतिम चरण अति प्रभावशाली हो और सवैये के भाव की पूर्ण अन्विति अंतिम चरण में हो जाय। कवि ठाकुर की लोकोक्तियाँ सवैये के अंतिम चरण में आकर अनायास इस लक्ष्य को पूर्ण कर देती हैं। उनकी लोकाक्तियों के प्रयोग को देखकर लगता है कि वे इनका प्रयोग सायास नहीं करते। वे तो सहज रूप में सवैये में 'नग' की तरह जड़ जाती हैं और सवैये का प्रभाव 'सवाया' हो जाता है। इस संदर्भ में कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। ध्यातव्य है कि अधोलिखित लोकोक्तियाँ पंक्तियाँ सवैयों की अंतिम पंक्ति के रूप में ही प्रयुक्त हैं-कुब्जा और कृष्ण की जोड़ी पर व्यंग्य करते हुए कवि ने अपने युग की चुभती हुई लोकोक्ति का सहारा लिया है। अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त लोकोक्ति सम्प्रेषण के प्रभाव को अतितीव्र बना देती है-

जैसई लाल बड़े रिझवार हैं, वैसई संग मिलो अनमोलो।

चंद मुखी तजि राधे सी बामहिं कूबरी सों हित मानिकै बोलो।

ठाकुर तो सों कहा कहियै चुपकै रहियै गहि कै अनबोलो।

आँधरे साहब के घर में दमरी को हिसाब हजारा को जोलो।[20]

अपने पैरों में पड़ी बिवाई की पीड़ा ठाकुर को 'प्रेम की पीर' की सबसे बड़ी विज्ञप्ति है। इसी 'प्रेम की पीर' पर आचार्य विश्वनाथ मिश्र टिप्पणी करते है कि ''हिन्दी में ऐसे मस्त, टीस वाले, स्वच्छंद और पारखी कवि इने-गिने ही हुए हैं। घनानंद की तरह प्रेम का वियोग पक्ष ही इनमें प्रधान है।''[21] यहाँ इस संदर्भ के कुछ छंद द्रष्टव्य हैं-

(1) **यह प्रेम कथा कहिबे की नहीं कह बोई करौ कोउ मानत है।**

पुनि ऊपरी धीर धरायो चहै बन रोग नहीं पहचानत है।

कहि ठाकुर जाहि लगी कसकैं नहिं सो कस कै उर आनत है।
बिन आपने पायं बिवाई गए कोउ पीर पराई न जानत है।[22]

(2) **धैर भयो सिगरी नगरी हठि बैर भयौ हमरी बखरी मैं।**
बात उजागर सोच कहा जो घटैगी, जफा सो कढ़े तरवरी मैं।
ठाकुर कीरति का बरनौं सो अचानक भेंट गली संकरी मैं।
मूसर चोट की भीति कहा बजिकै जब मूड़ दिया ओखरी में।[23]

(3) **भूलि न प्रीति करौं तुमसौं कबहूँ नहिं नैन सों नैन मिलाऊँ।**
बात करौं न सुनों तुम्हरी अपने चित्त की कबहूँ न चिताऊँ।
मोहिं कहा परी प्यारे गुपाल जू लाज मरौं कुल कानि घटाऊँ।
ना विष खाऊँ न प्रान तजौं गुर खाऊँ न काहू सो कान छिदाऊँ।[24]

(4) **बरुनीन में नैन झुकैं उझकैं मनो खंजन प्रेम के जाल परे।**
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अंगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिये निज प्रीत करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे।[25]

वियोग के अतिरिक्त कुछ अन्य संदर्भों में प्रयुक्त लोकोक्तियों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

(1) **नाध नधो है तिहारे पिया सतराती कहा कोउ स्यान सिखैहै।**
पानिप नै कै चलै सजनी चहि भाँति न प्रीत सदा निरबैहै।
ठाकुर जो पै यही करने तौ कहा मनमोहनी क्रोध करैहै।
ह्वै है नहीं मुरगा जेहि गाँव भटू-तिहि गाँव का भोर ना ह्वै है।[26]

(2) **छोड़ि पतिव्रत प्रीति करी निबहीं स्त्रौन सुनी हम सोऊ।**
मौन भए रहनेई परो सहनेई परो जो कहै कछु कोऊ।
साँची भई कहनावति वा कवि ठाकुर कान सुनी हती जोऊ।
माया मिली नहिं राम-मिले दुविधा मैं गए सजनी सुनि दोऊ।[27]

(3) **जानि परो जग पेखनो है यहि तें इहि भाँति छके रहने है।**
बात निरंतर अंतर की अपने दिल की न कहूँ कहने है।
ठाकुर दोस लगाइयै कौन कों पाइयै भाग लिखे लहने है।
काम इहै मरदानगी को सिर आन परै सु लिये बहने है।[28]

(4) **हौं बरजी बर बीसक लौं दुलही यहि मारग स्यामरो आवै।**
ढीठ भई चितवै चहुँ ओर अमंद हँसै हँसि हार हलावै।
हौं तो कही न बिलोकु गुपालहिं यौं उरझी अब को सुरझावै।
जो विष खाय सो प्रान तजै गुर खाय सो काहे न कान छेदावै।

कुल मिलाकर ठाकुर अपनी काव्य शैली को लेकर मध्यकालीन कवियों में ही नहीं, हिन्दी साहित्य में भी अपना बेजोड़ स्थान रखते हैं। मध्यकाल के प्रायः सभी शीर्षस्थ कवियों की अपनी-अपनी काव्य शैलियाँ थीं और उस शैली में उनके जोड़ का कोई कवि नहीं था, जैसे तुलसीदास की रूपक शैली, सूरदास की उत्प्रेक्षा शैली, केशव की परिसंख्या शैली और घनानंद की विरोधमूलक शैली। इसी प्रकार ठाकुर की शैली लोकोक्तिमूलक शैली है और उस शैली का उनके समान कोई दूसरा कवि नहीं है। यह शैली ही उनके काव्य-अलंकरण का मुख्य विधान है, मुख्य आकर्षण है। अपनी इस शैली के बल पर मात्र दो सौ उन्नीस छंद लिखने वाला यह कवि काव्य रसिकों और सहृदयों का कंठहार बना।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 262-63
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 261
3. ठाकुर, छन्द संख्या 07
4. कुवलयानंद, श्लोक 90/157
5. ठाकुर, छन्द संख्या 45
6. वही, छन्द संख्या 84
7. वही, छन्द संख्या 138
8. द्रष्टव्य, डॉ0 भोलानाथ तिवारी-भाषा विज्ञान कोश, पृ0 524-526, 581-582
9. ठाकुर, छन्द संख्या 22
10. वही, छन्द संख्या 23
11. वही, छन्द संख्या 32
12. ठाकुर, छन्द संख्या 39
13. वही, छन्द संख्या 64
14. वही, छन्द संख्या 67
15. वही, छन्द संख्या 87
16. वही, छन्द संख्या 141
17. वही, छन्द संख्या 143
18. वही, छन्द संख्या 168
19. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 359, 362, 363
20. ठाकुर, छन्द संख्या 31
21. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ0 736
22. ठाकुर, छन्द संख्या 53
23. ठाकुर, छन्द संख्या 173

24. ठाकुर, छन्द संख्या 131
25. ठाकुर, छन्द संख्या 160
26. ठाकुर, छन्द संख्या 151
27. ठाकुर, छन्द संख्या 84
28. ठाकुर, छन्द संख्या 189
29. ठाकुर, छन्द संख्या 135

●

भिखारी ठाकुर : व्यक्तित्व के विविध आयाम

*डॉ0 राकेश कुमार राम**

भोजपुरी साहित्य और साहित्यकार की बात की जाय तो सबसे बड़ा नाम भिखारी ठाकुर का आता है जो सर्वमान्य रूप से भोजपुरी साहित्य के सिरमौर हैं। भिखारी ठाकुर का जन्म बिहार में आरा जिले के 'कुतुबपुर' नामक गाँव में शुभ संवत् 1144 शाके 1801 तद्नुसार सन् 1887 ई0 में हुआ था। जैसा कि भिखारी ठाकुर बताते हैं कि ''शुभ सम्वत् 1144 शाके : 1801 तद्नुसार 1295 फसलों तथा सन् 1886 ई0 पौस मास शुक्ल पंचमी सोमार को 12 बजे दिन में मेरा जन्म हुआ।''[1] 'कुतुबपुर' अब 'छपरा' जिले में पड़ता है। क्योंकि बाढ़ के कारण यह गाँव ढहकर दियारे में चला गया है जो कि छपरा जिले में पड़ता है। भिखारी ठाकुर के ही शब्दों में ''पहिले मेरा गाँव आरा जिले में था। मेरे ममहर, फुफहर, ससुराल, स्वजाति के राजा, दीवान, पुरोहित, गुरु, पोस्ट, थाना ये सब आरा जिले में थे। गंगा जी से ढहकर मेरा गाँव दियारे में चला आया। तब से छपरा जिले में कहाने लगे।''[2]

भिखारी ठाकुर के जन्म के सम्बन्ध में इन्हीं के द्वारा लिखा गया भोजपुरी का यह चौपाई काफी प्रसिद्ध है-

''बारह सौ पंचानबे साल कहावल जब।
कुतुबपुर के कहत 'भिखारी' जन्म हमार ह तब।
पुष महिना शुक्ल पक्ष में पंचमी रोज सोमार।
कहत 'भिखारी' बहार बजे दिन में जनम हमार।''[3]

जहाँ तक उनके पूर्वज और परिवार की बात करें तो इसके सम्बन्ध में भिखारी ठाकुर स्वयं लिखते हैं-

''पुराखा पद के ककरू प्रनाम। लिखत बानी श्रेष्ठ के नाम।।
जवना बंस में जनम भइल। जेकर हईं कितनी कइल।।
श्री गुमान सूत रमई नाई। ता सूत दल सिंगार कहलाई।।
ताके सुत भिखारी मोर नामा। कुतुपुर में करत मोकामा।।
तेकर भइलन सिलानाथ। जातिक सभा में नाव माथ।।
एक छंछेप कहा मैं गाई। देखहूँ राधेश्याम मँह जाई।।''[4]

इस चौपाई के अनुसार दलसिंगार ठाकुर इनके पिता का नाम है और भिखारी ठाकुर को एक औलाद थी, जिसका नाम शिलानाथ ठाकुर था। भिखारी ठाकुर नौ वर्ष की अवस्था में पढ़ने के लिए पाठशाला में जाते हैं। लेकिन कुछ पल्ले न पड़ने के कारण बीच में ही पढ़ाई छोड़ दिया। बाद में जातीय पेशा 'हजामत' का काम सीख लिये। भिखारी ठाकुर के ही शब्दों में ''जब मैं नव वर्ष का हुआ, तब विद्या पढ़ने के लिये पाठशाला पर गया। एक वर्ष तक रामगति लिखने नहीं आया, तब पढ़ना छोड़ दिया। मुझको चार गायें और उनके बच्चे थे। उनको चराने के लिए प्रतिदिन खेतों में ले जाया करता था। उसके बाद अपना पेशा हजामत बनाने को सीख लिया।''[5]

इनके मन में तमासा (नौटंकी) करने अथवा लिखने की जिज्ञासा रोज-रोज रामलीला देखने के उपरान्त जगी। यह वाकया तब का है जब वे कमाने के लिए भागकर खड़गपुर जाते हैं। खड़गपुर में हजामत (बाल काटने का काम) करते हैं। दशमी के अवसर पर वहीं रामलीला देखते थे। वहीं उनके मन में इच्छा हुई कि मैं भी तमासा करुँ। यहीं साधु पंडित या जिसके मुँह से गीत, कवित्त, छंद श्लोक अच्छा लगे अर्थ पूछकर सीखने लगे और अपने अक्षर (भोजपुरी) में लिखने लगे।''[6]

भिखारी ठाकुर का यह अपने अक्षर में लिखना कोई सामान्य लिखना नहीं था। यह लिखना शुरु हुआ तो बहुत कुछ लिखकर ही रुका। बिरहा बहार, राधेश्याम बहार नाटक, बेटी-बियोग नाटक, कलियुग प्रेम, कलयुग बहार नाटक, गबरधिचोर नाटक, भाई-विरोध नाटक श्री गंगास्नान नाटक, पुत्रवधु नाटक, नाई बहार, ननद-भौजाई संवाद, भाँड़ के नकल, बहरा बहार नाटक, नबीर बिरहा नाटक, भिखारी शंका समाधान, भिखारी हरिकिर्तन, यशोदा सखी संवाद, भिखारी चौजुगी भिखारी जै हिन्द खबर, भिखारी पुस्तिका सूची, भिखारी चउबरन पदवी, विधवा विलाप नाटक, भिखारी भजन माला, बुढ़शाला के बयान, श्री माता भक्ति, श्री नाम रतन, रामनाम माला, सीताराम परिचय, नर नव अवतार एवं एक आरती दुनिया भर के, भिखारी ठाकुर के इसी लिखे का परिणाम है। इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में इन्हीं के द्वारा लिखा गया यह दोहा इसका उदाहरण है-

'सुरु से आखिर लिखत भिखारी सब किताब के नाम।
श्री गनेश के चरन कमल में करी-कर के प्रणाम।।
'बिरहा बहार' प्रथम मैं गावा। तब 'कलयुग बहार' सुधि आवा।
'राधेश्याम बहार' हो गइलन। 'बेटी वियोग' के चरचा भइलन।।'

x x x x

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कालेज, वाराणसी

'राम नाम माला' पढ़ि लीजे। 'सीता राम से परिचय' कीजे।

'नव-अवतार' कहाला नर के। 'एक आरती' बा दुनिया भर के॥''[7]

भिखारी ठाकुर के सर्वाधिक लोकप्रिय रचना की बात करें तो 'विदेशिया' नाटक उनकी प्रसिद्धि का आधार है। विदेशिया कोई सामान्य नाटक नहीं है। ''विदेशिया में वेश्या (माया) के फंदे में फँसे मौज-मस्ती कर रहे पति (आत्मा) की व्याहता (परमात्मा) को रात-दिन चैन नहीं''[8] का प्रतीक है। रात-दिन व्याकुल रहने वाली भिखारी ठाकुर की यह अनुभूति कबीर की बिरहिणी आत्मा और जायसी की नागमती का स्मरण दिलाती है-

''पिया मोर गइल परदेश, ए बटोही भइया।

रात नाही नीन दिन तनी न चयनवा।''[9]

भिखारी ठाकुर के सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि वे मानव मनोविज्ञान के अद्भुत पारखी थे और ऐसे साहित्यकार ही सार्वकालिक रचना कर पाते हैं। भिखारी ठाकुर का व्यक्तित्व ही उन्हें मानव मन का पारखी बनाता है। वे 'राम' के परम भक्त और 'तुलसीदास' उनके साहित्यिक गुरु थे। उन पर 'जात्रा' 'रासलीला' और 'रामलीला' का गहरा प्रभाव था। वे नाटकों में अभिनय के अलावा बड़े ही सुरीले आवाज में गाते भी थे। सत्संग और प्रवचनों में भाग लेने के कारण उनका एक अलग तरह का मानसिक विकास हुआ। वे मूलतः कवि और गीतकार थे। अभिनय की अद्भुत क्षमता थी। भिखारी ठाकुर ने भारतीय समाज में प्रचलित विधवा-विवाह, बेमेल विवाह, जाति प्रथा, नशा खोरी एवं अन्य सामाजिक विषमता पर आधारित अपने लोक नाटकों से जनता का प्रबोधन किया। ऐसे नाटकों में वे भारतेन्दु जैसे समर्थ नाटककार एवं नवजागरण के पुरोधा के रूप में दिखायी पड़ते हैं।

अपने समय में भिखारी ठाकुर भी नवजागरण के संवाहक थे। हम सब जानते हैं कि मध्यकालीन भारतीय इतिहास में जब सम्प्रदायिकता, धार्मिक आडम्बर, कर्मकाण्ड एवं जाति विद्वेष अपने चरम पर था और इसी के विरुद्ध नवजागरण तो लोगों ने तरह-तरह से इसका प्रतिवाद किया। ब्रह्म समाज के राजाराम मोहनराय, आर्य समाज के दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण मिशन के विवेकानंद ने अपने नेतृत्व में इन विसंगतियों एवं रुढ़ियों के विरुद्ध पुनर्जागरण का दौर प्रारंभ किया। इस दौर ने सामाजिक मुद्दों पर सकारात्मक सोच के साथ-साथ राष्ट्रीय अस्मिता को जगाने का कार्य किया। बाल-विवाह का विरोध, विधवा-विवाह को प्रोत्साहन, कर्मकाण्डों की तार्किक समीक्षा एवं स्त्रियों, दलितों के प्रति हो रहे अत्याचार के विरुद्ध लोगों ने वातावरण का निर्माण किया। इस आन्दोलन ने पूरे राष्ट्र की सोच को बदला जिसे अशिक्षित, अविकसित और उपेक्षित भोजपुरी-भाषी क्षेत्र भी प्रभावित हुये बिना नहीं रहा। भिखारी ठाकुर भी इससे अछूते नहीं रहे। उन्होंने सकारात्मक ढंग से पुनर्जागरण को अपने लोकनाटक, गीत, कविता, लोक भजन और तमासा के माध्यम से भोजपुरिया समाज में पहुँचाने का निर्णय लिया।

यह वही समय है जब ''सन् 1914 ई0 में पटना के हीरा डोम की अछूत की शिकायत कविता मासिक 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। सन् 1912 में रघुवीर नारायण की राष्ट्रीय अस्मिता का दिग्दर्शन कराती कविता 'बटोहिया' का निर्माण हुआ। इसी अवधि में प्राचार्य मनोरंजन प्रसाद सिन्हा की 'फिरंगिया' भी लोकप्रिय हो गई।''[10] भिखारी ठाकुर ने 1919 से लेकर 1965 तक सैकड़ों लोकभजन, गीत, कीर्तन, गीत, कविता और लोकनाटकों की रचना की। नाट्य-मण्डली के माध्यम से गाँव-गाँव घूमकर सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण का संदेश फैलाया। इस कार्य हेतु अशिक्षित और उपेक्षित भोजपुरिया जनता ने भिखारी ठाकुर को अटूट समर्थन और अपार स्नेह दिया।

भिखारी ठाकुर ने अपने नाटकों में नारी-जीवन, उसकी सामाजिक स्थिति, नारी मनोविज्ञान और नारी की विभिन्न समस्याओं का अनुशीलन किया। उन्होंने तत्कालीन ग्रामीण परिवेश में नारियों की समस्या को अपना उपजीव्य बनाया तथा अपने लोक-नाटकों का 75 प्रतिशत नारी-विमर्श को ही समर्पित किया।''[11] उनके नाटकों में नारी विविध रुपों में आयी है जैसे - बेटी-वियोग और ननद-भउजाई में बालिका के रुप में, 'भाई-विरोध', 'गंगा स्नान', 'पुत्र-वध' में विवाहित नारी के रुप में 'विदेशिया', 'विधवा-विलाप' 'गबर-घिचोंर' और 'कलियुग प्रेम' में वियोगिनी नारी के रुप में, 'गंगा-स्नान', 'बेटी-वियोग', 'राधेश्याम बहार', 'माता-भक्ति' तथा 'नाई-बहार' में माता के रुप में और प्रेयसी के रुप में, 'राधे-श्याम बहार', 'पुत्र-वध', 'विदेशिया' और 'गबरधिचोर में'।

भारतीय समाज में नारी पति के परदेश चले जाने पर भी पातिव्रत्य की रक्षा करती हुई श्रम-बल पर अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करती है। 'विदेशिया' की नायिका 'प्यारी सुंदरी' इसी परम्परागत नारी-चरित्र का उदाहरण है। पति के परदेश जाने पर प्यारीसुन्दरी का पड़ोसी देवर उसे अपने प्रेम जाल में फांसकर अपने हवस का शिकार बनाना चाहता है। वह प्यारी सुन्दरी को फुसलाते हुये कहता है-

'भउजी तनिक अफसोस दिल में झूठे करती तूं अबे।

जिन्दगी तलक सुख देब तुमको जानिहो हमके तबे॥''[12]

इस पर सुन्दरी कहती है-

'ना कुछ पइबऽ मरबऽ जान। पाछे होइबऽ खूब हलकान।

सोच-समझ के चलऽ देवर। चाहे लेलऽ तन के जेवर॥[13]

अर्थात् हे देवर मेरा गहना-जेवर जो चाहे ले लो लेकिन तुम मेरा चरित्र हनन नहीं कर सकते। मैं इसके लिए अपना जान भी दे दूँगी। इसी तरह 'कलियुग-प्रेम' की नायिका अपने नशाखोर पति के

साथ उसका सब अत्याचार सहकर भी उसे पति-परमेश्वर मानती है। अपने पति के रखेलिन से बात करते हुए दुखहारिन (नायिका) अपने पति के लिए 'प्राणनाथ' का ही सम्बोधन करती है-

राखऽ सरन के पानी, ए बहिनी।

प्राणनाथ के तूहीं समुझा द, हो जा तूँ अटल भवानी ए बहिनी।

कहत भिखारी जियब हम जबले, तोहरे चरन लपटानी, ए बहिनी॥[14]

'बेटी-वियोग' की नायिका एक बृद्ध, बीमार और सम्पन्न किसान के हाथों बिक जाने के बावजूद एक कमसिन कन्या अपने पति की सेवा निष्ठापूर्वक करती है। भिखारी ठाकुर के मन में नारी के माता रुप के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। इसीलिए वे अपने कविता 'माता-भक्ति' में उसकी महत्ता गायी है-

''भादो मास खरवाँस में पूजन करिहऽ नीत।

माता नाम के करहू उचारन करि-करि के परतीत।

माता भक्ति परिपूजन, सनमुख हाजिर हजूर।

कहत भिखारी एह गरजी, पर मरजी करहु जरुर॥''[15]

वे माँ के समान जग में और किसी को सुखदाई नहीं मानते। व्यक्ति माँ के स्नेह से ही जगत को जीत सकता है। वे माँ के चरन कमल में ध्यान लगाने की बात करते हैं-

''माई सम सुखदाई जग में, केहू ना लऊकत हीत

चरन कमल में ध्यान लगाके, चलहु जगत से जीत॥[16]

'भाई-विरोध' और 'पुत्र-वध' में संयुक्त परिवार को तोड़ने जैसे कार्यों में नारियों के घृणास्पद योगदान का चित्रण किया गया है। इतना ही नहीं वे इससे बचने की प्रेरणा भी देते हैं। गहना-कपड़ा और सौन्दर्य-प्रसाधनों के लिए दुश्चरित्रा नारियों की वे निन्दा करते हैं। वहीं 'गबरधिचोर' में नारी के यौन अधिकार तथा उनके स्वतंत्रता का संघर्ष स्वयं लड़ते दिखते हैं। 'गबरधिचोर' में भिखारी ठाकुर ने एक ऐसी नारी का सृजन किया है, जिसे भरी जवानी में उसका पति परदेश कमाने जाता है। 15 वर्षों तक घर वापस नहीं आने के कारण उस परित्यक्ता का किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध होता है और उससे पुत्र की प्राप्ति होती है। सामाजिक रुप से स्वीकृति न मिलने के बावजूद वह उसका पालन-पोषण करती है। बच्चे के अधिकार के लिए वह संघर्ष करती है और विजयी भी होती है। इतना ही नहीं 'विदेशिया' नाटक के माध्यम से भिखारी ठाकुर ने नारी के वेश्या रुप को महिमा-मंडित कर वेश्या-प्रथा की समाप्ति और उनके पुर्नसंयोजन का मार्ग प्रशस्त किया। भिखारी ठाकुर का नारी-सम्बन्धी विचार आदर्शोन्मुख यथार्थवादी और भारतीय परम्परा का पक्षधर है। वे भारतीय नारियों को ममतामयी, सच्चरित्र, महिमामयी, धार्मिक दृष्टि से सम्पन्न देखना चाहते थे। वे दुश्चरित्र नारियों के प्रति कोई समझौता नहीं चाहते थे।

दलित विमर्श और भिखारी ठाकुर की बात करें तो हम देखते हैं कि इस संदर्भ में भी प्रखर लेखनी चलाते हैं। भिखारी ठाकुर स्वयं नाई जाति के थे, जो तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था में पूरे गाँव के लोगों का नियमित बाल काटती थी। लेकिन इस सामाजिक श्रम की उचित मजदूरी नहीं मिलने के कारण उन्हें घोर संकट से गुजरना पड़ता था। उन्हें सामंतों एवं दबंग लोगों के कोप का भाजन बनना पड़ता था। उनकी स्थिति भी दलितों से अच्छी नहीं थी। इस विसंगति का कटु अनुभव भिखारी ठाकुर को भी था। इसीलिए जब भिखारी ठाकुर ने विभिन्न लोक नाटकों की रचना की तो उनमें वही दलित, अशिक्षित और उपेक्षित वर्ग रहा।

उन्होंने दलित, अशिक्षित एवं उपेक्षित लोगों में घटने वाली परिघटना को अपने लोकनाटकों का विषय बनाया। इनमें बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, अपराध, नशाखोरी, जुआ आदि ऐसी प्रवृत्तियां थीं, जिससे उनका सामाजिक जीवन कष्टमय हो जाता था। भिखारी ठाकुर इन समस्याओं को उजागर कर उनमें एक नई चेतना लाने का प्रयास किया। जब 'विदेशिया' नाटक का नायक विदेश कमाने के लिए कलकत्ते भाग जाता है तो उसकी पत्नी प्यारी सुंदरी उसकी खोज करने के लिए एक बटोही से कहती है। बटोही कलकत्ते में विदेशी की खोज करता है। थोड़े दिन बाद ही विदेशी मिल जाता है जो एक रंडी के साथ रहता है। उसके साथ वह शराब और जुआ खेलता है। बटोही उसे समझाता है-

'सुनहु तात एक बात तुम, जुआसार को त्याग।

कहना मानऽ नाहीं त, कुल में लागी दाग॥''[17]

'बेटी-वियोग' में शादी के नाम पर पैसे लेकर बेटी को बेचने का प्रतिवाद किया गया है। बेटी बेचने जैसा कृत्य इन्हीं अशिक्षित वर्गों में होता था। 'बेटी-वियोग' में 'गोतिया' नामक पात्र के माध्यम से इस विसंगति को दिखाते हैं। 'गोतिया कहता है-

''बेटी बेंचि के धइलऽ माल। तोहरा सिर पर चढ़ल काल॥

चढ़ल बंस के पानी गइल। जब से तोहार जमाना भइल॥

अइसन बंस में जमलऽ कूर। दया-धरम के कइलऽ दूर॥''[18]

अर्थात तुम्हारे सिर पर काल चढ़ा है क्योंकि बेटी बेचकर ही तुम यह माल-असबाब इकट्ठा किये हो। जब से तुम्हारा जमाना आया है इस उच्च कुल की मर्यादा ही नष्ट हो गई है। ऐसे बंस में जन्म लेकर दया-धर्म से दूर हो गये हो अर्थात् बेटी-बेचने जैसा नीच कर्म कर रहे हो। स्त्री की इज्जत आबरु उसके नैहर और ससुराल दोनों के बने रहने पर ही, अर्थात् उसके कारण सम्बन्धों में बिगाड़ हो वह कभी नहीं चाहती। लेकिन बिना कुसूर के उसे घर से निकाला जाता है तो वह समाज के समक्ष प्रश्न खड़ा करती है-

''कवन कसूर कइली, घर से निकालल गइलीं।

छूटल जात बा नइहर-ससुरवा हो बबुआ।।

पर-पति साथ रति, कबहूँ ना भइल मति।

धनवाँ करनवा तेयागऽ मत हो बबुआ।।''[19]

भिखारी ठाकुर अपने लोकनाटकों में पात्रों के नाम भी ऐसे ही रखते हैं जो दलित वर्गों में ही पाये जाते हैं, जैसे - 'भाई-विरोध' का उपदर, बेटी वियोग का झॉटूल, विधवा-विलाप का 'उदबास' कलियुग प्रेम का 'दुखहारिन', गंगा-स्नान का 'अटपट', मलेछू, पुत्र-वध का 'चपाट', गबरधिचोर का 'गलीच', घिचोर, 'ननद-भौजाई' का अखजो, चेचरु आदि जो सामान्यतः दलित वर्गों में ही पाये जाते हैं। दलित-विमर्श के सन्दर्भ में भारतीय समाज का यह भी यथार्थ है कि ऐसे नाम कुलीन समझी जाने वाली ऊँची जातियों में नहीं मिलता। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि भिखारी ठाकुर ने दलितों के उत्थान के उद्देश्य से ही इन लोक नाटकों एवं लोकगीतों की रचना की।

भिखारी ठाकुर एक ही साथ कवि, गीतकार, नाटककार, नाट्य-निर्देशक, संगीतकार और अभिनेता भी थे। वे व्यक्ति से बढ़कर स्वयं में एक सांस्कृतिक संस्था थे। उनकी पचहत्तर प्रतिशत काव्य-रचनाओं में गीत, भजन-कीर्तन एवं कविताएँ हैं। 'तुलसीदास' को वे अपना काव्य-गुरु मानते थे। उनके अलावा सूरदास, कबीरदास और अन्य भक्त-कवि भी उनके प्रिय थे। भिखारी ठाकुर ने परम्परागत नाट्य शैली में सुधार किया। इसी सुधार के तहत नाटकों में विदूषक की जगह 'लबार' जैसे पात्र का सृजन किया। ''विभिन्न नाटकों में सूत्रधार के विशिष्ट वेश-भूषा में तो भिखारी ठाकुर स्वयं आते थे, प्रवचन करते थे और भजन आदि प्रस्तुत कर वातावरण का निर्माण करते थे। विभिन्न नाटकों में अभिनेता के रुप में भी आते थे, जैसे- 'विदेशिया' में बटोही, 'गबरघिचोर' में पंच, 'बेटी-वियोग' में पंडित, 'राधेश्याम-बहार' में बूढी सखी तथा 'कलियुग-प्रेम' में नशाखोर पति आदि।''[20]

अपने 'तमासों' (लोकनाटकों) के प्रस्तुतिकरण में भी भिखारी ठाकुर ने तरह-तरह के प्रयोग किये। भिखारी ठाकुर के नाटकों की प्रस्तुति के समय किसी खाली मैदान, बगीचा या दालान के सामने शमियाना लग जाता था। कुछ समतल चौकियां आपस में सटा-सटा कर रख दी जाती थीं और उसपर दरी और सफेदा (बड़े आकार की उजली चादर) बिछा दी जाती थी। मंच के पीछे कनात या सफेदा टाँग दिया जाता था। मंच पर दायीं ओर वाद्य-वृंद के साथ सभी वादक स्थान ग्रहण कर लेते थे। सम्पन्न होने वाले नाटक के सभी पात्र मंच पर अपनी-अपनी पूरी वेश-भूषा में आकर बैठ जाते थे। मंच के तीन ओर दूर-दूर तक दर्शक-श्रोता बैठ जाते थे। पेट्रोमैक्स, डे लाइट, जलाकर स्थान-स्थान पर टाँग दिये जाते थे और तब लोक कलाकार भिखारी ठाकुर सूत्रधार की भूमिका में मंच पर पधारते थे। यह खुला मंच का प्रयोग भिखारी ठाकुर ने संभवतः विश्व में पहली बार किया था।''[21]

भिखारी ठाकुर को भारतीय सभ्यता और संस्कृति में बड़ी आस्था थी। इसीलिए इन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीला और रास-लीला को अपने काव्य का विषय बनाया। राधेश्याम-बहार में कृष्ण विषयक भजन को बड़े मनोहारी ढंग से प्रस्तुत किया है-

''करत बहार राधेश्याम, करत बहार राधेश्याम।

श्री गोकुल-मथुरा कुंजन में होत नित-नित जाम।

मोर मुकुट ललाट चन्दन, जुगल अति छवि धाम।

बंसी फूँकत धरि अधर पर, संग में ब्रज के बाम।

कहे 'भिखारी' हरि के भजिलऽ मन ना लागी दाम।''[22]

कहीं-कहीं तो भिखारी ठाकुर भक्ति कालीन कवि सूरदास के समकक्ष ठहरते हैं। जब वे लिखते हैं-

'करी हमका जसोदा। चसकल मोहनवाँ।

बरजि रही बरजल ना मानत, नित उठि आवे कान्हा हमरा अङनवाँ।

गगरी फोरत इनका संकाना लागत, कहेलू जे बड़ सुधा हउअन ललनवाँ।

देखतू तनिक तू ढिठाई बिहारी के, कइसे दोत सोझा तोहरा रहेलन भवनवाँ।

कहत भिखारी, गजब बरियारी बा, कब-कब देवे हम आइब ओरहनवाँ।।''[23]

'शिव-विवाह' में शिव के प्रति भी उनकी भक्ति दिखलाई पड़ती है। शिव की स्तुति करते हुए वे लिखते हैं-

''हरदम बोलऽ शिव, बम-बम-बम-बम।

कर त्रिशूल बॅसहा पर शंकर। डमरु बाजत बाटे, डम-डम-डम-डम।।

मुख में पान न भांग चबावत। दसन बिराजत बा, चम-चम-चम-चम।।

पुरबासी निरवन बर लागे। नारी-पुरुष सब खम-खम-खम-खम।।

भाई भिखारी कहत कब तक ले। जब तक रही तन दम-दम-दम-दम।।''[24]

भिखारी ठाकुर के भक्ति-भाव की विलक्षणता इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने माता-पिता को साक्षात देवी-देवता के रूप में पूजने का आह्वाहन किया -

''भादो मास खरवॉस में, पूजन करिहऽ नीत।

माता नाम के करहु उचारन करि-करि के परजीत।

माता-भक्ति परिपूजन, सनमुख हाजिर हजूर।

कहत 'भिखारी' एह गरजी, पर, मरजी करहु जरुर।।[25]

अर्थात भादो मास के खरवास में नित्य माता का पूजन करना चाहिए। उसमें विश्वास करके माता नाम का उच्चारण करना चाहिए। माता-भक्ति से बड़ा पूजन कुछ भी नहीं है। भिखारी ठाकुर कहते हैं मेरी इच्छा पर सब लोग ध्यान (गरज) जरुर दें। क्योंकि-

''माई सम सुखदाई जग में, केहू ना लऊकत हीत।

चरन कमल में ध्यान लगाके, चलहु जगत से जीत।।''[26]

भिखारी ठाकुर साधु, संत, गुरु आदि के प्रति भी अपनी भक्ति प्रकट करते हैं-

''आहो रामलखन दास जी के पुकारतहूँ साधुन के।

प्रिय सदा दुःख के हरैया हो।

बाँकीपुर जुजरा के मध्य स्थान माहीं पूजत,

बिहारी जू के मंगल करइआ हो।।''[27]

भिखारी ठाकुर गुरु से विनती करते हुए कहते हैं-

''श्री गुरु द्वारा पूरब ओर बहे सोनभद्र जोर।।

तेही के पूरब गढ़ी मनेर, तोही के पछिम आधा सेर।।

देही के उत्तर गंगा धारा, संगम बहे अधनासन हार।।

तेही आश्रम श्री गुरु जी बानी। मन्तर तोहले देले भवानी।।[28]

भिखारी ठाकुर ने भोजपुरी को अपने काव्य एवं नाटक की भाषा बनाई। क्योंकि भोजपुरी ही उनकी मातृभाषा थी। यहीं कारण है- ठेठ भोजपुरी और जनता की' एकमात्र भाषा भोजपुरी ने भिखारी ठाकुर को जनता के बीच इतना लोकप्रिय बना दिया कि 'भिखारी' और 'भोजपुरी' दोनों एक दूसरे के पर्याय बन गए।''[29] इसलिए भिखारी ठाकुर भोजपुरी के प्रति अपनी आस्था तथा उससे लाभ की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं- ''मातृभाषा घर का गुर है।''[30] अथवा ''झूठहूँ राम नाम कहला से, भोजपुरी भाषा गहला से।''[31] भोजपुरी भाषा अवलम्बे, फोटो भइल भिखारी के बम्बे।''[32] भिखारी ठाकुर के भोजपुरी भाषा के इसी कौशल के कारण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इन्हें 'अनगढ़ हीरा' कहा तो मनोरंजन प्रसाद सिन्हा ने 'भोजपुरी का शेक्सपीयर' कहा। आधुनिक कवि केदारनाथ अग्रवाल ने तो उनकी लोकप्रियता को अपने काव्य का विषय बनाते हुए लिखा-

''ठनकता था गेहुँअन

तो नाच के किसी अँधेरे कोने से

धीरे-धीरे उठती थी

एक लंबी और अकेली

भिखारी ठाकुर की आवाज।''[33]

संदर्भ-ग्रन्थ

1. नागेन्द्र प्रसाद सिंह, डॉ0 मिथिलेश कुमारी मिश्रा, संपादक,- भिखारी ठाकुर रचनावली, - प्रकाशक-बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, सैदपुर, पटना, प्रथम, संस्करण-2005, पृ0-323।
2. वही, पृ0-323
3. वही, पृ0-324
4. वही, पृ0-326
5. वही, पृ0-323
6. वही, पृ0-323
7. वही, पृ0-332
8. वही, पृ0-03
9. वही, पृ0-03
10. वही, पृ0-06
11. वही, पृ0-07
12. वही, पृ0-53
13. वही, पृ0-53
14. वही, पृ0-113
15. वही, पृ0-254
16. वही, पृ0-254
17. वही, पृ0-40
18. वही, पृ0-75
19. वही, पृ0-101
20. वही, पृ0-9
21. वही, पृ0-10
22. वही, पृ0-118
23. वही, पृ0-129
24. वही-पृ0-201
25. वही, पृ0-254
26. वही, पृ0-254
27. वही, पृ0 321
28. वही, पृ0 321
29. वही, पृ0-11
30. वही, पृ0-11
31. वही, पृ0-11
32. वही, पृ0-11
33. वही, पृ0-04

●

भारतीय कला एवं संस्कृति में वृक्षों की धार्मिक मान्यतायें

डॉ0 शीतल राणा[*]

भारतीय समाज एवं संस्कृति में वनस्पति पूजन का विशेष महत्व है, वनस्पति मानवीय जीवन से पृथक नहीं, अपितु उससे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि इसका वैज्ञानिक आधार भी है। साथ ही साथ आस्था जगत इससे जुड़ी विशेष मान्यतायें एवं परम्परायें भी है। भारतीय संस्कृति में वृक्ष को सुख एवं सौभाग्य प्रदान करने वाला, मनोकामना को पूर्ण करने वाला आदि मान्यताओं पर आधार पर उसका पूजन एवं अर्चन किया जाता है।[1] वैदिक साहित्य में वृक्ष एवं वनस्पति के लिये ''वनिन'' शब्द का संदर्भ प्राप्त होता है तथा वनस्पति का मूल अर्थ वृक्ष ही है।[2] भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों में वृक्षों की पूजा के अनेक विवरण मिलते है। यह पूजन भी दैवपूजन, गिरिपूजन एवं नदीपूजन के सांस्कृतिक स्तर के ही तरह हैं। वृक्ष एवं वनस्पति पूजन की पृष्ठभूमि में जनमानस के मन मस्तिष्क की जो सहज प्रवृत्ति रही होगी, जिस भी कारण से उसका विविध प्रकार की वनस्पतियों की तरफ झुकाव रहा और उसको दैव स्वरूप मान्यता दी गयी इसका उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में किया गया है।

एको वृक्षों हि यो ग्रामे भवते् पणीफलान्वितः।

चैत्यो भवति निर्ज्ञातिरचैनीयः सुपूजितः।।[3]

अर्थात् किसी स्थान अथवा गाँव में कोई वृक्ष फूल, फल एवं पत्तियों से लदा होता है जिसके कारण वह पूजनीय समझा जाता है। इस प्रकार के वृक्ष एवं वनस्पतियों को पूजनीय जानकर उन्हें किसी वस्तु से घेर दिया जाता था। वेदिका एवं चारदिवारी से भी पूजनीय स्थान को धार्मिक प्रक्रिया के निमित्त सीमाबद्ध करना अत्यावश्यक था। रामायण एवं महाभारत में इस प्रकार की वेदिकाओं का संदर्भ प्राप्त होता है। प्राचीन काल से ही हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्मो के मध्य वृक्षापूजन की परम्परा प्रचलित रही है।[4]

सामान्यतः वृक्ष एवं वनस्पतियों सृष्टिजीवन, विकास एवं उत्पत्ति, उत्पादन एवं पुनरूत्पादन के सिद्धान्त को व्यक्त करने हेतु जाना जाता है। साथ ही यह मानवीय जीवन की निरन्तरता का भी प्रतीक है। भारत के पर्वतीय एवं मैदानी क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों की भरमार थी। वर्तमान समय में मैदानी भू-भाग पर कुछ न खण्ड ही शेष बच गये हैं। परन्तु पर्वतीय स्थलों पर अभी विस्तृत मात्रा में प्राकृतिक वनस्पतियाँ और वन विद्यमान हैं। भारतवर्ष के अनेक स्थलों पर विविध प्रकार की वनस्पतियों का संग्रह पाया जाता है जो छोटे एवं बड़े वृक्ष, झाड़ एवं विविध प्रकार लताओं के रूप में विद्यमान हैं जिनका भारतीय संस्कृति में विशेष महत्व है। इन वृक्षों एवं वनस्पतियों में पीपल, अशोक, बरगद, या वटवृक्ष, नीम, बेलपत्र, आँवला, केला, आम, तुलसी, बाँस, कुश, दूर्वा, पद्म एवं कल्पवृक्ष आदि प्रमुख हैं। भारतीय संस्कृति में स्त्रियों के मध्य इन वृक्षों एवं वनस्पतियों के पूजन एवं अर्चन की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान है।[5]

पीपलः- भारतीय संस्कृति में इस वृक्ष की प्राचीनतम मान्यतायें एवं परम्परायें हैं। ऋग्वेद में इसे अश्वत्थ कहा गया है।[6] अर्थवेद में पीपल के धार्मिक महत्व का विशेष संदर्भ प्राप्त होता है। जिसके आधार पर इसमें विविध प्रकार के दैव धर्म का निवास स्थल माना गया है। धर्मशास्त्रों में प्रत्येक बुद्ध एवं जैन तीर्थकारों के लिये पवित्र के वृक्ष की कल्पना स्वीकार की गयी है। ब्राह्मण धर्मग्रन्थों में समस्त वृक्षों में पीपल के वृक्ष को पवित्र माना गया है तथा इस वृक्ष को अश्वत्व भी कहा जाता है।[7]

वनस्पतिं पवमान मध्या समङ्गधिधारया।

सहस्त्रवल्शं हरितं भ्राजमानं हिरण्मयम।।[8]

अर्थात् हे सोमदेव आप अपनी मधुरूपी धारा के द्वारा इस वनस्पति को सींच दो, जो अनेकों सहस्त्राशाखाओं से परिपूर्ण हो और हरियाली युक्त होने के साथ ही साथ अत्यन्त प्रकाश युक्त भी हो।

इस वृक्ष को लेकर जनमानस में आज भी यह मत प्रचलित है कि यदि कोई भी मनुष्य इस वृक्ष की शाखाओं को काटता है, तो उसका प्रतिफल उसे सहन करना कठिन होता है। उसकी मानसिक स्थिति इस प्रकार से हो जाती है जैसे किसी देवता के जीवित अंग को ही उसने काट दिया हो। गीता में जिसे उर्ध्वमूल अधःशाखा कहते हैं, वह भी अश्वत्य रूपी वृक्ष है।[9] भरहुत स्तूप की वेदिका पर बुद्ध के पूर्व जीवन पर आधारित जातक कथा के अन्तर्गत बोधिवृक्ष अर्थात पीपल के पूजन का दृश्यांकन प्राप्त होता है

* ऐसोसिएट प्रोफेसर, संग्रहालय विज्ञान अनुभाग तथा प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

(चित्र संख्या 1)[10] प्रायः शनिवार के दिन इस वृक्ष के पूजन की विशेष परम्परा है। ऐसी मान्यता है कि इस वृक्ष के पूजन से दाम्पत्य सुख, संतान प्राप्ति एवं सुख तथा सुबृद्धि का विकास होता है (चित्र संख्या 2)[11]

चित्र संख्या 1. भरहुत स्तूप की वेदिका पर अंकित बोधिवृक्ष का पूजन करते हुये उपासक।

चित्र संख्या 2. बोधगया स्थित बोधिवृक्ष।

वट या बरगदः-यह वृक्ष प्राचीन काल से ही ऋषि एवं साधुओं की तपस्थली रहा है। साथ ही साथ यह अपनी आयु और विशालता के लिये भी विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के अनुसार इस वृक्ष में देवी सावित्री का वास है तथा अमावस्या के दिन विशेष प्रकार से पूजन किया जाता है।

बेलपत्रः- इस पत्र का उपयोग पूजन-अर्चन हेतु किया जाता है, इसे श्रावण मास के साथ प्रत्येक अवसर पर शिवलिंग पर चड़ाया जाता है।

आँवलाः- इसके फल का उपयोग करने से अनेक प्रकार के रोगों को दूर किया जा सकता है। इस वृक्ष का पूजन कार्तिक मास की अक्षय नवमी के समय पर किया जाता है। साथ ही कार्तिक माह में आँवला वृक्ष से जुड़ा हुआ उत्सव विशेष प्रसिद्ध है।

नीमः- इस वृक्ष में देवी शीतला का वास माना जाता है। इसकी पत्तियों एवं छालों के उपयोग से विविध प्रकार के रोगों का शमन होता है।[12]

केलाः- इस वृक्ष के फल एवं पत्तियों का उपयोग धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर किया जाता है। प्रायः बृहस्पतिवार के दिन स्त्रियों के द्वारा मंगल कामना के लिये भी इसका पूजन किया जाता है।

बाँसः- प्रायः इसका उपयोग धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर विशेष रूप से किया जाता है। यह वृक्ष वंश-वृद्धि का द्योतक भी है। जनमानस में ऐसी मान्यता है कि जिस प्रकार एक बाँस से अनेक बाँसों का उदय होता है, उसी प्रकार नवविवाहित वर-वधु का वंश पीढ़ी बढ़ता रहे और संतान के द्वारा वंश परम्परा का किर्तिध्वज बाँस की ऊंचाइयों के समान ऊँचाई पर पहुँच जाये। इस वृक्ष का उपयोग विवाह के अवसर पर विशेष रूप से किया जाता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में बाँस की पैदावर अच्छी होती है।[13]

कुशः- भारतीय संस्कृति में कुश का विशेष धार्मिक महत्व है। पौराणिक संदर्भ से ज्ञात होता है कि सागर-मंथन के बाद देवताओं के द्वारा अमृत घट को कुश पर ही रख कर ले जाया गया था। **कुमारसंभवम्**[13] एवं **अभिज्ञानशाकुन्तलम**[14] में कुश अथवा दर्भ धार्मिक दृष्टिकोण से पवित्र समझा गया है। देवपूजन एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर कुश का उपयोग विशेष रूप से किया जाता है।[15]

पद्मः- भारतीय साहित्य, कला एवं धर्म में पद्म का एक अलग स्वरूप प्राप्त होता है। **रघुवंश**[16] एवं **ऋतुसंहार**[17] में पद्म के विविध नाम अभिहित हैं जिनमें अरविन्द, पंकज, सरसिज, उत्पल, कमल, अम्बुज और अभ्योरूह आदि। प्रातः काल सूर्योदय के समय इस पुष्प का पूर्ण विकास होता है। धार्मिक दृष्टिकोण से विष्णु के नाभी स्थल से निकले हुये पद्म पर ब्रह्मा जी विराजमान रहते हैं। एक पूर्ण विकसित पद्म मन-मस्तिष्क का प्रतीक माना जाता है। भारतीय कला में पद्म का अनेकों बार अंकन पंचदल, षड्दल, अष्टल एवं षोड्दल के रूप में प्रस्तर एवं मृण्मूर्ति शिल्प के साथ ही साथ चित्रकला एवं हस्तशिल्प में भी मिलता है।

(चित्र संख्या 3,4)। पूजन के रूप में इसे अनेक प्रकार के देवी देवताओं को भी चढ़ाया जाता है।

चित्र संख्या 3 पद्म पुष्प का अलंकरण।

चित्र संख्या 4. पद्म पुष्प का चित्रण।

कल्पवृक्षः- भारतीय साहित्यिक संदर्भो में कल्पवृक्ष की कथा का अत्यन्त रोचक विवरण प्राप्त होता है। **महाभारत** के आदिपर्व में उल्लिखित है कि समुद्र मंथन के समय 14 रत्नों के साथ कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ था। **रामायण** में संदर्भ प्राप्त होता है कि सुग्रीव ने सीता की खोज के लिये अपनी बानर सेना को उत्तरकुरू प्रदेश में भेजा और कहा कि वहाँ ऐसे वृक्ष मिलेंगे जो हमेशा फलों और फलों से लदे होंगे, वे सभी अभीष्ट वं काल्पनिक वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न करते हैं। वस्त्राभूषण, भोज्य-पान, रूप एवं यौवन से भरी गुणवान स्त्रियाँ आदि यह सभी उन कल्पवृक्षों से प्राप्त किया जा सकता है।[18] ऐसा मानना है कि कल्पवृक्ष की वरदान की शक्ति बहुत ही प्रबल है। इस वृक्ष के नीचे खड़े होकर किसी भी प्रकार की कल्पना करके कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है।[19] साँची के तोरण द्वारों पर स्त्री एवं पुरूष कल्पवृक्ष के द्वारा दिये गये वरदानों का उपयोग करते हुये रूपायित किये गये हैं। इसके अलावा भरहुत की वेदिकाओं पर भी इस प्रकार का दृश्यांकन प्राप्त होता है (चित्र संख्या 5)।[20] वर्तमान काल में इस वृक्ष के विधि विधान से पूजन हेतु एक अहाते के रूप में घेरा प्रदान किया जाता है। (चित्र संख्या 6)[21]

चित्र संख्या 5. भरहुत की वेदिका पर रूपायित कल्पवृक्ष।

चित्र संख्या 6. पूजन हेतु एक अहाते से घिरा हुआ कल्पवृक्ष।

उपरोक्त प्रकार के वृक्षों एवं वनस्पतियों के अलावा और भी विभिन्न प्रकार के वृक्ष पवित्र माने गये हैं और विशेष अवसरों पर उनका भी उत्सव मनाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार से वृक्ष इत्यादि का पूजन एवं उत्सव मनाते हैं ठीक उसी प्रकार से वृक्षों एवं

वनस्पतियों से भरे हुये उद्यान में विविध प्रकार के उत्सव एवं क्रिडाओं का आयोजन होता है।

संदर्भ

1. बिमला वर्मा, उत्तर प्रदेश की लोककला भूमि और भित्ति अलंकरण, दिल्ली, 1987, पृ0 37
2. ऋग्वेद, 7,5,5
3. अर्जुन दास केसरी, भारतीय लोककला, सोनभद्र, पृ0 76
4. वही, पृ0 76
5. भगवतशरण उपाध्याय, कालिदास का भारत, दिल्ली, 2005, पृ0 57
6. ऋग्वेद, 1, 135, 8
7. अथर्ववेद, 19, 39, 6
8. ऋग्वेद, 9, 5, 10
9. अर्जुनदास केसरी, पूर्व निर्दिष्ट पृ0 79
10. पृथ्वी कुमार अग्रवाल, प्राचीन भारतीय कला एवम् वास्तु, पृ0 213
11. बिमला वर्मा, पूर्व निर्दिष्ट पृ0 37
12. वही
13. वही
14. कुमारसंभवम, 1, 60
15. अभिज्ञानशाकुन्तलम, 2, 12, 34
16. भगवतशरण उपाध्याय, पूर्व निर्दिष्ट पृ0 71
17. रघुवंश, 1, 42, 5, 69
18. ऋतुसंहार, 2, 2, 14, 3, 24, 5, 10
19. अर्जुनदास केसरी, पूर्व निर्दिष्ट
20. बिमला वर्मा, पूर्व निर्दिष्ट
21. अर्जुनदास केसरी, पूर्व निर्दिष्ट पृ0 80

●

वेदों में मनुष्य-जीवन का प्रशस्त आदर्श

प्रो0 आनन्द कुमार श्रीवास्तव[*]

माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि के समुदाय का नाम कुटुम्ब है। उसके साथ सर्वतः प्रथम हम सब मानवों का कैसा धर्ममय प्रशस्त आदर्श होना चाहिये, इसके लिये वेद उपदेश देते हैं-

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अपने-अपने माता-पिता के प्रति हम सब मानवों का स्वस्तिमय सद्भाव एवं प्रशस्त आचरण होना चाहिये, जिससे वे स्वगृहावस्थित प्रत्यक्ष देवरूप माता-पिता सदैव सन्तुष्ट तथा प्रसन्न बने रहें और हमें शुभाशीर्वाद देते रहें अर्थात् वृद्ध माता-पिता की कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत् उनकी अभीष्ट देववत् परिचर्या करते रहना चाहिये। कहा भी गया है- **मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव**[2] श्रीरामवत् उनकी प्रशस्त आज्ञा का पालन करना हमारा कर्तव्य है। कदापि कहीं भी प्रमादवश या उच्छृंखलतावश उनके साथ कष्टजनक एवं अशिष्ट व्यवहार नहीं करना चाहिये।

अतएव वेद परिवार के सभी सदस्यों के प्रति ऐसा उपदेश देते हैं कि-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।[3]

''पुत्र पिता के अनुकूल ही कार्य करे, प्रतिकूल कार्य कदापि न करें। माता के साथ भी अच्छे मन वाला बना रहे, दूषित मनवाला नहीं अर्थात् पिता-माता दोनों के प्रति सदा प्रेम-सद्भाव बनाये रहे। इस प्रकार उपलक्षण-न्याय से पुत्री भी माता-पिता के अनुकूल ही कार्य करे और पत्नी भी अपने पति के प्रति मधुर- आह्लादक, सुखमयी वाणी ही बोले अर्थात् द्वेष एवं कुभावपूर्वक कटु वाणी कदापि न बोले। इस प्रकार पति भी अपनी धर्मपत्नी के प्रति भी वैसी ही मधुर वाणी बोले, दूषित नहीं। भाई भाई के प्रति भी सम्पत्तिनिमित्त से विद्वेष न करे, अपितु श्रीराम एवं भरत की भाँति परस्पर प्रेम से अपना स्वार्थ त्याग करने के लिये उद्यत रहे तथा बहन के प्रति बहन भी द्वेष न करे बल्कि सदैव प्रेम-सद्भाव बनाये रहे। उपलक्षण-न्याय से भाई एवं बहन भी परस्पर द्वेष न करें। इस प्रकार परिवार के सभी सदस्य भी शुद्ध मन वाले बनकर परस्पर शुभाचरण रखते हुये भद्रवाणी ही बोलते रहें।''

इसलिये वेद भगवान् पुनः विशेषरूप से दृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वक यही उपदेश देते हैं-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[4]

''मैं (वेदभगवान्) सदुपदेश के द्वारा कुटुम्ब के वरिष्ठ-कनिष्ठ- तुम सब सदस्यों का हृदय सहृदय यानी परस्पर प्रेम-सद्भावयुक्त बनाता हूँ। समान भाववाला हृदय ही सहृदय कहा जाता है। जैसे अपना यह हृदय अपना अनिष्ट न कभी चाहता है न कभी करता है, प्रत्युत् सर्वदा अपना इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वैसे ही जो हृदय अन्यों का भी अनिष्ट न कभी चाहता है, न कभी करता है, प्रत्युत् इष्ट ही चाहता एवं करता रहता है, वह प्रशस्त समभाववाला हृदय ही सहृदय हो जाता है। इस प्रकार मैं तुम्हें सांमनस्य का उपदेश देता हूँ।

इस प्रकार वेदभगवान् हम मानवों के गृहों में पूर्वोक्त सद्गुणों के विकास द्वारा स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करने के लिये ऐसा उपदेश देकर हमारे लिये पारिवारिक आदर्श प्रदर्शित कर रहे हैं।

सद्बुद्धि-लाभ की कामना

मानवों में निहित स्व-पर-हितकर सद्भावनारूप धर्म ही मानवता कहा जाता है, इसी का अपर नाम सद्बुद्धि है। यह सद्बुद्धि ही मानव को सच्चा मानव बनाकर सद्गुणमयी सुख-सम्पत्तियों से सदा प्रफुल्लित-सुगन्धित- रमणीय-स्वादु-फलाढ्य आनन्दरूपी भवन में स्थापित कर धन्य बना देती है और जिसमें कुबुद्धि बनी रहती है, वह मानव मानव ही नहीं रहता, अपितु सम्पूर्ण पशु बन जाता है तथा विविध विपत्तियों के कुत्सित गर्त में पड़कर दुःखी ही बना रहता है।

यह सद्बुद्धि की प्रार्थना वैदिककाल से ही चली आ रही है। अतएव हमारे अतिपवित्र वेदों में भी सद्बुद्धि-लाभ की प्रार्थनायें इस प्रकार की गयी है-

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।[5]

उर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।[6]

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां

देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम्।[7]

''हे विष्णो! तुझ महान् परमात्मा की सर्वजन-सुखकर-हितकर सद्बुद्धि का हम सेवन करते हैं। सद्गुरु महर्षि आशीर्वाद देते हैं

* अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

कि- ''हे शिष्य! तुझे उर्वी यानी उदार-विशाल सद्भाववाली एवं गम्भीर सद्बुद्धि प्राप्त हो।' ''हम सब मानव कुटिलतारहित सौम्य-स्व-परहितकर सरल स्वभाव का सम्पादन करना चाहते हैं; अतः हमें इन महान् देवों की कल्याणकारिणी सद्बुद्धि का लाभ हो, वे महान् कृपालु देव हमें सद्बुद्धि का दान दें।' इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानस में कहते हैं-

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

अर्थात् सुमति ही विविध सद्गुणरूपी सम्पत्तियों की जन्मदात्री है और कुमति दुर्गुणमूलक विपत्तियों की।

स्व-पर-मैत्री-लाभ की याचना

शुक्लयजुर्वेदसंहिता में सर्वभूतसुहृद् परमात्मा से मनुष्य इस प्रकार स्व-पर- मित्रता-लाभ के लिये प्रार्थना करते हैं-

दृते दृँ॑ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥[8]

''हे दृते! अर्थात् सर्वजन के द्वारा आदरणीय-प्रार्थनीय अनन्तानन्दनिधे भगवन्! हे निखिलशोक-संताप-विदारक परमात्मन्! तू मेरे दुर्गुणादि का निवारण करके मुझे मैत्र्यादि सद्भावना से युक्त बना! मनुष्यादि विविध समस्त प्राणिवर्ग मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, शत्रु की दृष्टि से नहीं- ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं सबको मित्र सदृश सुखकर-हितकर प्रिय दृष्टि से देखता हूँ, यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है और हम सब मानव मित्र की दृष्टि से ही एक-दूसरे को देखते हैं, यह हम सबकी समष्टि-प्रतिज्ञा है अर्थात् मैं समस्त मानवादि प्राणिवर्ग को आत्मवत् प्रिय मानूँ- केवल प्रिय ही नहीं, किन्तु उनका हितकर-सुखकर भी बना रहूँ और वे भी मुझे प्रिय मानें, मेरे प्रति हितकर-सुखकर ही बने रहें।'

पुण्यमयी लक्ष्मी के लाभ की प्रार्थना

अन्यायोपार्जिता एवं अनीतिपूर्वक संगृहीता लक्ष्मी पापिनी लक्ष्मी मानी जाती है। ऐसी दोषपूर्ण लक्ष्मी समाज में संघर्ष उत्पन्न कर देती है; जो मानव के लिये दुर्गतिकारिणी होती है, और जो लक्ष्मी नीति, धर्म एवं परिश्रम से उपार्जित है, जिसके लिये किसी के प्रति अत्याचार नहीं किया गया, वह लक्ष्मी पुण्यमयी भद्रा लक्ष्मी है।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।

प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति॥[9]

वह शिष्ट-प्रशंसा, यश, पुण्य एवं ईश्वर-कृपालाभ द्वारा मनुष्य को सद्गति प्रदान करती है। इसलिये अथर्वसंहिता में ऐसी प्रार्थना की गयी है-

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।

अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥[10]

''जो लक्ष्मी दुर्गतिकारिणी है- जिसका लोभ मानव को धर्म एवं नीति से विमुख कर देता है, शिष्ट मानव जिसका सेवन नहीं करते एवं जिसमें प्रीति नहीं रखते, वस्तुतः ऐसी लक्ष्मी लक्ष्मी ही नहीं है, अपितु अलक्ष्मी है। जिस प्रकार 'वन्दना' नाम की लता हरे-भरे वृक्ष का शोषण करती है, उसी प्रकार वह मेरा भी शोषण करती है। इसलिये हे सविता देव! उस दोषपूर्ण लक्ष्मी को मेरे समीप मत रहने दें, मत आने दें, उसे अन्यत्र ही रहने दें। सुवर्ण के समान ज्योतिर्मय हस्तवाले सवितादेव मुझे धर्म, नीति एवं श्रम द्वारा प्राप्त होने वाला सद्वृत्तिमूलक धन देकर मुझ पर कृपा करें।'

सम्पूर्ण पापों के निवारण द्वारा मानवीय-भावना का विकास

मानव जब तक दुश्चरित्र-दुर्भावनादि रूप कल्मषों का निवारण नहीं करता, तब तक उसमें अवस्थित सुप्त मानवता का विकास नहीं होता; इसलिये हमारे पवित्र वेदों में इन दुर्गुणों के निवारण के लिये एवं अपनी रक्षा के लिये सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से पुनः-पुनः प्रार्थनायें की गयी हैं-

श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।

पर्षि णः पारमहंसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥[11]

अर्थात् हे रुद्र- दुःखनाशक भगवन्! उत्पन्न हुये सम्पूर्ण विश्व के मध्य में अपरिमित ऐश्वर्य से आप ही एक मात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध शक्तियों के द्वारा बढ़े हुये देवों के मध्य में एकमात्र तू ही अतिशय बढ़ा हुआ है। वे- आप भगवान् हम सभी मानवों को दुश्चरित्रूप पाप से, जो पशुता एवं दानवता का विकासक है- अनायास ही पार कर दें, उस पाप के दुःख- दुर्भावना आदि सभी कारणों से भी हमें पृथक् कर दें-

यदाशसा निःशसाभिशसोपारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।

अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥[12]

''जागते हुये या सोते हुये अर्थात् जानते हुये या नहीं जानते हुये हमने मिथ्या आशा से या कामादि दोषों से अथवा दुष्ट संस्कारों से एवं कुसंगति से जो-जो दुश्चरित्रूप पाप किये हैं या करते हैं, अग्नि शिष्ट (देव) पुरुषों के द्वारा असेवित उन सभी पापमय दुष्कृतों को हम सब मानवों से पृथक् करके दूर भगा दें।''

द्यूतक्रीडा निषेध एवं कृषि कार्य के लिये उपदेश

मानव जब श्रम से पराङ्मुख होता है और नितान्त सुविधाप्रिय, विलासी एवं आलसी बन जाता है तथा परिश्रम के बिना ही धन-धान्यादि-प्राप्ति की अभिलाषा रखता है, तब उसमें मानवता-विरोधी दानवता के पोषक दुर्गुणों का आधिक्य हो जाता है। श्रम द्वारा पसीना बहाकर कुटुम्ब-निर्वाह के लिये जिससे धन-धान्यादि प्राप्त किया जाता है, वही कृष्यादि उत्कृष्ट साधन हृदय का शोधक एवं मानवता का विकासक बन जाता है। प्रसिद्ध अनेकविध श्रमों में से एकमात्र कृषि ही श्रमों की पराकाष्ठारूप मानी गयी है। भारत में

जहाँ बेकारी एवं दरिद्रता नग्न रूप से नाच रही है और जनसंख्या भी अनियन्त्रित रूप से बढ़ रही है, वहाँ विशेषरूप से उत्पादक कृषकवर्ग की समुन्नति की विशेष आवश्यकता है। इसलिये वेद भी मानवों के प्रति कृषि के लिये इस प्रकार उपदेश देते हैं-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।

तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥[13]

अर्थात् ''हे कितव! तू पासों से जुआ मत खेल। जीवन-निर्वाह के लिये तू कृषि कर अर्थात् परिश्रमी बन। नीति के मार्ग से कमाये हुये धन को बहुत मानता हुआ तू उसमें ही रमण कर अर्थात् संतोष रखकर प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप कृषि में ही गौ आदि पशु भी सुरक्षित रहते हैं एवं उसमें ही स्त्री आदि परिवारीजन भी प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषि के प्रति इन सवितादेव ने मानवों को उपदेश देने के लिये कहा है।''

सामंजस्य एवं सहकारिता के भाव का उपदेश

समस्त अभ्युदयों का प्रयोजक है समाज में एवं राष्ट्र में परस्पर संघट्टन, संवदन, सद्भाव तथा अपने ही न्यायोचित भाग में एकमात्र संतोष रखना, दूसरों के भागों को लेने की इच्छा तक भी नहीं करना- यही मानवता का विकास-आदर्श चरित्र है। इसका निखिल वसुधानिवासी मानवों के हित के लिये वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥[14]

आप सब मानव धर्म एवं नीति से संयुक्त हुये परस्पर प्रेम से सम्मिलित ये संघटित बनें। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्यों को ही बोलें तथा आप सबके मन, सुख-दुःखादिरूप अर्थ को सबके लिये समानरूप से जानें। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादिदेव धर्म एवं नीति की मर्यादा को जानते हुये अपने ही हविर्भाग को अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भाग को अङ्गीकार करें, अन्य के भाग को अन्याय से ग्रहण मत करें।

अथर्ववेद भी हमें इस प्रकार की एकता उपदेश देता है-

मा वि यौष्ट अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत।[15]

एक-दूसरे से प्रेमपूर्वक सत्य, प्रिय एवं हितकर भाषण करते हुये तुम सब मानव आगे बढ़ो, अलग-अलग मत होओ, परस्पर विरोध मत करो, प्रत्युत् सम्मिलित होकर शान्ति से रहो।

समानता का सदुपदेश

विषमभाव अशान्ति एवं दुःख का कारण है तथा समभाव शान्ति और आनन्द का आविर्भावक है। इसका प्रत्यक्षानुभव मानवों को अपने लौकिक व्यवहारों में भी होता रहता है। परमार्थ-कल्याण मार्ग में तो विषमभाव का त्याग नितान्त अपेक्षित है, इसके बिना समभाव का लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः विषमभाव का विष के समान परित्याग करके अमृत के समान समभाव को धारण करने के लिये वेदभगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[16]

आप सब मानवों की आकूति अर्थात् संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार समान-समभाव वाले, सरल-कापट्यादिदोषरहित; स्वच्छ रहे एवं आप सब मानवों के हृदय भी समान-निर्द्वन्द्व, हर्ष-शोकरहित समभाववाले रहे तथा आप सब मानवों का मन भी समान-सुशील, एक प्रकार के ही सद्भाववाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन साहित्य पुरुषार्थचतुष्टय का समुच्चय सम्पादित हो, उस प्रकार आपके आकृति-हृदय एवं मन हों।

इस प्रकार स्वतः प्रमाण वेदों में मानवों के उत्कृष्ट आदर्शों का वर्णन प्रचुररूप में किया गया है। मानव-जीवन को आदर्शमय बनाने में भगवत्प्रार्थना एक मुख्य प्रयोजन साधन माना गया है। जो मानव उन अपने अन्तर्यामी सर्वात्मा भगवान पर दृढ़ विश्वास रखता है, उनके शरणापन्न बना रहता है, उनके शुभाशुभ सभी विधानों में जो संतुष्ट रहता है, सभी परिस्थितियों में उनकी पावन मधुर स्मृति बनाये रखता है और विश्व के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिये हृदय के सद्भावों के साथ उन सर्वसमर्थ प्रभु की प्रार्थना करता रहता है, उस मानव में पशुता एवं दानवता का ह्रास होकर मानवता का विकास हो जाता है। केवल मानवता का ही नहीं, किंतु उन परमकरूणामय भगवान् की आत्यन्तिक कृपा से उसमें क्रमशः देवत्व का विकास होकर उसका मानव-जीवन धन्य एवं अनुकरणीय बन जाता है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद 1/31/4, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
2. तैत्तिरीयोपनिषद् (शीक्षावल्ली), शाङ्करभाष्य (भाषानुवाद), गीता प्रेस, गोरखपुर (उ0प्र0) वर्ष 1999 ई0
3. अथर्ववेद 3/30/2-3, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
4. अथर्ववेद 3/30/1, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
5. ऋग्वेदसंहिता 1/156/3, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
6. वही, 1/24/9
7. वही, 1/89/2

8. यजुर्वेद 36/18, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
9. चाणक्यनीति 15/6, भाषाटीका, सम्पादक- पं0 रामतेज पाण्डेय एवं पं0 रामबिहारी मिश्र
10. अथर्ववेदसंहिता 7/115/2, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
11. ऋग्वेदसंहिता 2/33/3, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
12. ऋग्वेदसंहिता 10/164/3, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
13. ऋग्वेदसंहिता 10/34/13, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
14. ऋग्वेदसंहिता 10/191/2, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
15. अथर्ववेद 3/30/5, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0
16. ऋग्वेदसंहिता 10/191/4, सम्पादक- पं0 श्रीरामशर्मा आचार्य, प्रकाशक- संस्कृति-संस्थान, ख्वाजाकुतुबनगर (वेदनगर) बरेली, वर्ष 1999 ई0

●

नैषधीयचरित में उल्लिखित पौराणिक आख्यानों का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ0 राजेश सरकार[*]

संस्कृत-साहित्य के समृद्ध रचनासंसार में श्रीहर्ष का स्थान अप्रतिम है। श्रीहर्ष के इस सातिशयता का मूलाधार उनका वैदुष्यपूर्ण सहृदय-श्लाघ्य हृदयावर्जक काव्य नैषधीयचरित है। महाभारत के वनपर्व के 'नलोपाख्यान' में वर्णित निषधपति नल एवं विदर्भराजदुहिता भैमी दमयन्ती के प्रणय-परिणय की सरस मञ्जुल कथा को आधार बनाकर स्वमौलिकता के बल से जिस अपूर्व काव्य की सर्जना महाकवि श्रीहर्ष के द्वारा की गयी; उसने उन्हें जरामरण के भय से मुक्त करते हुए शाश्वत कर दिया- आचार्य भर्तृहरि ने कहा भी है-

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्[1]

वैदिक, व्याकरणिक, दार्शनिक, पौराणिक, काव्यमयी, रसमयी एवं बहुविध विशिष्टताओं के कारण नैषध पण्डितवर्ग के लिए आरोग्यदायिनी औषधि के रूप में कार्य करती है, अर्थात् उनके पाण्डित्य में सतत अभिवृद्धि करती है-

'नैषधविद्वदौषधम्'

यह नैषधकाव्य की विशेषता ही है कि अखिल संस्कृत–समाज इस कालजयी रचना पर गर्व करता है और स्वयं ग्रन्थकार भी। सरसता एवं पाण्डित्य का मञ्जुल मणिकाञ्चन-संयोग श्रीहर्ष की अप्रतिहता विदग्धता की सुपरिचायका है। नैषध वह काव्य है जिसका रसपान दुर्धर्ष पाण्डित्यमण्डित सहृदय ही कर सकता है। महाकवि स्वयं गर्वोक्ति करते हुए कहते हैं-

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी

कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते?

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः

किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः।।[2]

अर्थात् जिस प्रकार अक्षतकौमार्ययुक्ता परमरमणीया रमणी बाला का सौन्दर्य युवक को आकृष्ट करता है, बालक को नहीं। उसी प्रकार मेरा यह काव्य युवा सदृश सुधी रसज्ञों के लिये है। यदि बालकरूप मूर्ख अरसज्ञ मेरी कविता का अनादर करे तो क्या?

महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधकाव्य में स्वीय पुराणविषयक ज्ञान का अपूर्व परिचय दिया है। पुराण की कथाओं ने इस दुरूह काव्य को सरस एवं मञ्जुल बनाया है। इस क्रम में नैषध में उल्लिखित पौराणिक आख्यानों का समीक्षापरक विश्लेषण ध्यातव्य है-

शिवार्चना में केतकी पुष्प का अविहित होना-

उपर्युक्त कथा स्कन्दपुराणान्तर्गत माहेश्वरखण्ड केदारखण्ड अध्याय षष्ठ तथा अरुणाचलमाहात्म्य 10/150 तथा 'शिवपुराण' विश्वेश्वरसंहिता अध्याय 6/8 एवं लिंगपुराण अध्याय 1/19 में सुविस्तृतरूपेण वर्णित है। एक समय प्रजापिता ब्रह्मा एवं श्रीविष्णु में ज्योतिर्लिङ्गरूप शिव का पता लगाने के लिए विवाद हुआ एवं दोनों उसका पता लगाने के लिए निकले। प्रजापिता ब्रह्मा ऊर्ध्व भाग का पता लगाने के लिए सत्यलोक की ओर तथा श्रीविष्णु निम्नभाग में पाताल की ओर गये। श्रीविष्णु पाताल में कहीं भी लिंग शरीर का अन्त न पा सके और लौट आये, किन्तु प्रजापिता ब्रह्मा ने असत्य का आश्रय लेकर कहा कि मैंने अन्त पा लिया है। इस सन्दर्भ में केतकी पुष्प एवं सुरभि गौ को साक्षी बनाकर कहा कि शिवलिंग पर केतकी का पुष्प चढ़ा हुआ था। उसी समय आकाशवाणी ने प्रजापिता ब्रह्मा के असत्य की निन्दा करते हुये उन्हें शाप दे दिया। उसी समय से ही केतकी पुष्प शिवपूजा में निषिद्ध है। पुराणों की इस कथा की श्रीहर्ष ने नैषध में स्थान-स्थान पर सरस चर्चा की है-

(क) विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।

दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम्[3]

(ख) लैङ्गीमदृष्ट्वापि शिरः श्रियं यो दृष्टौ मृषावादितकःकेतकी[4]

(ग)उत्कण्टकाविलसदुज्ज्वलपत्त्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी।

रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा वासर्थितामधृत कांचनकेतकीव।।[5]

कन्दर्प-दाह-

भगवान् शिव द्वारा कामदेव को भस्म करने की प्रसिद्ध कथा मत्स्यपुराण के 154वें अध्याय में वर्णित है। यही कथा शिवपुराण एवं ब्रह्मपुराण में भी प्राप्त होती है। महाकवि श्रीहर्ष ने नैषध के विभिन्न सर्गों में इस कथा के विभिन्न अंशों का उल्लेख किया है, जिनमें कामदेव द्वारा शिव पर शरप्रहार, शिव द्वारा तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्मिभूत करना, मदन द्वारा शिव को जीतने की इच्छा करना इत्यादि मुख्य हैं। इस कथा ने महाकवि की लेखनी द्वारा सरसता प्राप्त की है-

(क) पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया।[6]

(ख) तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयी महरद्धरः।।[7]

---

* अस्सिटेंट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग, कलासंकाय, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

(ग) एकाकीभावेन पुरा-पुरारिर्यः पंचतां पंचशरं निनाय[8]

(घ) कपालिकोपानलभस्मनः कृते[9]

(ङ) हरारब्धक्रोधेन्धनमदन[10]

राहु द्वारा चन्द्राशन

प्रस्तुत कथा श्रीमद्भागवतपुराण के अष्टम स्कन्ध अध्याय 6/9 में प्राप्त होती है। एक समय देव-दानवों ने मिलकर समुद्रमन्थन किया। जिसमें से चतुर्दश रत्न निकले। सबसे अन्त में देववैद्य धन्वन्तरि अमृतकलश लेकर प्रकट हुये। राक्षसों ने उनके हाथों से अमृतकलश को छीन लिया। उसी समय भगवान् श्रीहरि ने मोहिनी अवतार धारण करके कपटपूर्वक देवताओं को अमृत पिला दिया। देवताओं की पंक्ति में देववेष धारण किये हुये राहु भी बैठा था। जिस समय राहु ने अमृतपान किया ठीक उसी समय सूर्य-चन्द्र के द्वारा संकेतिक श्रीविष्णु सुदर्शन चक्र द्वारा राहु का शिरच्छेद करते हैं, किन्तु सुधापान के फलस्वरूप राहु का मस्तक अमर हो गया और वह ग्रहों के अन्तर्गत परिगणित किया जाने लगा। राहु-चन्द्रवैर की इस कथा का उल्लेख नैषधकार ने अनेक स्थलों पर किया है। सिंहिकासुत राहु द्वारा मृग के लोभ में चन्द्र को ग्रसने, राहु द्वारा अपने शत्रु सुदर्शन चक्र के भ्रम में चन्द्रमा को निगलने, राहु-चन्द्र वैर इत्यादि को श्रीहर्ष स्वीय काव्यमयी भाषा में चित्रित करते हैं-

(क) मुनिद्रुः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः
तमिस्रपक्षत्रुटिवटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन्[11]

(ख) दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजासनतोज्झितः[12]

(ग) द्विजपतिप्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः[13]

(घ) मृगस्य लोभात्खलु सिंहिकायाःसूनुर्मृगाङ्कं कवलीकरोति[14]

मत्स्यावतारकथा-

मत्स्यावतार की कथा पुराणों की सुप्रसिद्ध कथा है यह कथा मत्स्यपुराण तथा श्रीमद्भागवतपुराण के अष्टम स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में प्राप्त होती है।

हयग्रीव नामक दानव ने जब वेदों को चुरा लिया तब श्रीविष्णु ने मत्स्यावतार धारण किया। एक दिन वैवस्तव मनु तर्पण कर रहे थे। उसी समय उनके हाथ में एक छोटी सी मछली गिरी जिसने मनु से रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे अपने कमण्डल में रख लिया, किन्तु एक दिन में वह मत्स्य विशालकाय हो गयी। दूसरे पात्र में रखने पर भी वह बढ़ गयी। तदुपरान्त मनु ने उसे क्रमशः कूप, तडाग, गंगा एवं समुद्र में पहुँचा दिया किन्तु उसका आकार बढ़ता ही गया। मनु ने उसे दिव्यप्राणी मान लिया। अन्त में मत्स्यावतार श्रीनारायण मनु पर प्रसन्न हुये और अपना स्वरूप प्रकट किया। मत्स्यावतार श्रीविष्णु ने उन्हें प्रलय की पूर्व सूचना दी।

नैषध में मत्स्यरूप श्रीविष्णु द्वारा मनु को उपदेश देने, मत्स्य रूप में निलीयमान श्रीविष्णु द्वारा समुद्र जल को पुच्छ द्वारा उछालने इत्यादि सहित मत्स्यावतारकथा का सरस उल्लेख है-

(क) श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्ति[15]**,**

(ख) मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः[16]**,**

(ग) छद्ममत्स्यवपुषस्तव पुच्छास्फालना।[17]

वामनावतारकथा-

वामनावतार की कथा श्रीमद्भागवतपुराण के अष्टम स्कन्ध अध्याय अट्ठारह से तेईस पर्यन्त प्राप्त होती है। देवमाता अदिति के गर्भ से जन्म प्राप्त वामनावतार श्रीनारायण ने दैत्यराज बलि द्वारा इन्द्रपद प्राप्त्यर्थ सम्पन्न किये जा रहे अश्वमेध यज्ञ में पगत्रय भूमि की याचना करके विघ्न उपस्थित किया। यद्यपि उन्हें दैत्यगुरु शुक्राचार्य द्वारा सावधान किया जाता है, किन्तु वचनबद्ध राजा बलि दानकर्म में प्रवृत्त होते हैं। यह कथा अन्य पुराणों में संक्षिप्त एवं विस्तृत दोनों ही रूपों में प्राप्त होती है।

नैषधकार ने वामनावतार से सन्दर्भित प्रसंगों की पर्याप्तरूपेण चर्चा की है। वामनविष्णु के आकाश में उठे एक चरण की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं-

(क) हरेर्यदक्रामि पदैककेन खम्।[18]

इसी क्रम में दैत्यराज बलि के यज्ञध्वंस के सन्दर्भ में वामन द्वारा किये गये कपट का उल्लेख ध्यातव्य है-

(ख) विधाय मूर्तिं कपटेन वामनीं। स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्[19]

अन्यत्र भी यह प्रसंग वर्णित है-

(ग) स्वेन पूर्यत इयं सकलाशा भो! बले! न मम किं भवतेति?
त्वं वटुः कपटवाचि पटीयान्देहि वामन! मनः प्रमद नः॥[20]

पारिजातहरणकथा-

पारिजातहरण की कथा पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है। यही कथा यत्किञ्चिद् अन्तर के साथ श्रीहरिवंशपुराण में भी है। एक बार नरकासुर ने देवताओं को पराजित कर उनकी सम्पत्तियाँ लूट ली। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्यभामा ने साथ गरुणारूढ़ होकर नरकासुर का वध एवं देवसम्पत्ति का उद्धार किया देवमाता अदिति का कुण्डल लौटाने श्रीकृष्ण सत्यभामा के साथ अमरावतीपुरी जाते हैं। वहाँ इन्द्रपत्नी शची ने सत्यभामा का स्वागत किया। उसी समय शची इन्द्र-प्रेषित पारिजात पुष्पों को केशों में शोभासंवर्द्धन के लिये धारण करती है; किन्तु सत्यभामा को मानुषी प्राणी समझकर न दिया। अपमानित सत्यभामा यह वृत्तान्त श्रीकृष्ण से कहती है। भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामा के लिये सुरपति इन्द्र से युद्ध करके पारिजात का हरण करते हैं। नैषधकार दमयन्ती-स्वयंवर

के समय इस घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-दमयन्ती स्वयंवर में नलरूप में स्थित इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि इन देवताचतुष्टय के होते हुए भी नलविहीन वह सभा उसी प्रकार से थी जिस प्रकार पारिजातविहीन अन्य देववृक्षों से युक्त अमरावतीपुरी-

सभा नलश्रीयमकैर्यमाद्यैर्नलं विनाभूद्भुतदिव्यरत्नैः।

भामाङ्गणप्राणघुणिके चतुभिर्देवद्रुमैद्यौरिव पारिजाते।।[21]

राजा नल श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए दान के विषय में भगवान् के हाथों को पारिजात से भी श्रेष्ठ बताते हैं-

ते हरन्तु निर्ऋतिव्रततिं मे यैः स कल्पविटपी तव दोर्भिः।

छद्मयादव-तनोरुदपाटि स्पर्द्धमान इव दा-नमदेन।।[22]

चन्द्रमा द्वारा गुरुतल्पगमन-

उपर्युक्त कथा विष्णुपुराण के चतुर्थ अंश के षष्ठ अध्याय में प्राप्त होती है एक समय अहङ्कारग्रसित चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का बलात् हरण कर लिया। गुरु ने प्रजापिता ब्रह्मा से इस कुकृत्य की शिकायत की। ऋषियों ने चन्द्रमा को समझाया; किन्तु चन्द्रमा नहीं माना। इसे लेकर देवताओं ने तारकामय नामक युद्ध किया। शुक्र तथा उसके साथी दैत्य चन्द्रमा के सहायक हुए तथा इन्द्रादि देवताओं ने बृहस्पति के पक्ष से युद्ध किया। चन्द्रमा ने विवश होकर तारा को लौटा दिया। इस मध्य तारा को चन्द्रमा का गर्भ रह गया जिससे बुध का जन्म हुआ। इस प्रसङ्ग का उल्लेख नैषध में कई प्रकार से हुआ है। सप्तदश सर्ग में चार्वाक ब्राह्मणों को अपमानित करते हुये कहता है, ''द्विजो! परस्त्रीगमन में कोई दोष नहीं है तुम्हारे स्वामी द्विजराज चन्द्रमा ने स्वयं परस्त्रीगमन किया था''-

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः।

येषां व पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः।।[23]

राजा नल के विलासभवन में इस आख्यान को लेकर एक नाटिका भी खेली गयी थी-

गौरभानुगुरुगेहिनीस्मरोद्भूतभावमितिवृत्तमाश्रिताः

रेजिरे यदजिरेऽभिनीतिभिर्नाटिका भरतभारतीसुधा।।[24]

दधीचि का अस्थिदान-

यह कथा श्रीमद्भागवतपुराण कथा के षष्ठ स्कन्ध में प्राप्त होती है। एक समय देवता वृत्रासुर से भयभीत होकर श्रीमन्नारायण के शरणागत हुए। श्रीविष्णु ने उन्हें महर्षि दधीचि से अस्थि माँगने को कहा। करुणामय ऋषि दधीचि ने योग द्वारा शरीरान्त करते हुए देवताओं को स्वयं की अस्थि उपलब्ध कराई। देवशिल्पी विश्वकर्मा द्वारा दधीचि- अस्थि से निर्मित वज्र द्वारा वृत्रासुर का वध सम्भव हो सका। राजा नल द्वारा देवताओं से चर्चा के समय इस कथा का स्मरण किया जाता है-

आदधीचि किल दातृकृतार्घं प्राणमात्रपणसीम यशो यत्।।[25]

इसी क्रम में नैषधकार महाकवि श्रीहर्ष ने 'शृङ्गारामृतशीतगुः' के विशेषण से विभूषित इस अनुपम महाकाव्य में चन्द्रमा की समुद्रोत्पत्ति, शिव द्वारा हरिहरावतार, मैनाक द्वारा समुद्र-शरण, जरासन्धोत्पत्ति, सूर्यदेव की सन्ततिकथा, व्यासोत्पत्ति, तारादेवीप्रसङ्ग इत्यादि अनेक पौराणिक कथाओं का उल्लेख सरस एवं मञ्जुल रूप में किया है। श्रीहर्ष द्वारा प्रत्येक कथा का अप्रासङ्गिक उल्लेख नहीं किया गया है। अपितु सम्पूर्ण पौराणिक आख्यान प्रसङ्गवशात् ही प्राप्त होते हैं।

इस क्रम में ध्यातव्य है कि पुराणविद्या से मण्डित विद्वान् ही वैदिकज्ञानराशि के उपबृंहण में सक्षम हो पाता है क्योंकि बिना पुराणों के वेदों का अवबोध कथमपि सम्भव नहीं है-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।[26]

वेद सर्वविधविद्या के उत्स हैं और वह अनन्त वेदराशि पुराणों में निहित हैं। पुराणार्थ को वेदार्थ से अधिक श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है-

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।

वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।[27]

अस्तु पुराणज्ञ का वेदज्ञ होना स्वतः सिद्ध है इस दृष्टि से उपर्युक्त पौराणिक कथाएँ महाकवि श्रीहर्ष के अगाध वैदुष्य का पुष्ट प्रमाण है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. नीतिशतक श्लोक 23 विमला हिन्दी व्याख्या डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी वर्ष-2016
2. नैषधीयचरितम् 22/150 चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या,व्याख्याकार-देवर्षिसनाढ्य शास्त्री चौखम्बा, कृष्णदास अकादमी वाराणसी, सन् 2003 (द्वितीय संस्करण
3. नैषधीयचरितम् 1/78 चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-देवर्षि सनाढ्य शास्त्री चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी सन् 2003 (द्वितीय संस्करण)
4. वही। 10/52
5. वही। 12/110
6. वही। 4/76
7. वही। 4/80

8. वही।10/61
9. वही।9/73
10. वही।15/83
11. वही।1/96
12. वही।4/71
13. वही।4/73
14. वही।22/66
15. वही।3/57
16. वही।17/63
17. वही।21/53
18. वही।1/70
19. वही।1/124
20. वही।21/59
21. वही।10/24
22. वही।21/75
23. वही।17/43
24. वही।18/22
25. वही।5/111
26. महाभारत 1/260 भाषानुवाद, अनुवादक- साहित्याचार्य पं. रामनारायण-दत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम' गीताप्रेस गोरखपुर (उ.प्र.) संवत् 2072 (सत्रहवां पुनर्मुद्रण)
27. बृहन्नारदीयपुराण 2/24/17 (सं. नारदपुराण)गीताप्रेस गोरखपुर (उ.प्र.)

●

पुरातात्विक उत्खननों से ज्ञात खरपतवार : एक विश्लेषण (उत्तर प्रदेश के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ0 सुजाता गौतम एवम् प्रियंका श्रीवास्तव***

मानव जीवन की विकास यात्रा में वनस्पति जगत का विशेष महत्व रहा है। पाषाण युगीन संस्कृतियों की शिकार पर विशेष रूप से निर्भता होने के बावजूद उन्होंने अपने आसपास उपलब्ध वनस्पतियों को भी अपने आहार में शामिल किया। वनस्पतियों पर उनकी निर्भता ने ही सम्भवत: नवपाषाण कालीन समाज को उपभोक्ता से उत्पादक बनने को उत्प्रेरित किया। पृथ्वी पर हरित आवरण को वनस्पति, पेड़ पौधे, घासपात आदि नामों से सम्बोधित किया जाता रहा हैं। मनुष्य ने इन वनस्पतियों के हरित आवरण के महत्व को न केवल जाना बल्कि अनेकों अनुसंधानों द्वारा कृषि क्षेत्र में हरित क्रान्ति कर आर्थिक रूप से सशक्त समाज के निर्माण की नींव रखने की ओर एक कदम बढ़ाया।

आवश्यकतानुसार वनस्पतियों का वर्गीकरण मानव समाज द्वारा अनेक भागों में किया। ये वर्गीकरण मुख्यत: मनुष्य के द्वारा वनस्पतियों के प्रयोग में लाये जाने के क्रम में किया गया जैसे कुछ पौधे खाद्यान्नों से युक्त होते थे जो कि फसल के रूप में उगाये जाते थे, जैसे गेहूँ, चना आदि। कुछ पौधे खाद्यान्न युक्त तो नहीं होते थे परन्तु अन्य प्रकार से मनुष्य के प्रयोग में लाये जाते हैं, जैसे कपास, सन आदि। इन सबके अतिरिक्त प्रकृति में कुछ विशेष प्रकार के पौधे होते है जो कि स्वयं उगते है इन्हें खरपतवार कहते है। पृथ्वी को खरपतवार एक वनस्पति कवर प्रदान करते है जो वर्षा और हवा की अपरिवर्तनीय कार्यवाही के खिलाफ मिट्टी की सतह की रक्षा करते हैं। खरपतवार का इतिहास कृषि की उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ होता है। ऋग्वैदिक काल में भी खरपतवार के अस्तित्व के प्रमाण मिलते है। प्रथम मण्डल में कृषक द्वारा खेत से तुच्छ वनस्पतियों को साफ करके बाहर फेंकने का वर्णन मिलता है।[1] कृषि के साथ खरपतवार के सम्बन्ध को इस प्रकार समझा जा सकता है जैसे कि धातु के साथ कुछ अशुद्धियां जुड़ी होती है जिन्हें कई प्रकार से दूर किया जाता है, उसी प्रकार कृषि के साथ भी खरपतवार जुड़े होते है जिन्हें कई प्राकृतिक व रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा दूर किया जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र में उत्तर प्रदेश के उत्खनित पुरास्थलों से ज्ञात खरपतवारों के महत्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया हैं।

कृषि के प्रारम्भ में मनुष्य ने जब अनाज उगाना शुरू किया तो वहाँ के स्थानीय पौधे फसल के साथ स्वयं ही उग जाते थे तथा फसल के परागकणों के साथ इस स्थानीय पौधों के परागकण भी दूर-दूर तक फैले जाते थें। आदिम कृषक जब फसलों के पकने के बाद उन्हें काटता था तो ये स्थानीय पौधे भी फसल के साथ कट के आ जाते थे तथा बीजों को पुन: बोने पर वे फसल के साथ उग जाते थे। ये स्थानीय पौधे ही खरपतवार कहलाते थे। ये दो प्रकार से फसलों के सहवर्ती हुआ करते थे, पहला कृषकों द्वारा साथ बोने से व दूसरा परागकणों के साथ इन पौधों के दूर-दूर तक फैलने से। इसका एक अच्छा उदाहरण जई के पौधों के साथ देखने को मिलता है। वेविलोव ने जब गेहूँ की खोज में एम्मर के अनेक सैम्पलों का विभिन्न पुरास्थलों से एकत्र किया गया था तो हर सैम्पल के साथ जई के पौधे भी प्राप्त हुये थे।[2]

प्रश्न यह उठता है कि कौन से पौधे खरपतवार हैं? हम यह कैसे निश्चित करेगें? इनकी पहचान क्या है? इस सन्दर्भ में यह बताना आवश्यक है कि खरपतवार का अस्तित्व कृषि के प्रारम्भ के साथ जुड़ा हुआ है। एक खेत में उगायी गयी फसल के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के पौधे का खेत में स्वयं उगना उस खेत में उसकी उपस्थिति खरपतवार के रूप में दर्ज करता हैं। जैसे गेहूँ के खेत में सरसों के पौधे का स्वयं उगना, सरसों का वहां खरपतवार की भूमिका निभाना है। पूरी दुनियाँ में खरपतवार कृषि में एक अनुपयोगी व आर्थिक रूप से कष्ट कारक माने जाते है। हरलेन बताते है कि किस प्रकार पेड़ पौधे मानव के प्रभाव में आने के बाद तीन भागों में विभाजित हो जाते हैं। 1. जंगली पेड़ पौधे 2. फसलें 3. खरपतवार। फसलें वह है जो कि उपयोगी जंगली पौधों से पालतू फसल बनाकर उगाये जाते है जबकि खरपतवार जंगली पौधों से पालतू फसल उगाने के सन्दर्भ में अनजाने में उगने का परिणाम है। 'खरपतवार वह है जो कहीं भी उग जाते है परन्तु यह कौन निश्चित करेगा कि एक पौधा जहां उग जाता है वह वहां उगना चाहिए या नहीं।

खरपतवार की कुछ विशेषताएँ होती है जैसे ये कहीं भी उग जाते है सामान्य फसल की अपेक्षा आक्रामक रूप से बढ़ते हैं। जहाँ कुछ खरपतवार अनुपयोगी होते है तथा मानव पशु व फसलों के लिए हानिकारक होते है। वही कुछ फसल के सुधार के लिए आनुवांशिक पदार्थों के एक महत्वपूर्ण स्त्रोत के रूप में कार्य

* एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोधछात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

करते हैं जैसे की कीटों और बीमारियों के प्रतिरोध के लिए प्रजनन, जो फसल पौधों की जंगली प्रजातियों द्वारा प्रदान की गई आनुवांशिक सामग्री द्वारा संभव हो जाते है। सामान्य फसलों की अपेक्षा इनकी उत्पादन क्षमता अधिक होती हैं।[3] परन्तु सभी खरपतवार हानिकारक नहीं होते हैं। क्योंकि ये फसलों के बीच बिना किसी मानवीय प्रयास के स्वयं ही उग आते थे इसलिए मनुष्य ने फसल उगाने के साथ ही खरपतवार के महत्व को भी जाना व समझा तथा विपरीत परिस्थितियों में जैसे अकाल, बाढ़ के समय जब फसलों का उगना सम्भव नही होता था तो इन स्वयं उगने वाले खरपतवारों को ही भोजन का आधार बनाया। परन्तु खरपतवार का महत्व केवल मानव की खाद्यान्न आपूर्ति तक सीमित नहीं है। इसके अन्य भी महत्वपूर्ण प्रयोग हैं।

किसी भी पुरास्थल के उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों में वनस्पति सम्बन्धित अवशेषों का अध्ययन पुरावनस्पतिशास्त्रीय विश्लेषण कहलाता हैं। इसे अन्तर्गत वनस्पतियों के जले हुए अवशेष, कार्बनीकृत बीज, पत्थरों पर वनस्पतियों के छाप आदि आते है। जिससे किसी काल विशेष में उगने वाले पेड़ पौधों व अनाजों का ज्ञान होता है व तत्कालीन मानव की खाद्यान्न सम्बन्धित आदतों का ज्ञान होता है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि उत्खननों से प्राप्त खरपतवारों के अवशेषों का क्या महत्व है? इनके अध्ययन की क्या उपयोगिता है। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि हर अनाज खरपतवार हो सकता है परन्तु हर खरपतवार अनाज नहीं हो सकती है। वे झाड़ियाँ, फूलों वाले पौधे व लता कुछ भी हो सकते हैं। इनमें से कुछ खरपतवार महत्वपूर्ण होते है वे औषधीय गुणों वाले व अन्य विशेषताओं से युक्त होते है।

उत्तर प्रदेश के विभिन्न पुरास्थलों से प्राप्त होने वाले खरपतवारों का विवरण तालिका संख्या 1 में दिया गया है।

तालिका संख्या-1

क्रम-सं०	वनस्पति का नाम हिन्दी/संस्कृत	वैज्ञानिक/ अंग्रेजी नाम	प्राप्ति स्थान	काल
1	गरलू/ गवेधनुक	Job's Tear/coix lachrym-al jobi	मल्हर[4]	प्रथम काल (लौह पूर्व काल, 1900 से 1700 बी०सी०)
			झूंसी[5]	प्रथम काल (नवपाषाण काल)
			राजा नल का टीला[6]	प्रथम काल (लौहपूर्व युग)
2.	एस्फोडेला टेनुईफोलियस	Aspho-dulos tenuifeli-us	पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर[7]	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा, 800 बी०सी० से 200 बी०सी)
3.	जंगली चावल/श्रामक	Echino-chloa colonum / Shama millet	हुलास[8]	तृतीय काल (शुंग कुषाण काल)
			पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा)
4.	कैचफ्लाइ	Silene conoides/ Catchefly	हुलास	शुंग कुषाण काल
5.	मकड़ा घास	Dactylot-enium aegyp-tium/ Crow foot grass	मल्हर	द्वितीय काल (प्रारम्भिक लौह संस्कृति)
			सोनपहाड़ी[9]	प्रथम अ काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति 100 बी०सी० से ७ बी०सी०) प्रथम ब काल (उत्तरी कृष्ण मार्जित पात्र परम्परा संस्कृति 700 बी०सी० से 100 बी०सी) द्वितीय काल (कुषाण काल 100 ए० डी० से 300 ए०डी
6.	अंजन घास	Anjan grass/ cenchrus ciliaris	हुलास	प्रथम काल
			मल्हर	द्वितीय काल
			नरहन[10]	प्रथम काल नरहन

				संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी
7.	बोखर क्लोव	Melitlot-us alba	मल्हर	द्वितीय काल (प्रारम्भिक लौह काल)
			पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर	तृतीय काल (कुषाण काल)
8.	कॉमन वीच	Vicia sativa/ common vetch	हुलास	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा 800 से 500 बी०सी०)
			टोकवा[11]	प्रथम काल
			झूंसी	नवपाषाण काल
			हुलासखेड़ा (आई०ए० आर०1983-84)	प्रथम काल चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
9.	कोदो	Paspalum Scrobicul-atum	हुलास	शुंग कुषाण काल
			पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा)
			नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति,1300 से 800 बी०सी०)
10.	क्राट वीड	Palygon-um barbatum	हुलासखेडा	प्रथम काल (चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति)
			हुलास	शुंग कुषाण काल
11.	सरसों	Field brassica	टोकवा	प्रथम काल
			पक्काकोट[12]	द्वितीय काल (ताम्रपाषाण काल
12.	जंगली पालक	Amaranth-us sp.	इमलीडीह[13]	प्रथम काल (पूर्ववर्ती नरहन संस्कृति)
			नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति)
			सोनपहाड़ी	प्रथम अ काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
				प्रथम ब काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा संस्कृति)
				द्वितीय काल (शुंग कुषाण काल)
			हुलास	प्रथम काल (पूर्ववर्ती चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
			मदनापुर (आई० ए०आर० 1983-84)	प्रथम काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
13.	बथुआ/वस्तक	Chenop-odium album/ Goose-foot grass	टोकवा	प्रथम काल
			पक्काकोट	नवपाषाण काल
			हुलासखेडा	तृतीय काल (शुंग कुषाण काल)
			इमलीडीह	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी० तक)
			नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी०)

			सोनपहाड़ी	प्रथम अ काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
				प्रथम ब काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा संस्कृति)
				द्वितीय काल (शुंग कुषाण काल)
			हुलास	प्रथम काल (पूर्ववर्ती चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
			मदनापुर	प्रथम काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति
14.	इण्डियन गूज ग्रास	Eleusine indica	इमलीडीह	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी०)
15.	जंगली झंगोर	Echinoc-hloa crusgalli	नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी०)
			सोनपहाडी	प्रथम अ काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
				प्रथम ब काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा संस्कृति)
				द्वितीय काल (शुंग कुषाण काल)

16.	कृष्ण घास	Comne-lina benghal-ensis	नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी०)
			सोनपहाडी	प्रथम अ काल चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
				प्रथम ब काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा संस्कृति)
				द्वितीय काल (शुंग कषाण काल)
			पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा)
17.	गोखरू	Tribulas terrestris	मदनापुर	प्रथम काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
18.	फॉक्स टेल ग्रास	Foxtail grass	टोकवा	प्रथम काल
			राजा नल का टीला	प्रथम काल (नवपाषाण काल)
			लहुरादेवा[14]	प्रथम काल
19.	सत्यनाशी	Arge-mone Mexi-cana	नरहन	प्रथम काल (नरहन संस्कृति, 1300 से 800 बी०सी०)
			सोनपहाड़ी	प्रथम अ काल चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)

			पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर	प्रथम काल (उत्तरी कृष्णमार्जित पात्र परम्परा)
20.	पुनर्नवा	Boerhavia diffusa	नरहन (आई०ए०. आर०1987-88, पृ० 151)	प्रथम काल (नरहन संस्कृति)
			हुलासखेडा (आई०ए०आर० 1983-84)	प्रथम काल (चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति)
21.	श्री आई	Celosia argantea	मल्हर	द्वितीय काल

खरपतवारों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेकों प्रकार के खरपतवार पुरातात्विक स्थलों से बड़ी संख्या में प्राप्त हुए है। बड़ी संख्या में मानव बस्तियों के पास से खरपतवारों की प्राप्ति विविध रूपों (जैसे-खाद्यान्न, पशुओं का चारा, आवास आदि के निर्माण में) इनके प्रयोग को दर्शाती है। अनेक विद्वानों द्वारा किये गये खोजों व आदिम जनजातियों द्वारा खरपतवार के प्रयोग के नृतत्वशास्त्रिय प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि इनका महत्व जानने के बाद आदि मानव अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इन पेड़ पौधों पर निर्भर रहता था। आने वाले समय में उसने इनका प्रयोग दवाओं के रूप में, संस्कारो के निष्पादन में विधिविधानों में व आभूषण के रूप में भी इनका प्रयोग किया जाने लगा। वर्तमान समय में भी इन खरपतवारों का प्रयोग दवाओं के रूप में व अकाल में भोजन के रूप में किया जाता हैं।

मानव द्वारा भोजन के रूप में भी कई प्रकार के खरपतवारों का प्रयोग किया जाता रहा होगा। खाद्य संग्रहण के क्रम में जब कृषि के विकास के साथ व्यवस्थित जीवन प्रारम्भ हुआ परन्तु जीवन हमेशा व्यवस्थित नहीं रह सका बाढ़, अकाल आदि अनेक कारण थे जिसने अनेक कठिनाईयां उत्पन्न की, इस समय में खरपतवार ही मनुष्य के सच्चे मित्र बने। इनकी कहीं भी उग जाने की प्रवृत्ति ही मनुष्य के काम आयी। मनुष्य इन्हें भोजन के रूप में प्रयुक्त करता था। जैसे बथुऐ का प्रयोग सलाद के रूप में किया जाता हैं।[15] जंगली पालक की कुछ प्रजातियों में प्रोटीन बड़ी मात्रा में पाया जाता हैं।[16] मकड़ा घास का प्रयोग अकाल में भोज्य पदार्थ के रूप में तथा जानवरों के चारे के रूप में भी इसका प्रयोग होता था। मुर्गीपालन में भी इसके बीज का प्रयोग होता था। अंजन घास अधिक सूखे वातावरण में भी उग जाते है इसमें प्रोटीन व फास्फोरस की अधिक मात्रा होती है। गरलु, लैम्ब्स क्वार्टर, कॉमन रैगवीड, कॉमन विच, आदि भी इसके प्रमुख उदाहरण है।

जानवरों के चारे के रूप में खरपतवार का प्रयोग आदिकाल से ही चला आ रहा है। अनावश्यक रूप से जो खरपतवार खेतों में उग जाते हैं। आदिमानव ने समय के साथ इनका उपयोग सीख लिया। वे इन्हें जानवरों को चारे के रूप में प्रयोग किया करते थे। ऐसे कई प्रकार के खरपतवारों के प्रमाण पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त हुए है जैसे- बथुआ, फॉक्स टेल ग्रास, जंगली पालक, कॉमन विच, रैग वीड आदि।[17]

औषधियों के रूप में भी खरपतवार के प्रयोग किये जाने के प्रमाण मिलते है। मानव ने अपने सम्पर्क में आने वाली हर वस्तु का प्रयोग करना सीख लिया था तो उसके इस गुण से खरपतवार भी अछूता नहीं रह सका। ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जो दर्शातें है कि औषधियों के रूप में भी खरपतवार का प्रयोग किया जाता था। जैसे जंगली पालक की जड़ों का प्रयोग खुजली रोग में किया जाता है।[18] इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग उदरशूल व अत्यावर्त रोग में भी होता है। सत्यानाशी की जड़ों को उबालकर पीने व आंखों तथा मुख धोने से आराम मिलता हैं। शरीर की सूजन को ठीक करने में इसका प्रयोग होता है। पीलिया व त्वचा सम्बन्धित रोगों में भी आराम मिलता है[19] फफोले, कोढ़ व पीलिया में भी सत्यानाशी का प्रयोग होता है।[20] इसी प्रकार पुनर्नवा हृदय व वृक्क की बीमारी में काम आता है। खून की कमी, बुखार व मांसपेशियों के दर्द में काम आता है। श्री आई की पत्तियों का प्रयोग बिच्छु के डंक काटने पर औषधी के रूप में प्रयोग किया जाता है। गोखरू के फलों का प्रयोग मूत्र सम्बन्धित रोगों में प्रयुक्त होता हैं।[21] बथुए की पत्तियों का प्रयोग विरेचक के रूप में होता है। यह एक अच्छा कृमिनाशक भी होता है। बथुआ भूख बढ़ाने में व बवासीर में भी काम आता हैं।[22] नील का प्रयोग दर्द कम करने व दांत के दर्द को दूर करने में प्रयोग किया जाता हैं।

इनके अतिरिक्त खरपतवार के अन्य कई प्रयोग भी हैं। आभूषण के रूप में भी खरपतवार के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। मनुष्य हमेशा से सौन्दर्य का प्रेमी रहा हैं। धातु के ज्ञान के पहले मनुष्य अपने बनाव शृंगार के लिए फूलों पत्तियों व उनसे बनने वाले रंगों का प्रयोग किया करता था। खरपतवार के सम्बन्ध में भी ऐसे ही प्रमाण मिलते है। गरलु (Jobs tear) के बीज का प्रयोग गले की मालाओं में मनकों के रूप में किया जाता हैं।[23]

इन सब के अतिरिक्त खरपतवार के अन्य कई महत्वपूर्ण उपयोग हैं। विसिया सेटिव का प्रयोग हरी खाद के रूप में किया जाता हैं।[24] सामान्य से दिखने वाले खरपतवार मजबूत जड़ तन्त्र

वाले पौधे होते हैं जो नीचे तक जा के खनिज पदार्थों को बड़ी मात्रा में अपनी जड़ों में अवशोषित कर लेते है। इस प्रकार एक बड़ा अन्न पात्र होने के कारण खरपतवार की जड़ें पोषक तत्वों को सोख लेती है जब मैदान साफ करने के लिए इन खरपतवारों को जलाया जाता हैं। तब ये खनिज लवण राख के रूप में पूरे मैदान में फैल जाती हैं। जिससे आगे की फसल अच्छी पैदा होती हैं। इस प्रकार खरपतवार प्रकृति में मृदा के असली रक्षक होते हैं।[25]

मानव अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही पर्यावरण पर पूर्णरूप से निर्भर था। प्रकृति पर उसकी निर्भरता ने उसे तत्कालीन वनस्पति जगत को और अधिक वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिए प्रेरित किया होगा। आदिमानव ने समय के साथ न केवल इन पौधों के महत्व को समझा बल्कि उनमें से उपयोगी पौधों को चुन के उन पर प्रयोग भी किया। इसी क्रम में कुछ ऐसे खरपतवारो का विवरण तालिका संख्या 2 में है जिससे कि आगे चलकर वर्तमान के खाद्यान्न फसलो का विकास हुआ। (तालिका संख्या-2)[26]

तालिका संख्या-2

प्राथमिक फसल	द्वितीयक फसल	खरपतवार के रूप में उत्पत्ति
ट्रिटिकम वल्गैर (गेहूँ)	सिकेल सिरियल (गेहूँ परिवार का सदस्य) वार्षिक अनाज	दक्षिण पश्चिम एशिया
होर्डियम वल्गैर व ट्रिटिकम डाइकोकम (जौ एवं एम्मर गेहूँ)	एवन सेतिव (जई)	यूरोप व पश्चिम एशिया
सन (फ्लेक्स)	रोका सेतिव (जई) केमिलिन सेतिव (जई) स्परगुल लेनिकोला (जंगली धनिया) ब्रैसिका कैम्परट्रिस (कटूक)	मध्य एशिया व ट्रांस काकेशस
अनाज	विसी सेतिव पीसम अरवेनस (मटर) कारियेन्ड्रम सेतिवम (धनिया)	दक्षिण पश्चिम एशिया व ट्रांस काकेशस

खरपतवारों की प्रकृति में उपस्थिति तथा मनुष्य द्वारा इन्हें फसलो के रूप में विकसित करना मानवीय संस्कृति के विकास के एक महत्वपूर्ण घटना थी। जिस प्रकार पुरातात्विक उत्खननों से प्राप्त पुरावस्तुएँ इतिहास के निर्माण में सहायक होती हैं। वैसे ही पुरावनस्पतियों के रूप में प्राप्त खरपतवार भी एक महत्वपूर्ण पुरातात्विक प्रमाण है जो कि उत्खनन से प्राप्त फसलों के बीजों के समान ही महत्वपूर्ण होते हैं।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद संहिता, 1,84,922, श्रीराम शर्मा आचार्य, ब्रह्मवर्चस शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2002
2. कोकेनर, जोसेफ, 1980, 'वीड द गार्जियन आफॅ स्वायल', 'अ डेयर कम्पनी, यू०एस०ए०।
3. चैतन्य, एम०वी०एनव एल०, फार्माकोडायमेनिक एण्ड इथनोमेडिसिनल यूज ऑफ वीड स्पीशीज इन नीलगीरी, तमिलनाडू स्टेट, इण्डिया, अ रीव्यु', ''अफ्रीकन जनरल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च''
4. 'रिपोंट ऑफ एक्सवेशन एट मल्हर, डायरेक्ट्रेट ऑफ यू०पी० स्टेट आर्कियोलाजी, लखनऊ।
5. पोखरिया, अनिल कुमार 2009, 'प्लाट मैक्रो रिमेंस फ्रॉम नियोलिथिक झूंसी इन गंगा प्लेन', करेंट साइंस सं० 17 (4) पृ० 564-571
6. तिवारी, राकेश, 2010-12, 'रिपोर्ट ऑफ एक्सवेशन एट राजा नल का टीला, डिस्ट्रिक सोनभद्र, उत्तर प्रदेश (भारत), 1995-96-97', प्राग्धारा सं० 21-22, 'उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग की ''शोध पत्रिका'', 2011-12, पृ० 1-226
7. तिवारी, डी०पी०, 2006, 'एक्सवेशन एट पिरवितनाशरीफ त्रिलोकपुर, आर्कियोलाजी म्यूजियम, लखनऊ यूनिवर्सिटी, पृ० 177-217
8. दीक्षित, के०एन०, 1978-1983, 'एक्सवेशन एट हुलास', आर्कियोलाजी सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू दिल्ली।
9. तिवारी, डी०पी०, 2004, 'एक्सवेशन एट सोनपहाड़ी एण्ड एक्सप्लोरेशन एट गंगा प्लेन', तरूण प्रकाशन।
10. आई० ए० आर० 1987-88, पृ० 151
11. पोखरिया, अनिल कुमार, 'पेलियोबाटेनिकल रिकार्ड ऑफ कल्टीवेटेड क्राप्स एण्ड एसोसिएटेड वीड एण्ड वाइल्ड टाक्सा फ्राम नियोलिथिक साइट, टोकवा, उत्तर प्रदेश, इण्डिया', करेंट साइंस सं० 94 (2), पृ० 248-55
12. दूबे, सीताराम, अशोक कुमार सिंह, 2012 जी०के० लामा, पक्काकोट, सम न्यू आर्कियोलाजिकल डायमेन्शन ऑफ द मिड-गंगा प्लेन, ऋषि पब्लिकेशन दिल्ली।
13. सारस्वत, के०एस०, 1993, 'सीड एण्ड फ्रूट रिमेंस ऑफ इमलीडीह खुर्द, गोरखपुर, अ प्रिलिमिनरली रिपोर्ट', प्राग्धारा सं० 3, 1992-93, जनरल ऑफ द यू०पी० स्टेट आर्कियोलाजी आर्गनाइजेशन, लखनऊ, पृ० 37-50

14. पोखरिया, अनिल कुमार 2011, 'पेलियोइथनोबाटनी एट लहुरादेवा: ए कान्ट्रीव्यूशन टू द सेकेन्ड मिलेनियम बी०सी० एग्रीकल्चर ऑफ द गंगा प्लेन, इण्डिया, करेन्ट साइंस, वाल्यूम 101, सं० 2, पृ० 1569-1575.

15. चौधरी, ए०बी०, 2014, 'इनडेन्जर्ड मेडिसनल प्लॉटस', दया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 206

16. जिमदहल, रार्बट, एल, 2007, 'फन्डामेण्टल ऑफ वीड साइंस', एकेडमिक प्रेस ऑफ ऐल्जेवियर, पृ० 62

17. पूर्ववत, पृ० 63

18. पूर्ववत, पृ० 246

19. पूर्ववत, पृ० 245

20. रैक्स इमैन्युअल, आर०, 2008, वीड इन एग्रोनामी, इण्टरनेशनल जनरल फॉर फार्मा टेक रिसर्च।

21. जिमदहल, रार्बट, एल, 2007, पूर्ववत, पृ० 248

22. चौधरी, ए०बी०, 2014, पूर्ववत, पृ० 206

23. जिमदहल, रार्बट, एल०, 2017, पूर्ववत, पृ० 246

24. जिमदहल, रार्बट, एल० पूर्ववत, पृ० 247

25. कोकेनर, जोसेफ, 1980, पूर्ववत, पृ० 12

26. कोकेनर, जोसेफ, 1980, पूर्ववत, पृ० 235

●

खजुराहो का पार्श्वनाथ जैन मन्दिर : कला एवं धर्म समन्वय का विशिष्ट उदाहरण

ज्योति सिंह एवम् डॉ. विनय कुमार***

मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो अपने शिल्प-सौन्दर्य एवं मन्दिरों के कारण विश्वविख्यात है। 10वीं से 12 वीं शती ई0 के मध्य चन्देल शासकों के काल में यहाँ अपार संख्या में मन्दिरों व मूर्तियों का निर्माण हुआ।[1] खजुराहो में चन्देल काल में लगभग (950 से 1150 ई0) के मध्य ब्राह्मण और जैन धर्म के लगभग 40 छोटे-बड़े मन्दिर बने जिनमें 25 आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। इन मन्दिरों का निर्माण चन्देल शासक यशोवर्मन, धंग और विद्याधर के काल में हुआ। जैन मन्दिरों का निर्माण मुख्यतः जैन व्यापारियों के योगदान से हुआ जिनके नाम अनेकशः जैन मूर्ति लेखों एवं मन्दिर लेखों में मिलते हैं।

खजुराहो में सर्वाधिक मन्दिर शिव (लालगुआ, महादेव, मांतगेश्वर, विश्वनाथ, कन्दरिया महादेव, दूलादेव और महादेव मन्दिर) और विष्णु (वराह, लक्ष्मण, वामन, जवारी, चतुर्भुज मन्दिर) को समर्पित हैं। उनके बाद शक्ति (चौंसठ-योगिनी, पार्वती एवं जगदम्बी) के मन्दिर आते हैं।[2] यदि इस पृष्ठभूमि में हम खजुराहो के जैन मन्दिरों एवं मूर्तियों का विवेचन करें तो एक बात पूरी तरह स्पष्ट होती है कि खजुराहो के सभी जैन मन्दिर पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ को समर्पित (घण्टई, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ) हैं और (10वीं से 13वीं शती ई0) के बीच सर्वाधिक मूर्तियाँ भी ऋषभनाथ की ही उकेरी गयीं जिनमें कन्धों तक लटकी जटाएँ भी हैं और कुछ उदाहरणों में ऋषभनाथ के मस्तक पर शिव के समान ऊँचे जटामुकुट की भी रचना द्रष्टव्य है। ऋषभनाथ का लांछन वृषभ और गोमुख यक्ष भी परशुधारी है।[3]

जैन धर्म में मूर्ति कला एक आराधना का आलम्बन है क्योंकि वह साध्य नहीं साधना है। उसमें स्थापत्य निक्षेप से भगवत्ता की परिकल्पना की जाती है। वहीं दूसरी ओर भारतीय कला भी अपने आप में विशेष स्थान रखता है। कला तत्वतः धार्मिक है और कला के विभिन्न माध्यमों में मुख्यतः धार्मिक भावनाओं एवं आराध्य देवों को ही स्थूल अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। अतः काल और क्षेत्र के संदर्भ से सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय में होने वाले परिवर्तनों एवं विकास से शिल्प की विषयवस्तु में भी तदनरूप परिवर्तन हुए हैं। विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कला ही अपने समष्टिरूप में भारतीय कला है। अर्थात् धर्मों से सम्बन्धित कलाएँ भारतीय कलारूपी वृक्ष की अलग-अलग शाखाएँ हैं। शैली की दृष्टि से धार्मिक कलाओं में भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती, उनका साम्प्रदायिक स्वरूप केवल विषयवस्तु एवं मूर्तियों के विवरणों में ही देखा जा सकता है।

खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर न केवल खजुराहो में वरन् सम्पूर्ण भारत में एकमात्र ऐसा जैन मन्दिर है जिस पर बड़ी संख्या में तीर्थंकर और शासन देवी-देवताओं के साथ ही वैदिक-पौराणिक परम्परा के देवों का रूपायन हुआ है। इस मन्दिर पर कुछ ऐसे दुर्लभ देवस्वरूपों की भी रचना हुई है जो खजुराहो के ही अन्य जैन एवं जैनेतर मन्दिरों पर नहीं उपलब्ध हैं। वस्तुतः खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर ब्राह्मण एवं जैन परम्परा के पारस्परिक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का साक्षी है जिसमें 10वीं-11वीं शती ई0 के चन्देल शासकों की उदारवादी धार्मिक दृष्टि तथा जैन व्यापारियों के आर्थिक सामर्थ्य और धार्मिक निष्ठा तथा ब्राह्मण धर्म के प्रति उनका आदरभाव मन्दिर की मूर्तियों में जीवन्त रूप में व्यक्त हुआ है।

खजुराहो के विश्वनाथ एवं देवी जगदम्बी मन्दिरों (11वीं शती ई0) पर जैन तीर्थंकर मूर्तियों का रूपायन और इसी प्रकार जैन मन्दिरों विशेषतः पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (लगभग 950-70 ई0) पर ब्राह्मण धर्म के विष्णु, शिव, ब्रह्मा, राम, बलराम, परशुराम, काम, अग्नि आदि का निरूपण और वह भी शक्ति सहित आलिंगन मुद्रा में खजुराहो के चन्देल कालीन समाज और कला के धार्मिक सामंजस्य और ब्राह्मण एवं जैन धर्म के बीच की सौमनस्यता के सूचक हैं। चन्देल शासक धंग (950-1003 ई0) के महाराज गुरु 'वासवचन्द्र' जैन थे।[4] पाश्वनार्थ जैन मन्दिर के विक्रम संवत् 1011 (954 ई0) के लेख में श्रेष्ठि पाहिल द्वारा 'जिननाथ' के मध्य मन्दिर के निर्माण का और उसके लिए सात वाटिकाओं के दान का उल्लेख है।यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन वाटिकाओं के नाम पाहिल, चन्द्र, लघुचन्द्र, शंकर, पंचायतन, आम्र और धंग (चन्देल शासक) थे जिनमें शंकर और पंचायतन (पंचदेव पूजन-शिव, विष्णु सूर्य, शक्ति एवं गणेश) नामों से स्पष्टतः जैन मन्दिर के निर्माणकर्ता पाहिल की समन्वयात्मक दृष्टि और तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों में ब्राह्मण और जैन धर्म के बीच अच्छे सम्बन्धों का संकेत मिलता है। इस समन्वय भाव की मूर्त अभिव्यक्ति पार्श्वनाथ मन्दिर के ब्राह्मण देव मूर्तियों में भी द्रष्टव्य है। चन्देल शासक धंग द्वारा पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माण और कलात्मक श्रेष्ठता के लिए पाहिल का सम्मान[5] भी किया गया था।

---

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्तमान में खजुराहो के जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथ (आदिनाथ मन्दिर), घण्टई (10वीं शती ई0), शांतिनाथ (11वीं शती ई0) एवं आदिनाथ (11वीं शती ई0) मन्दिर सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त छोटे-बड़े आकार के कम से कम 30 अन्य जैन मन्दिर भी चन्देल काल में खजुराहो में थे। इन मन्दिरों के विभिन्न भागों पर जैन मूर्तियाँ भी उकेरी गयी थीं जो वर्तमान मन्दिरों पर, गर्भगृहों में स्थानीय साहू शांति प्रसाद जैन संग्रहालय तथा खजुराहो के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ये जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं[6], क्योंकि तीर्थंकरों को निर्वस्त्र (दिगम्बर) दिखाया गया है। मन्दिरों के प्रवेश द्वारों पर 16 मांगलिक स्वप्नों का उकेरन भी उनके दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध होने का सूचक है।

खजुराहो की जैन मूर्तियों में तीर्थंकर मूर्तियाँ सर्वाधिक हैं जिनमें उनकी स्वतन्त्र मूर्तियों के साथ ही द्वितीर्थी, त्रितीर्थी और चौमुखी (प्रतिमा सर्वतोभद्रिका) मूर्तियाँ भी सम्मिलित हैं। तीर्थंकरों के पश्चात् उनके शासन देवताओं (यक्ष-यक्षी) का निरूपण सर्वाधिक लोकप्रिय था। यहाँ यक्ष और यक्षियों की मूर्तियाँ तीर्थंकर मूर्तियों से संश्लिष्ट रूप में और साथ ही स्वतन्त्र रूप में भी बनीं।

एक दूसरी बात भी महत्वपूर्ण है कि प्रबोध चन्द्रोदय (श्री कृष्ण मिश्र रचित) तथा लक्ष्मण, कन्दरिया महादेव और विश्वनाथ मन्दिरों की मूर्तियों में कई उदाहरणों में नग्न, मयूरपीचिकाधारी जैन साधुओं को काम की उद्दाम अवस्था में भी दिखाया गया है जिसे कुछ विद्वानों ने पारस्परिक धार्मिक कटुता की दृष्टि से रेखांकित किया है, किन्तु उल्लेखनीय है कि ऐसे काम दृश्यों में मयूरपीचिकाधारी साधुओं (क्षपणक) के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं को भी दिखाया गया है जो वास्तव में आचरण के स्तर पर साधु समाज में आये शिथिलन के भाव को व्यक्त करते हैं। हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि भारतीय कला में केवल प्रेयस और श्रेयस ही नहीं व्यक्त हुआ है, बल्कि सामाजिक विसंगतियों को भी मुखर रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसे समकालीन जीवन के शिल्पांकन के साथ ही कहीं न कहीं चेतावनी के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

ऋषभनाथ के मन्दिरों एवं मूर्तियों की उपर्युक्त बातें हमें शिव और ऋषभनाथ के सम्बन्धों का स्मरण कराती हैं जिनका मूल स्रोत एक था जिसे पउमचरिय एवं आदिपुराण जैसे जैन ग्रन्थों में ऋषभनाथ के स्तवन के संदर्भ में प्रयुक्त शिव के विशेषणों (शिव, शंकर, महादेव, हर, महेश्वर, त्रिपुरारि व नटेश) के रूप में भी देख सकते हैं। वैष्णव प्रभाव के अंतर्गत पार्श्वनाथ मन्दिर पर लक्ष्मी-नारायण व बलराम-रेवती की कई स्वतन्त्र एवं शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियों के अतिरिक्त रामकथा एवं कृष्णलीला के कुछ दृश्यों का शिल्पांकन हुआ है जिनमें यमलार्जुन (कृष्ण-लीला) और अशोक वाटिका में बैठी सीता को आश्वस्त करते व मुद्रिका देते हनुमान तथा उत्तरी भित्ति पर सीताहरण से सम्बन्धित प्रसंग में साधु वेश में सीता से भिक्षा मांगने की मुद्रा में रावण की आकृति मुख्य है। पार्श्वनाथ मन्दिर पर लक्ष्मी एवं सरस्वती की मूर्तियों का उत्कीर्णन् तथा यक्षियों में वैष्णवी के प्रभाव वाली ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी की सर्वाधिक मूर्तियों का मिलना भी ब्राह्मण प्रभाव का ही संकेत देता है।

पार्श्वनाथ मन्दिर

खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के संदर्भ में एक बात स्पष्ट कर देना युक्तिसंगत होगा कि पार्श्वनाथ मन्दिर वस्तुतः आदिनाथ मन्दिर था क्योंकि मन्दिर के ललाटबिम्ब पर आदिनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी का रूपायन हुआ है और मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित मूल प्रतिमा भी परिकर एवं पीठिका पर मूल लांछन के आधार पर ऋषभनाथ की मूर्ति थी। पीठिका पर यक्ष गोमुख और चक्रेश्वरी यक्षी का रूपायन मूल प्रतिमा ऋषभनाथ की होने का प्रमाण है।

पार्श्वनाथ मन्दिर की बाह्य भित्ति पर मुख्य रूप से तीन पंक्तियों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। प्रथम में ब्राह्मण देवी-देवताओं एवं बीच-बीच में विभिन्न प्रकार के व्यालों (गज, अश्व, नर एवं शुक व्याल) का अंकन हुआ है। द्वितीय पंक्ति में विभिन्न देव युगलों (विशेषतः ब्राह्मण परम्परा) की आकृतियाँ स्थापित हैं और सबसे ऊपर विद्याधर, नृत्य-संगीत एवं प्रेमी-युगलों को निरूपित किया गया है। (चित्र-01) प्रस्तुत मन्दिर केवल देवी-देवताओं (जैन एवं जैनेतर) और लौकिक जगत के शिल्पांकन की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि आज के युग की सर्वाधिक चिन्ता पर्यावरण संतुलन की दृष्टि से भी यहाँ का शिल्प महत्वपूर्ण है।

पार्श्वनाथ मन्दिर की प्रदक्षिणा भित्ति पर चारों ओर जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग एवं ध्यान मुद्रा में लांछन सहित बनी हैं और उन्हीं में बाहुबलीं की भी मूर्ति है। गर्भगृह की भित्ति का उकेरन धर्म की मूल आस्था को प्रतिबिम्बित करता है। वहीं मन्दिर की बाह्य भित्तियों की मूर्तियाँ सामान्यतः ब्राह्मण परम्परा की मूर्तियाँ हैं जो समन्वय भाव को दर्शाती हैं। उपर्युक्त संदर्भों के आलोक में चन्देल शासक धंग, जैन व्यापारी पाहिल और धंग के राजगुरु वासवचन्द्र के सद्भावपूर्ण पारस्परिक सम्बन्धों को समझा जा सकता है। गर्भगृह की प्रदक्षिणा भित्ति पर तीर्थंकरों के अतिरिक्त अष्टदिक्पालों, अप्सराओं और व्यालों का भी अंकन हुआ है। मन्दिर की बाह्य भित्ति पर तुलनात्मक दृष्टि से जैन परम्परा की कम आकृतियाँ हैं। बाह्य भित्ति पर तीर्थंकरों के अतिरिक्त अंबिका यक्षी तथा लक्ष्मी एवं सरस्वती की भी मूर्तियाँ हैं। दूसरी ओर बाह्य भित्ति पर चारों ओर ऊपर संदर्भित ब्राह्मण देवी-देवताओं का स्वतन्त्र एवं शक्ति सहित अंकन हुआ है जो गर्भगृह की प्रदक्षिणा भित्ति और बाह्य भित्ति के शिल्पांकन के स्वरूप और रचना भेद को दर्शाता है।

पार्श्वनाथ मन्दिर पर कुछ अतिविशिष्ट मूर्तियाँ भी हैं जैसे रामसीता के साथ हनुमान की मूर्ति। (चित्र-02)जैन ग्रन्थ पउमचरिय (विमलसूरि कृत) एवं रविषेण कृत पद्मपुराण में रामकथा का विस्तृत उल्लेख है। इन ग्रन्थों में अशोक वाटिका से सम्बन्धित दृश्यों की

भी चर्चा मिलती है।[7] पार्श्वनाथ मन्दिर के राम-सीता एवं हनुमान की मूर्ति में चतुर्भुज राम पारम्परिक रूप में बाण एवं धनुष सहित सीता के साथ खड़े हैं किन्तु उनका आलिंगन मुद्रा में निरूपण सामान्यतः परम्परा से हटकर विलक्षण और खजुराहो शिल्पी के उस मन-बुद्धि की देन है जहाँ राम मर्यादा पुरुषोत्तम से हटकर शिव के समान देव कोटि में आ जाते हैं। इस मूर्ति की विशिष्टता राम का हनुमान के मस्तक पर रखा हुआ हाथ है जो पालिन मुद्रा में है और जिससे हनुमान के प्रति राम का स्नेहपूर्ण वात्सल्य-भाव मुखर हो उठा है। यहाँ राम की तुलना में हनुमान की छोटी आकृति भक्तिभाव की उस श्रेष्ठता का संकेत देती है जहाँ विनय एवं लघुता में ही भक्त की पूर्णता है। इस मूर्ति की दूसरी विशिष्टता ठीक ऊपर साधुवेश में रावण का सीता से भिक्षा मांगते हुए अंकन है। यदि दोनों मूर्तियों को एक साथ जोड़कर देखें तो उनका सांकेतिक महत्व रामकथा के संदर्भ में समझा जा सकता है।

जैन परम्परा की विशिष्ट मूर्तियों के अंतर्गत तीर्थंकर मूर्तियों के अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली की मूर्ति महत्वपूर्ण है जो पार्श्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह की दक्षिणी प्रदक्षिणा भित्ति पर उकेरी गयी है। (चित्र-03) जैन परम्परा में बाहुबली तीर्थंकर न होते हुए भी गहनतम साधना और त्याग के प्रतिक के रूप में पूजित हुए और उन्हें तीर्थंकरों के समान ही प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। पार्श्वनाथ मन्दिर की मूर्ति प्रतिमालक्षण की दृष्टि से विकसित कोटि की है। मूर्ति पर संभवतः गोमट भी उत्कीर्ण है। बाहुबली निर्वस्त्र एवं कायोत्सर्ग मुद्रा में सामान्य पीठिका पर निरूपित हैं। पीठिका के मध्य में धर्मचक्र एवं छोरो पर सिंहासन के सूचक दो सिंहों की आकृतियाँ बनी हैं। बाहुबली के हाथों एवं पैरों से लता-वल्लरियाँ लिपटी हुई हैं और वक्षस्थल पर वृश्चिक तथा छिपकली की आकृतियाँ बनी हैं। उनके पार्श्वों में दो विद्याधरों को लता-वल्लरियों को शरीर से हटाते हुए दर्शाया गया है जो हरिवंशपुराण के विवरण के अनुरूप है। विद्याधरों के समीप ही चामरधारी सेवकों की भी दो आकृतियाँ उकेरी गयीं हैं। इसमें तपस्यारत बाहुबली के केश गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित हैं। सिर के ऊपर त्रिछत्र के स्थान पर केवल एक ही छत्र प्रदर्शित है, जो इस बात का संकेत है कि बाहुबली तीर्थंकर न होकर केवल मात्र हैं। परिकर के ऊपरी भाग में दो उड्डीयमान मालाधरों और गजों की आकृतियाँ बनी हैं। इस प्रकार यह मूर्ति एक ओर तीर्थंकर मूर्तियों (श्रीवत्स, सिंहासन, चामरधर, सेवक, गन्धर्व) के लक्षणों से युक्त है वही दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के अनुरूप इसमें विद्याधरों की आकृतियाँ भी बनी हैं।[8]

इसके अतिरिक्त खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर अन्य कई दृष्टियों से भी विलक्षण है। यहाँ पर काम-रति की मूर्ति का युगल एवं आलिंगन स्वरूप में अंकन सर्वाधिक संख्या में हुआ है। (चित्र-04) जबकि खजुराहो के ही अन्य मन्दिरों (जैन या जैनेतर) पर एक साथ और मुख्य रथिका में काम-रति का रूपायन इतनी संख्या में नहीं हुआ है। यही नहीं मन्दिर के गर्भगृह की बाह्य भित्ति पर काम शिल्प का अंकन जैन परम्परा के विरुद्ध किन्तु स्थानीय परम्परा और तत्कालीन मान्यता का अनुसरण है। जैन ग्रन्थ हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत, 783 ई0) में एक स्थल पर उल्लेख है कि सेठ कामदत्त ने एक जिन मन्दिर का निर्माण किया और सम्पूर्ण प्रजा के आकर्षण के लिए इसी मन्दिर में कामदेव और रति की मूर्तियाँ बनवायीं। ग्रन्थ में यह भी उल्लेखनीय है कि यह जिन मन्दिर काम देव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कौतुकवश आये लोगों को जैन धर्म की प्राप्ति का कारण है।[9]

जिन मूर्तियों के पूजन के साथ ग्रन्थ में रति और कामदेव की मूर्तियों के पूजन का भी उल्लेख है।[10] काम-रति की आकृति के ऊपर उसी पैनल में कहीं दो स्त्रियों को एक साधु की दाढ़ी पकड़े और नृत्य-संगीत का दृश्यांकन हुआ है जो काम-रति की मूर्तियों की पृष्ठभूमि में सार्थक सामाजिक संदर्भ की अभिव्यक्ति है।

खजुराहो स्थित चन्देल कालीन लक्ष्मण मन्दिर, विश्वनाथ मन्दिर एवं कन्दरिया महादेव मन्दिर के अनुरूप पार्श्वनाथ मन्दिर पर भी आध्यात्मिक जगत के साथ ही भौतिक जगत के तत्वों का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत हुआ है। यहाँ देवी देवताओं के साथ ही खजुराहो की सुन्दरतम अप्सराओं का भी रूपायन हुआ है। अप्सराओं की मूर्तियाँ सुन्दर, मनभावन, अतिभंग मुद्रा में और लयात्मक लौंच के साथ निरूपित हैं। इनमें से कुछ तो अपने सुन्दर निदर्शन के कारण अद्वितीय हैं, जैसे पैर से नुपुर बाँधती (चित्र-05), अञ्जनधारिणी (चित्र-06), पुत्रवल्लभा (चित्र-07), दर्पणा, (चित्र-08) आलता लगाती, चित्रलेखना, निवस्त्रजघना, पत्रलेखना आदि। अप्सराओं की मूर्तियाँ भी मन्दिर की बाह्य भित्ति के प्रथम व द्वितीय पंक्तियों में देवी-देवताओं के मध्य एवं उन्हीं के आकार प्रकार में द्रष्टव्य हैं। अप्सराओं के साथ ही सहायक आकृतियाँ उनकी तुलना में आकार में छोटी हैं जो अप्सराओं के सामाजिक स्तर और प्रतिष्ठा को व्यक्त करती हैं। विवस्त्रजघना और पत्र लिखती हुई अप्सरा मूर्तियाँ संख्या में सर्वाधिक है।[11]

निष्कर्ष

इस प्रकार खजुराहो का पार्श्वनाथ जैन मन्दिर 10वीं शती ई0 में चन्देल समाज एवं शासकों के धार्मिक उदारता एवं पारस्परिक सामंजस्य का उदाहरण है जिस पर ब्राह्मण देवी-देवता भी हैं, जैन तीर्थंकर भी हैं और बाहुबली भी हैं। सुन्दरतम अप्सराओं या नायिकाओं के शिल्पांकन के माध्यम से धार्मिक, आध्यात्मिक जगत के साथ ही भौतिक जगत के सौन्दर्य तथा अनुराग के भाव को व्यक्त किया गया है। इन सबसे हटकर देव, मानव, पशु और वनस्पति जगत की साथ-साथ अभिव्यक्ति भारतीय कला तथा खजुराहो की कला का एक वैशिष्ट्य रहा है।

अतः जैन धर्म, में कला एवं धर्म समन्वय का मुख्य प्रयोजन आत्मा की विशुद्धि को प्रकट करना और आत्मोत्थान के लिए एक व्यवहारिक सुमधुर भूमिका तैयार करना है, इसलिए सौन्दर्य,

मनोज्ञता, प्रफुल्लता, आराधना, पूजा आदि के इस माध्यम को हम जितना भी यथार्थ मूलक और भव्य बना सकते है, बनाने का प्रयत्न करते है। अतः मूर्ति कला की भव्यता इसमें है कि वह स्वयं साधक में उपस्थित हो और साधक की सार्थकता इसमें है कि वह मूर्ति में समुस्थित हो, क्योंकि दोनों के तादात्म्य में ही साधना की सफतला है।

चित्र सं0 1. वाह्य भित्ति मूर्तियाँ, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो, लगभग 950- से 70 ई0।

चित्र सं0 2. राम-सीता (हनुमान सहित), उत्तरी जंघा, पार्श्वनाथ मंदिर, खजुराहो, 10वीं शती ई0 का उत्तरार्द्ध।

चित्र सं0 3. दक्षिणी प्रदक्षिणा भित्ति (तीर्थंकर बाहुबली) पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो।

चित्र सं0 4. काम-रति, उत्तरी जंघा, पार्श्वनाथ मंदिर, खजुराहो, 10वीं शती ई0 का उत्तरार्द्ध।

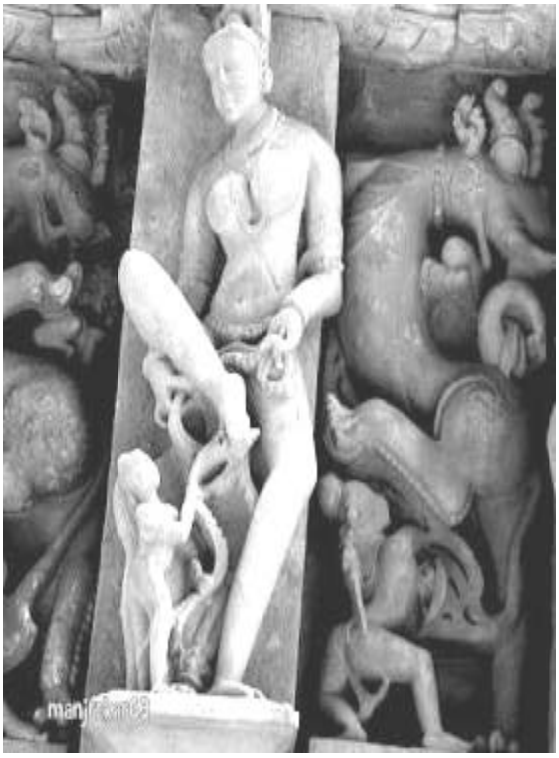

चित्र सं0 5. अप्सरा (नुपूर बांधती), 10वीं शती ई0, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो।

चित्र सं0 6. अञ्जनधारिणी, 10वीं शती ई0, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो।

चित्र सं0 7. अप्सरा या सुरसुन्दरी (पुत्र वल्लभा), 10वीं शती ई0, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो।

चित्र सं0 8. अप्सरा (दर्पणा), 10वीं शती ई0, पार्श्वनाथ मंदिर खजुराहो।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैनास, ई0 तथा आबोयर, जे0, खजुराहो, हेग, 1960, कृष्णदेव, *दि टेम्पुल्स ऑफ खजुराहो इन सेन्ट्रल इंडिया,* एन्शियन्ट इण्डिया, अंक-15, 1959, पृ0 43-65, खजुराहो, नई दिल्ली, 1975.
2. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, *मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1991, पृ0 102.
3. ब्रुन, क्लाज, *दि फिगर ऑफ टू लोअर रिलीप्स आन दि पार्श्वनाथ टेम्पल ऐट खजुराहो,* आचार्य श्री विजय बल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, बम्बई, 1956, पृ0 7-35.
4. जैनास, ई0 तथा आबोयर, जे0, *पूर्वनिर्दिष्ट,* पृ0 6.
5. जैन, ज्योति प्रसाद, *प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ,* दिल्ली, 1975, पृ0 224, *इपिग्राफिया इण्डिका,* खण्ड-1, पृ0 135-36.
6. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, *खजुराहो का जैन पुरातत्त्व,* खजुराहो, 1987.
7. *पउमचरिय,* 53/11.
8. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, *पूर्वनिर्दिष्ट,* पृ0 68-69.
9. *हरिवंशपुराण,* 29, 1-5.
10. *हरिवंशपुराण,* 29, 9-10.
11. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, *पूर्वनिर्दिष्ट,* पृ0 29.

●

कन्दकारी का भारतीय कला एवं स्थापत्य में योगदान : खजुराहो के विशेष संदर्भ में

डॉ0 सचिन कुमार तिवारी एवम् अजीत कुमार***

यह लेख खजुराहो मन्दिर समूह के स्थापत्य खण्डों में उत्कीर्ण विभिन्न प्रकार की आड़ी-तिरछी रेखाओं के कन्दकारियों के अध्ययन से सम्बन्धित है जिसका निर्माण मन्दिर के विभिन्न भागों पर अग्रलिखित अनेकों उद्देश्यों हेतु किया गया होगा। यह स्थापत्य खण्ड मन्दिर की सीढ़ियों, जगती के सपाट भू-भाग, स्तम्भों के ऊपरी, मध्य एवं निचले हिस्सों, अन्तरालों एवं अन्य स्थापत्य खण्डों पर उत्कीर्ण की गयी हैं।

इस लेख में लेखकों ने उक्त कन्दकारी का समग्र अध्ययन प्रस्तुत करने के साथ ही साथ खुजराहों मन्दिर समूह में किये गये सर्वेक्षण में प्राप्त उत्कीर्ण कन्दकारियों के उत्कीर्णन के कारण, स्वरूप, निर्माण-तकनीक एवं विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए एक विशद तालिका प्रस्तुत की है। उक्त लेख का लेखन कन्दकारी उत्कीर्णन के उद्देश्य एवं स्वरूपों के आधार पर तत्कालीन शिल्पीवर्ग एवं कलाकार के उत्कीर्णन का उद्देश्य एवं रुचि को दर्शायेगा।

यह अध्ययन खजुराहो मन्दिर समूह से सम्बन्धित है, ऐसी स्थिति में खजुराहो मन्दिर समूह की संक्षिप्त व्याख्या देना यहाँ आवश्यक है। खजुराहो मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित है। जहाँ आज लगभग बाइस (22) बालुका पत्थर से निर्मित मन्दिर विभिन्न सम्प्रदायों यथा-वैदिक-पौराणिक, जैन-धर्म एवं शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। चूँकि ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार यहाँ कुल पच्चासी (85) मन्दिर थे। ऐसे में यह स्वाभाविक है कि मन्दिर बनाने की प्रक्रिया, शिल्पी, कलाकार एवं मजदूर वर्ग से जुड़े एक बड़े समूह ने लम्बे समय में उनका निर्माण किया होगा जिस प्रक्रिया में यह सम्भव है कि (1) उनके द्वारा इस प्रकार के निर्माण कार्य में कुछ कार्य अधूरे, (2) कार्य होने के दौरान पाषाण खण्ड टूटने एवं (3) उनके स्थापत्य खण्ड के रूप में प्रयोग करने जैसी स्थितियाँ रही होंगी। इन्हीं सारी स्थितियों का अध्ययन प्रस्तुत लेख में किया जा रहा है।

यह लेख किसी राजकीय अथवा क्षेत्रीय उपलब्धि पर केन्द्रित न होकर शिल्पी, कलाकार एवं मजदूर वर्ग के कार्य के द्वारा तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में छोड़े गये उन कन्दकारियों पर है जो उनकी अपरोक्ष आर्थिक एवं परोक्ष रुचि को दर्शाता है।

कन्दकारी

किसी ठोस उपकरण से किसी अन्य ठोस वस्तु, सतह अथवा पाषाण खण्ड, पाषाण सतह, हड्डी, अण्डे, सीप इत्यादि पर किसी भी प्रकार की आड़ी-तेड़ी रेखाओं से किसी प्रकार की आकृति यथा-ज्यामितीय या अज्यामितीय एवं मांगलिक प्रतीकों को बनाया जाता है जो तत्कालीन मानव अथवा मानव समूह के निर्माण विधि के पीछे के कारणों को बताता है। अगर यह कार्य किसी प्राकृतिक पाषाण सतह पर किया जाय तो यह प्रागैतिहासिक कालीन शैलकला के उत्खचन (Petroglyphs) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कन्दकारी मूलतः अंग्रेजी के, Engrave का हिन्दी रूपान्तरण है।

निर्माण तकनीक

कन्दकारी निर्माण विधि उसके निर्मित विषयवस्तु, कन्दकारी की गहराई, चौड़ाई इत्यादि के अवलोकन पर ही बताया जाना सम्भव है जो क्रमवार निम्नलिखित हैं-

चंचु प्रहार (Pecking)

पाषाण सतह पर हथौड़ी जैसी वस्तु, जो आगे थोड़ी नुकीली हो, से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रहार करने की तकनीक चंचु प्रहार कहलाती है।[1] प्रत्यक्ष प्रहार से आकृति सुन्दर एवं सुगढ़ नहीं बनती है और चिन्ह बड़े बनते हैं जबकि अप्रत्यक्ष प्रहार से छोटे, गहरे एवं सुगढ़ चिन्ह बनते हैं।

अपघर्षण (Adrading/Rubbing)

पाषाण सतह पर क्षरण के कारण जो गहरे रंग की परत बन जाती है उस पर किसी विस्तृत सतह वाली वस्तु से रगड़कर उस क्षरित परत को हटाकर आकृति बनाने की तकनीक अपघर्षण कहलाती है।[2]

उत्कीर्णन (Chasing)

किसी नुकीली वस्तु को पाषाण सतह पर रखकर उस पर हथौड़े से मारकर उत्कीर्ण करने की विधि उत्कीर्णन कहलाती है। इस प्रक्रिया से निशान गहरे बनते हैं। खजुराहो के विशेष संदर्भ में जिन कन्दकारियों का वर्णन इस लेख में किया जा रहा है उनकी निर्माण तकनीक सम्भवतः इसी से सम्बन्धित प्रतीत होती है।

बरमाना (Drilling)

इस विधि में एक लम्बी पतली लकड़ी या हड्डी में पीछे की ओर से मूठ लगी होती है और आगे फ्लिंट या क्वार्टजाइट या ताँबा के नुकीले लघुअश्म लगे होते हैं। इसके द्वारा नुकीले भाग को सतह पर रखकर मूठ वाले भाग से पकड़कर घुमाया जाता है जिससे पाषाण जैसी किसी सख्त सतह पर गहरा निशान बन जाता है।

* सहायक आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पाछना (Incising)

किसी नुकीले औजार यथा-तक्षणी या लोहे और ताँबे के नुकीले औजार द्वारा पाषाण सतह पर कुरेदकर आकृति बनाना पाछना कहलाता है।[3]

निर्माण उद्देश्य

कन्दकारी जब किसी ऐसे पाषाण खण्ड पर प्राप्त हो जो किसी स्थापत्य का अंग हो ऐसी स्थिति में भी यह तत्कालीन कन्दकारी ही है जिसके बनाये जाने के उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं-

1- स्थापत्य निर्माण से पूर्व किसी स्थापत्य खण्ड को बनाने हेतु उन रेखाओं का बनाया जाना जहाँ से पाषाण खण्ड किसी विशेष कलात्मक रूप में निर्मित होने वाला है।

2- शिल्पीकार द्वारा किसी पाषाण खण्ड पर विशेष प्रकार की कलाकृति, प्रतिमा, मूर्ति इत्यादि के बनाये जाने का रेखांकित अंकन।

3- शिल्पीकार, कलाकार एवं मजदूरों द्वारा अपनी मजदूरी लेने हेतु उनके द्वारा निर्मित किये गये पाषाण खण्ड पर अपने किसी विशेष प्रकार के प्रतीकों का निर्माण करना है।

4- शिल्पी अथवा मुख्य कारीगर द्वारा स्थापत्य के किसी विशेष खण्ड पर स्वयं का नाम अथवा उपनाम के शुरूआती अक्षरों का अंकन करना है।

5- जब किसी स्थान विशेष पर लम्बे समय के लिए किसी प्रकार के कला एवं स्थापत्य के कार्य होते रहते हैं। यथा-सामूहिक मन्दिरों का निर्माण अथवा अनेकों प्रतिमाओं एवं मूर्तियों का निर्माण, ऐसी स्थिति में ऐसा सम्भव है जो कमोवेश आज भी इस प्रकार के गतिविधियों वाले स्थानों में देखा जा सकता है जहाँ शिल्पी, कलाकार एवं मजदूर उक्त कार्य को कार्यान्वित करने हेतु उस स्थान विशेष पर ही रहने लगते हैं एवं अपने रोजमर्रा के काम के पश्चात् स्वयं एवं सामूहिक मनोरंजन हेतु कई प्रकार के पारम्परिक खेल खेलते रहते हैं जिसके लिए किसी समतल पाषाण खण्ड अथवा सतह पर आड़ी-तेड़ी रेखाओं के माध्यम से तरवा, सोरह गोटिया, चौपड़, चौबीस गोटिया, बाघ-बकरिया, गिलहरिया कटाव इत्यादि[4] खेलों को खेलने हेतु बनाते हैं।

महत्त्व

प्राचीन समय में कन्दकारी का उपयोग अपनी कार्य कुशलता को प्रकट करने के लिए किया जाता था। तत्कालीन समय में दैनिक जीवन में उपयोग की जाने वाली वस्तुओं को कन्दकारी के माध्यम से जान सकते हैं। कन्दकारी के माध्यम से तत्कालीनन मानवीय मस्तिष्क की क्षमता को समझा जा सकता है कि किस प्रकार किसी मुख्य मन्दिर, मूर्ति या किसी भी स्थापत्य निर्माण से पहले उसकी योजना किसी समतल पाषाण खण्ड पर बनाया जाती थी तथा कन्दकारी निर्माण के लिए किन-किन उपकरणों का प्रयोग किया जाता होगा। प्राचीन समय में जब हमारे पास कोई लिखित साक्ष्य नहीं था तो प्राचीन मानव द्वारा निर्मित इन्हीं कन्दकारियों के माध्यम से हम उनके भाव को व्यक्त कर सकते हैं। इसके साथ ही साथ मजदूर एवं शिल्पीवर्ग के परिप्रेक्ष्य में किसी पाषाण खण्ड पर कन्दकारी किया जाना या तो कला का निर्माण है अथवा मजदूर द्वारा अपने किये गये कार्योपरान्त अपने पारिश्रमिक लेने हेतु किया जाता रहा है जो कमोवेश आज भी कई मजदूर एवं शिल्पीवर्ग के मध्य प्रयोग में है। कन्दकारी का स्वरूप उसके निर्माण तकनीक को दर्शाता है एवं इस कन्दकारी से बनी आकृति निर्माणकर्ता के मस्तिष्क विकास को दर्शाता है ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर कन्दकारी निर्माण में प्रयुक्त उपकरणों की जानकारी हमें प्राप्त होती है वहीं दूसरी ओर निर्माणकर्ता के मस्तिष्क के विकास की जानकारी भी। कन्दकारी के द्वारा बनायी गयी आकृति के माध्यम से तत्कालीन धार्मिक, तकनीक, आर्थिक इत्यादि क्रियाकलापों का पता चलता है। कन्दकारी को निर्माणकर्ता के जनसामान्य एवं समूह के सम्प्रेषण के रूप में भी देखा जा सकता है।[5]

निष्कर्ष

कन्दकारी के उपर्युक्त विशद वर्णन के उपरान्त जैसा कि कुल छब्बीस (26) प्रकार (तालिका संख्या-1) के कन्दकारी का प्रमाण मिला है जो तत्कालीन मजदूर एवं शिल्पीकार के वनस्पति जगत एवं जीव-जन्तु से सम्बन्धित प्रतीकों का अंकन प्रदर्शित करता है ऐसे में जहाँ एक ओर हम स्थापत्य से सम्बन्धित कान्दकारियों के अध्ययन से तत्कालीन नागरिक अभियान्त्रिकी के प्रमाण मिलते हैं वहीं दूसरी ओर लघु लेख जो सम्भवतः इस नागरिक अभियांत्रिक कार्य से जुड़े व्यक्ति विशेष का हो सकता है, जैसे प्रमाण भी कन्दकारी अध्ययन के प्रमुख प्रमाण है। मध्य प्रदेश के अन्य अनेकों स्मारकीय स्थलों पर कन्दकारी के अनगिनत प्रमाण प्राप्त होते हैं। उदाहरण स्वरूप परमार कालीन भोजपुर का शिव मन्दिर एवं साँची का स्थापत्य। इन सम्पूर्ण कन्दकारियों में सर्वाधिक संख्या में पायी जाने वाली मन्दिर की योजना अपने विविध रूपों में प्राप्त हैं जो इस बात की पुष्टि करता है कि किस तरह खजुराहो में मन्दिरों का निर्माण कई कालों तक अनवरत चलता रहा और जिसके निर्माण के पूर्व स्थापत्यकारों द्वारा किसी सपाट पाषाण खण्ड पर उसकी योजना तैयार की गयी हो। इस प्रकार कन्दकारी इस सन्दर्भ में जहाँ एक ओर मन्दिर निर्माण के पूर्व की योजना हेतु निर्मित किया जाता रहा होगा वहीं कालान्तर में इस तरह के प्रमाण अन्य मन्दिरों के निर्माण हेतु एक मानक का कार्य करते होंगे। इन स्थापत्य कन्दकारियों में न केवल योजना बल्कि मन्दिर एवं मन्दिर के विभिन्न अंगों के उन्नयन का भी निर्माण किया जाना तत्कालीन नियोजित नागरिक अभियांत्रिकी का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही साथ कलश, बीजक, कुम्भी, चन्द्रशिला इत्यादि को किसी सपाट पाषाण खण्ड पर रेखाओं के माध्यम से दर्शाना, वहाँ कार्य कर रहे शिल्पियों एवं मजदूरों के

लिए भी एक मानक रहा होगा जिसका अनुसरण कर कार्यरत कलाकार अपना कार्य करते रहे होंगे।

तालिका संख्या 1

क्र. सं.	उद्देश्य/आरेख	आरेख की संख्या	चित्र संख्या	निर्माण तकनीक	विषय वस्तु	प्राप्ति स्थल	टिप्पणी
1.	स्तम्भों का आरेख	03	चित्र संख्या-1 (क,ख, ग)	उत्कीर्णन	स्थापत्य आरेख	धरातल	अत्यधिक उत्कीर्ण
2.	सीढ़ी या सोपान का आरेख	01	चित्र संख्या-2 (घ)				
3.	मन्दिर का आरेख	01	चित्र संख्या-2 (ख)				यह खजुराहो के मातंगेश्वर मन्दिर की तरह प्रतीत होता है जो लक्ष्मण मन्दिर के निकट स्थित है।
4.	गर्भगृह की योजना	05	चित्र संख्या-3 (ख,ग, घ)				यह तीन प्रकार में पाया गया है।
5.	कलश-बीजक	01	चित्र संख्या-2 (क)				
6.	चन्द्रशिला	01	चित्र संख्या-2 (ग)			सोपान	----------
7.	कुम्भी	01	चित्र संख्या-3 (क)			जगती	
8.	स्त्री-पुरुष के कामुक दृश्य	01	चित्र संख्या-4 (क)	कन्दकारी	जीव-जगत	धरातल	खजुराहो अपने विभिन्न प्रकार के कामोत्तेजक दृश्य के लिए बहुत प्रसिद्ध है।
9.	जानवर-महिला के कामुक दृश्य (गद्धेगाल)	01	चित्र संख्या-4 (ख)			जगती	यह लक्ष्मण मन्दिर के मुख्य स्थान पर भी बनाया गया है।
10.	हाथी का सर (मस्तक)	01	चित्र संख्या-5 (क)	उत्कीर्णन	चित्रण कलात्मक आरेख	धरातल	----------
11.	स्त्री का चेहरा	01	चित्र संख्या-5 (ग)			सोपान	यह नागरी लिपि में लिखित एक लघु शिलालेख के पास है।
12.	हंस/बत्तख का सर	01	चित्र संख्या-6 (ङ,च)			दीवार	----------
13.	शेर	01	चित्र संख्या-5 (ख)			स्थापत्य के तल पर	----------
14.	बिच्छू	01	चित्र संख्या-6 (छ)			जगती	यह मजदूरों द्वारा किये गये कार्य हेतु उनके पारिश्रमिक चिन्ह के रूप में

							प्रतीत होता है।
15.	मछली	01	चित्र संख्या-6 (घ)	पाछना		गर्भगृह की भीतरी दीवार	यह मजदूरों द्वारा किये गये कार्य हेतु उनके पारिश्रमिक चिन्ह के रूप में प्रतीत होता है।
16.	जन्तु या साँप की पूँछ	01	चित्र संख्या-5 (घ)	उत्कीर्णन		दीवार	---------- ---------- ---------- -----
17.	वनस्पति लता	01	चित्र संख्या-7 (ख)		वनस्पति चित्रण	गर्भगृह के प्रवेशद्वार की दीवार पर	गर्भगृह की दिवाल आकर्षक लगे इसलिए इसको बनाया गया होगा।
18.	अधूरा पुष्प	01	चित्र संख्या-7 (ङ)			दीवार	दिवाल को आकर्षक बनाने के लिए बना होगा।
19.	पुष्प	01	चित्र संख्या-7 (ग)			भीतरी छत	अत्यधिक उभरा हुआ
20.	पुष्प	01	चित्र संख्या-7 (घ)			अन्तराल	अत्यधिक उत्कीर्ण
21.	बाघ-बकरिया	01	चित्र संख्या-8 (ख)		अतीत खेल	धरातल	मनोरंजन हेतु बनाया गया होगा।
22.	चौपड़	01	चित्र संख्या-8 (क)				तीन टुकड़ों में टूटा हुआ
23.	सीधी रेखाओं से युक्त तीन वृत्त	01	चित्र संख्या-6 (ग)		श्रमिक चिन्ह	जगती	---------- ---------- ---------- -----
24.	विभेदक रेखा के साथ एक वृत्त	01	चित्र संख्या-6 (ख)	पाछना			मजदूरों द्वारा अपनी मजदूरी लेने हेतु पारिश्रमिक चिन्ह के रूप में उत्कीर्ण किया गया होगा।
25.	तीर	01	चित्र संख्या-6 (क)			धरातल	---------- ---------- ---------- -----
26.	तीन अक्षर की लिपि	01	चित्र संख्या-9	उत्कीर्णन	श्रमिक नाम		यह मुख्य कलाकार का नाम प्रतीत होता है। इसमें मुख्य कलाकार का नाम सातवीं शताब्दी ई0 के प्रारम्भिक नागरी लिपि में **शज (ण)** लिखा हुआ मिला है।

चित्र संख्या-1

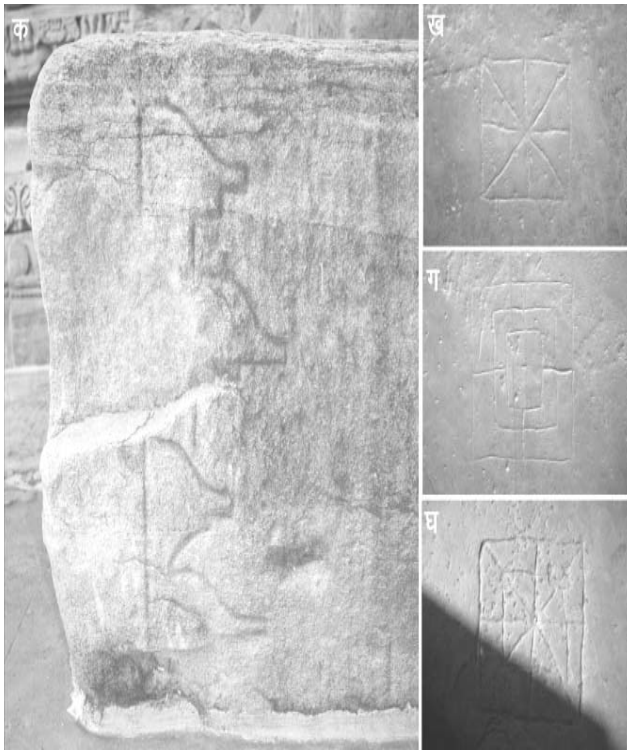

चित्र संख्या-3

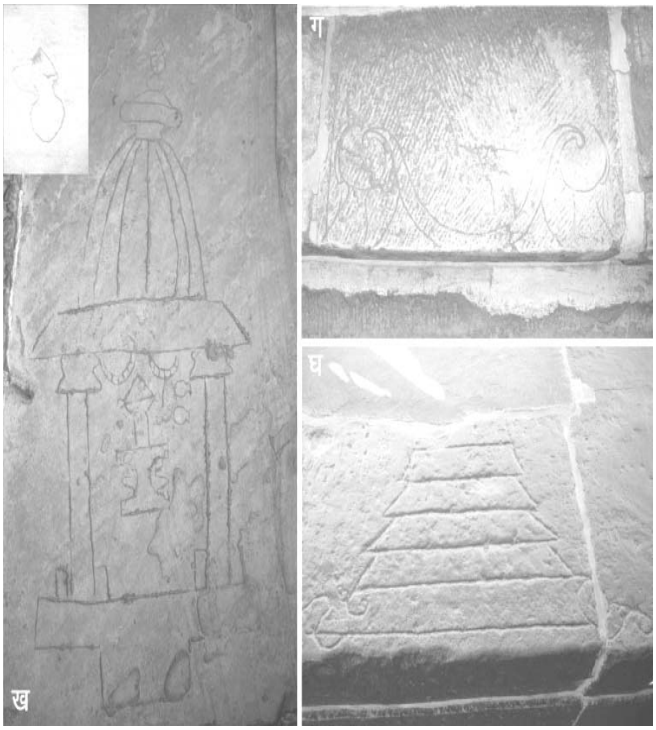

चित्र संख्या-2

चित्र संख्या-4

चित्र संख्या-5

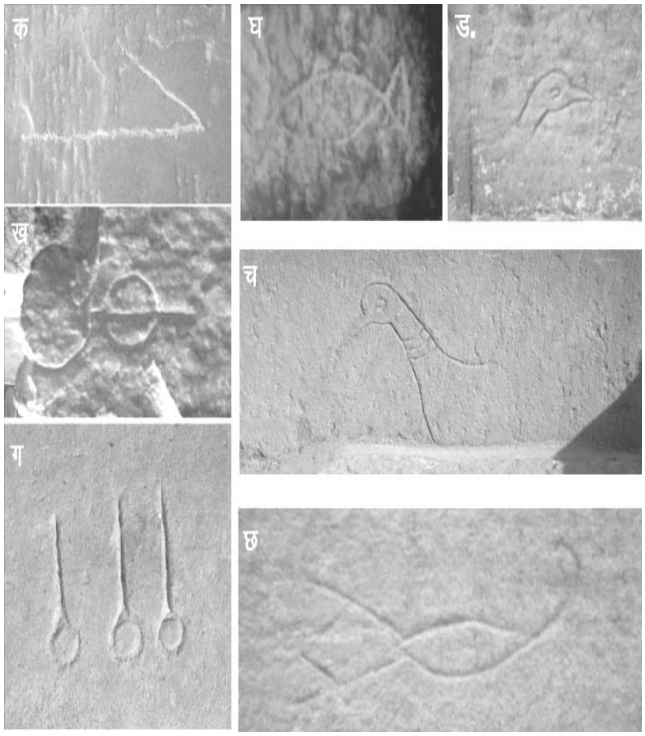

चित्र संख्या-6

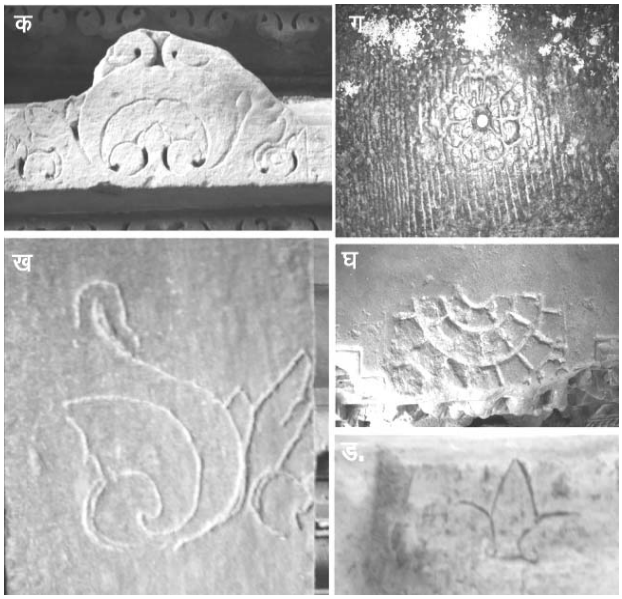

चित्र संख्या-7

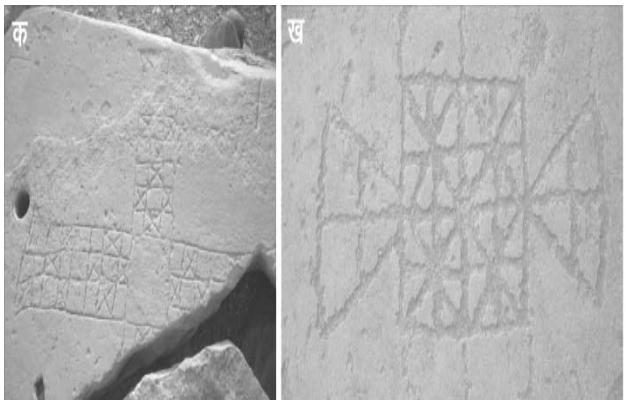

चित्र संख्या-8

चित्र संख्या-9

वर्तमान सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी मन्दिर अथवा मन्दिर समूह के निर्माण में राजा से लेकर कार्य कर रहे मजदूरों एवं कलाकारों के बीच कई चरण रहे होंगे। यथा-

प्रथम चरण-इस चरण में राजा द्वारा प्रस्तावित धार्मिक भावना से प्रभावित होकर मन्दिर निर्माण की योजना अपने अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाना होता है।

द्वितीय चरण-राजा द्वारा प्रस्तावित योजना को प्रमुख अधिकारी द्वारा संज्ञान में लेना एवं उक्त कार्य को कार्यान्वित करने हेतु राजशिल्पी से मिलना एवं योजना को बताना होता था।

तृतीय चरण-राजशिल्पी को आधुनिक सन्दर्भ में हम नागरिक अभियंता के रूप में देख सकते हैं जिसके द्वारा राजा के बताये गये क्षेत्र विशेष में स्थान विशेष का चयन करना होता होगा जिसके उपरान्त राजा के आज्ञानुसार मन्दिर की संख्या एवं उसकी भव्यता को जानते हुए राजमिस्त्री योजना में होने वाले खर्च का ब्योरा राजा के समक्ष प्रस्तुत करता होगा।

चतुर्थ चरण-राजा की स्वीकृति मिलने के उपरान्त कार्य की शुरूआत होती होगी। सबसे पहले मन्दिर निर्माण की रूपरेखा को तत्कालीन किसी लेखन वस्तु यथा-वृक्ष की छाल, भुर्जपत्र, जानवरों का चमड़ा, लकड़ी के पट्ट के साथ ही साथ समतल पाषाण खण्डों पर बनायी जाती रही होगी। इनमें लम्बे समय तक स्थायी रूप से रहने वाली वस्तु पाषाण है अतएव सम्भव है कि इस माध्यम का प्रयोग मन्दिर निर्माण की रूपरेखा हेतु किया जाता रहा होगा जिन्हें हम खजुराहो के सन्दर्भ में इस लेख में वर्णित कर रहे हैं।

पंचम चरण-मन्दिर की इन रूपरेखाओं को जो किसी राजशिल्पी के द्वारा निर्मित एवं राजा के द्वारा प्रस्तावित होता होगा, को एक मानक के रूप में कार्य चल रहे स्थान विशेष पर रखा जाता होगा जिसे आधार बनाकर अन्य शिल्पी एवं मजदूर मन्दिर निर्माण कार्य को कर्यान्वित करते रहे होंगे।

मजदूरों एवं कलाकारों द्वारा वनस्पति एवं पशु-जगत से सम्बन्धित कला को कन्दकारी के माध्यम से बनाया जाना एक ओर जहाँ कलाकार की पारिश्रमिक चिन्ह को दर्शाता है वहीं दूसरी ओर उस कला विशेष के निर्माण हेतु बनायी गयी रेखाओं को भी दर्शाता है जो सम्भवतः किन्हीं कारणों से अपूर्ण रहीं।

पशु-पक्षी एवं जनसमुदाय से सम्बन्धित कन्दकारियों का निर्माण हमें अपरोक्ष रूप से कलाकार की स्वतः अभिव्यक्ति एवं परोक्ष रूप से तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य को दर्शाता है। उदाहरणस्वरूप चित्र संख्या 4 (ख) में दर्शित गधे द्वारा महिला के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाये जाने का प्रमाण है। महाराष्ट्र के सन्दर्भ में इस प्रकार के दृश्य को गद्धेगाल[6] के नाम से जानते हैं जो हमें अभिलेखिय सन्दर्भ में एक प्रकार की प्रतीकात्मक गाली के रूप में दर्शाया जाता है। खजुराहो में उत्कीर्ण यह दृश्य भी सम्भवतः गद्धेगाल ही है जिसे अभिलेख के ऊपर बनाये जाने का उद्देश्य यह था कि अभिलेख में लिखी बातें एवं दान सम्बन्धी किये गये निर्णयों का पालन न करने वाला व्यक्ति के साथ दिये गये दृश्य[7] के अनुसार वैसी ही घटना उसके घरेलू महिलाओं के साथ होगी।

लेखकों द्वारा इन सम्पूर्ण कन्दकारियों को कुल छः (6) भागों में बाँटा गया है जो कुल चौंतीस (34) की संख्या में छब्बीस (26) विभिन्न प्रकारों में प्राप्त हैं, का अवलोकन तत्कालीन सामाजिक, पशु जगत, वनस्पति जगत, शिल्पकारों की रुचि, उनके तकनीक विकास एवं तत्कालीन नागरिक अभियंता की दक्षता को दर्शाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. खान, माजिद, 2008, रॉक आर्ट स्टडीज (हाउ टू स्टडी ऑफ आर्ट), मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन, रियाद, सउदी अरब, पृ0 61
2. उपरोक्त, पृ0 63
3. व्हिटली, डेविस एस, 2005, इन्ट्रोडक्शन टू रॉक आर्ट, लेफ्ट कोस्ट प्रेस, कैलिफोर्निया, पृ0 13
4. तिवारी, सचिन, 2013, एथनिक रूट्स ऑफ कल्चरल ट्रेडिशन इलस्ट्रेटड इन कैमूर रॉक आर्ट, एन्शिएण्ट एशिया : जर्नल ऑफ द सोसायटी ऑफ साउथ एशियन आर्कियोलॉजी, 4:2, पृ0 11-14, DOI : http://dx.doi.org/10.5334/aa.12308
5. जुड़, टी, 2011, व्हाट द एनिमल रॉक आर्ट इमेजेज ऑफ द ईस्टर्न डेजर्ट ऑफ इजिप्ट टेल अस अबाउट द पीपल हू ड्रियू देम, रॉक आर्ट रिसर्च : द जर्नल ऑफ द आस्ट्रेलियन रॉक आर्ट रिसर्च एसोसिएशन, 28(2) पृ0 187
6. मोकाशी, रूपाली, 2015, गद्धेगल स्टोन्स : एन एनालिसिस ऑफ इम्प्रिकेशन्स एण्ड इन्ग्रैव्ड इलस्ट्रेशन्स, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ इनोवेटिव रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट वोल्यूम 4, इश्यू 4, पृ0 163-164
7. वरकूड, हर्षद, 2016, पब्लिक पर्सेप्शन ऑफ ऐस-कर्स स्टेलिस एण्ड द इस्यू ऑफ डीफेसमेन्ट फेस्ड ड्यूरिंग एक्स्प्लरेशन्स इन महाराष्ट्र, हेरिटेज : जर्नल ऑफ मल्टीडिसप्लनेरी स्टडीज इन आर्कियोलॉजी-4, केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम, पृ0 342-351

शिवमहापुराण में वेदान्त के मोक्षसाधन

नेहा मिश्रा एवम् प्रो. विभा रानी दुबे***

शिवमहापुराण पुराण साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण पुराण है। अन्य पुराणों के समान शिवमहापुराण में भी विभिन्न दर्शनों के तत्त्व प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होते हैं। शिवमहापुराण में अन्य दर्शनों के साथ विशेष रूप से वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है यह शिवमहापुराण वेदान्त से प्रभावित ग्रन्थ है इसमें वेदान्त के मोक्ष साधनों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है ब्रह्मज्ञान रूपी प्रमा के मुख्य साधनभूत जो उपनिषद् हैं उन्हें वेदान्त कहते हैं-

''वेदान्तो नाम उपनिषद् प्रमाणम् ।''[1]

धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्त परिभाषा नामक ग्रन्थ में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहा गया है-

''इह खलु धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्विध पुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम पुरुषार्थः।''[2]

मोक्ष का स्वरूप

'मोक्षस्तु शुद्ध ब्रह्मात्मको निरतिशयानन्दरूपः।'[3]

अर्थात् मोक्ष तो शुद्धब्रह्म रूप निरतिशय आनन्दरूप है।

मोक्ष का साधन : मोक्ष का साधन ब्रह्मज्ञान को कहा गया है-

'परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य साधनं तु ब्रह्मज्ञानम् ।'[4]

ब्रह्म का स्वरूप : तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन हमें प्राप्त होता है- **''सत्यं ज्ञानमन्तन्तं ब्रह्म।''**[5]

ब्रह्म ज्ञान के साधन

ब्रह्म के साक्षात्कार स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति बतायी गयी है और ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन रूप इन त्रिविध साधनों का विवेचन हमें वेदान्त में प्राप्त होता है।

गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं कि **''तत् त्वम् असि।''**[6] ''तुम ब्रह्म हो'' यह उपदेश वाक्य है गुरु के इन कहे हुये वाक्यों के अर्थों का अनुभव शिष्य श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा करता है तब उसे **'अहं ब्रह्मास्मि''**[7] ''मैं ब्रह्म हूँ'' यह अनुभव होता है।

उन त्रिविध साधनों का विवेचन वेदान्त के अनुसार इस प्रकार से प्राप्त होता है-

क. श्रवण

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम् ।[8]

छः लिङ्गों से युक्त श्रवण नामक साधन सम्पूर्ण वेदान्त के अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का प्रतिपादक है। श्रवण के छः प्रकाशक तत्त्व (1) उपक्रम और उपसंहार (2) अभ्यास (3) अपूर्वता (4) फल (5) उपपत्ति और (6) अर्थवाद है।

1. उपक्रम और उपसंहार

प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ।[9]

किसी प्रकरण के प्रतिपादित अर्थ को उसके आरम्भ और अन्त में उपपादन करना। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण का प्रतिपाद्य विषय है- अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन। प्रारम्भ में **''एकमेवाद्वितीयम्''**[10] अर्थात् एकमात्र अद्वितीय सत् ही था और अन्त में **'एतदात्म्यमिदं सर्वम्'**[11] यह सारा जगत सत् संज्ञक आत्मा वाला है इन शब्दों के द्वारा अन्त में प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार के द्वारा अद्वितीय आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

2. अभ्यास

''प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनः पुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः।''[12]

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का उस प्रकरण के मध्य में **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य के द्वारा उसी अद्वितीय आत्म तत्त्व का नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

3. अपूर्वता

'प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणम् अपूर्वता।'[13]

प्रकरण में प्रतिपादित वस्तु का किसी अन्य प्रमाण द्वारा विषय न बनाया जाना अपूर्वता है। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का किसी अन्य प्रमाण द्वारा अगम्य होना **''आचार्यवान् पुरुषो वेद''**[14]इत्यादि कथन से सूचित होता है।

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

4. फल

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम् ।''[15]

किसी प्रकरण के द्वारा आत्मज्ञान के लिये किये जाने वाले साधनानुष्ठान का जो प्रयोजन उस-उस प्रकरण में प्रतिपादित होता है वही फल कहलाता है।

जैसे- कोई चोर नेत्र बँधे किसी पुरुष को गान्धार देश से लाकर निर्जन स्थान में छोड़ दे। वहाँ वह व्यक्ति अपनी सहायता के लिए चारो दिशाओं की ओर मुँह करके लोगों को आवाज दे कि मुझे मेरे नेत्रों को बाँधे हुए ही यहाँ छोड़ दिया गया। फिर किसी पुरुष के द्वारा उसके बन्धन को खोलकर उसे गान्धार देश में जाने का मार्ग बताया जाए तो वह तीक्ष्य बुद्धि वाला व्यक्ति उस बताये गये मार्ग से ही एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धार देश में ही पहुँच जाता है। उसी प्रकार इस लोक में ''**आचार्यवान् पुरुषो वेद**''[16] आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है उसके लिए मोक्ष होने में तभी तक देर है जब तक वह इस शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता। जैसे ही वह शरीर के बन्धन से मुक्त होता है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

जैसे- किसी व्यक्ति के नेत्र पर मोह रूपी कपड़ा बांध दिया जाता है स्त्री, पुत्र मित्रादि दृष्ट, अदृष्ट विषय तृष्णाओं से बंधे हुए मनुष्य के अन्दर पाप-पुण्य रूपी चोरों के प्रवेश कर दिये जाने पर मैं इसका पुत्र हूँ, मैं उत्पन्न हुआ, मैं जराग्रस्त हूँ। इसी प्रकार जब अनेक दुःख से युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्यकर्म की प्रबलता होगी तब सांसारिक बन्धन से रहित होकर ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की प्राप्ति होने पर उन ब्रह्मवेत्ता के द्वारा सांसारिक विषयों के दोषदर्शन का मार्ग दिखाये जाने पर वह सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश से अविद्यामय मोहरूपी वस्त्र के बन्धन से छुड़ाया जाकर गान्धार देशीय पुरुष के समान अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर सुख और शान्ति का अनुभव करता है। इसी बात को आरुणि ने ''**आचार्यवान् पुरुषोवेद**' इस वाक्य से कहा है।

5. अर्थवाद

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः[17]

प्रकरण के प्रतिपाद्य विषय का स्थान-स्थान पर प्रशंसा ही अर्थवाद है।

जैसे- 'क्या तुमने आचार्य से उस आदेश के विषय में पूछा है जिससे न सुना हुआ सुना हुआ, न विचारा गया विचारा गया तथा न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है। इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु की प्रशंसा की गयी है।

6. उपपत्ति

'प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः।[18]

प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को प्रमाणित करने के लिए स्थान-स्थान पर जिन युक्तियों का वर्णन किया जाता है वह युक्ति ही उपपत्ति है।

यथा-

मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञाताद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम् ।[19]

अर्थात् जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने उसके विकार या कार्यभूत सारे पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। विकार तो वाणी से उत्पन्न होने वाला नाम मात्र है; सत्य तो केवल मृत्तिका ही है लोक में भी जिस प्रकार कमण्डलु और घट आदि के कारणभूत एक मृत्पिण्ड के जान लिये जाने पर ही उसके विकार भूत सम्पूर्ण मृत्तिका के कार्यसूह को लिया जाता है।

इन छः लिङ्गों से युक्त श्रवण नामक साधन से ''**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**''[20] का स्वरूप ज्ञात हुआ। श्रवण के जो छः प्रकाशक तत्त्व है वे अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादक है।

ख. मनन

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनोवेदान्तानुगुणयुक्तिभिरन-वरतमनुचिन्तनम्।[21]

जिस अद्वितीय ब्रह्म का श्रवण किया हो उस अद्वितीय वस्तु ब्रह्म का वेदान्त के अनुकूल तर्कों के द्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है।

ग. निदिध्यासन

वेदान्तसार में परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये तृतीय साधन निदिध्यासन को माना गया है-

विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्र वाहो निदिध्यासनम् ।[22]

अर्थात् विजातीय शरीरादि विषयक विचारों से रहित अद्वितीय वस्तु के सजातीय विचारों को मन में प्रवाहित करना निदिध्यासन है।

निदिध्यासन में एकाग्रता की स्थिति होती है मन केवल उस अद्वितीय ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है।

इस प्रकार वेदान्त में त्रिविध साधनों का विवेचन प्राप्त होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी के द्वारा अमृतत्त्व का साधन पूछने पर श्रवण, मनन तथा निदिध्यावसन रूपी इन त्रिविध साधनों का वर्णन किया-

''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।''[23]

हमारे विवेच्य ग्रन्थ शिवमहापुराण में भी मोक्ष के साधन श्रवण, कीर्तन तथा मनन का वर्णन प्राप्त होता है-

श्रवण

श्रीशिवमहापुराण में भक्ति के साधनों में सर्वप्रथम श्रवण को बताया गया है श्रवणेन्द्रिय के द्वारा भगवान् के नाम, गुण और उनकी लीलाओं का श्रवण करना चाहिए। सङ्गीत के किसी भी साधन अर्थात् वाद्य विशेष के द्वारा भगवान् शङ्कर से सम्बन्धित शब्दों का समूह जब श्रवणेन्द्रियों के द्वारा सुनायी पड़ता है और जैसे स्त्रियों की क्रीड़ा सुनने में प्रिय लगती है उसी प्रकार जब भगवान् शङ्कर का गुणगान हमारे श्रवणेन्द्रिय में रमण करता है जो जगत् प्रसिद्ध है उसे विद्वज्जन श्रवण कहते हैं।

येनापि केन करणेन च शब्दपुञ्जं

यत्र क्वचिच्छिवपरं श्रवणेन्द्रियेण।

स्त्रीकेलिवद्दृढतरं प्रणिधीयते यत्

तद्वै बुधाः श्रवणमत्र जगत्प्रसिद्धम् ।।[24]

भगवन्नाम का श्रवण तो तभी सम्भव हो पायेगा जब हम सज्जनों की सङ्गति में रहेंगें, जैसा कि नीतिशतककार महाकवि भर्तृहरि ने भी कहा है-

सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् [25]

सज्जनों की सङ्गति से ही भगवान् शङ्कर के गुणों का श्रवण होता है जैसे जैसे श्रवण होगा वैसे-वैसे हमारी भगवान् शङ्कर के प्रति भक्ति दृढ़ता की ओर अग्रसर होती जायेगी तब श्रवण तथा कीर्तन के पश्चात् हमारी भक्ति के फलस्वरूप जब भगवान शङ्कर की कृपा होगी तभी परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन मनन सम्भव हो पाता है।

सत्सङ्गमेन भवति श्रवणं पुरस्तात्

सङ्कीर्तनं पशुपतेरथ तद्दृढं स्यात् ।

सर्वोत्तमं भवति तन्मननं तदन्ते

सर्वं हि सम्भवति शङ्करदृष्टिपाते।।[26]

कीर्तन

द्वितीय साधन है- कीर्तन।

वाणी के द्वारा भगवान् के नाम, गुण और लीलाओं का कीर्तन करना चाहिए। परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए द्वितीय साधन कीर्तन को बताया गया है-

गीतात्मना श्रुतिपदेन च भाषया वा।

शम्भुप्रतापगुणरूप विलासनाम्नाम् ।

वाचा स्फुटं तु रसवत्स्तवनं यदस्य

तत्कीर्तनं भवति साधनमत्रमध्यम् ।।[27]

जो वेदमन्त्र गेय हो उन गेय मन्त्रों के द्वारा अथवा अपनी-अपनी भाषा में जो भगवान् की स्तुति करते हैं उन स्तुतियों द्वारा भगवान् शङ्कर के पराक्रम, रूप, गुण, विलास तथा नामों की सुस्पष्ट एवं सरस वाणी से जो स्तुति की जाती है उसे कीर्तन कहते हैं। इसे परब्रह्म के साक्षात्कार के लिए मध्यम साधन कहा गया है।

मनन

तृतीय साधन है- मनन

मन के द्वारा भगवान् के नाम, गुण और लीलाओं का मनन करना चाहिए।

पूजा, जप, ईश्वर के गुण, विलास तथा ईश्वर के नाम इनका स्मरण करने से जो हमारे मन की शुद्धि होती है। वही मनन है। इस मनन रूपी साधन की प्राप्ति ईश्वर की विशेष कृपादृष्टि से ही होती है। यही सब साधनों में प्रमुख कहा गया है। यह मन रूपी सर्वोत्कृष्ट साधन ईश्वर की विशेष कृपा दृष्टि से ही सम्भव हो पाता है।

पूजाजपेशगुणरूपविलासनाम्नां

युक्तिप्रियेण मनसा परिशोधनं यत् ।

तत् सन्ततं मननमीश्वरदृष्टिलभ्यं

सर्वेषुसाधनवरेष्वपि मुख्यमुख्यम् ।।[28]

शिवपुराण में साध्य है शिवपदप्राप्ति, साधन है भगवान् शङ्कर की सेवा अर्थात् सदैव भगवान् शङ्कर की भक्ति करना। साधक ऐसा होना चाहिए जो निष्काम कर्म करने वाला हो तथा फल की प्राप्ति के विषय में निःस्पृह रहता हो अर्थात् नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों के फल से प्राप्त होने वाले स्वर्ग की इच्छा न रखता हो।

साध्यं शिवपद प्राप्तिः साधनं तस्य सेवनम् ।

साधकस्तत्प्रसादाद्यां नित्यादिफलनिः स्पृहः।।[29]

भगवान् शङ्कर की भक्ति करने पर सभी को परमपद की प्राप्ति होती है, उन भक्ति के साधनों को स्वयं भगवान् शङ्कर ने अपनी अमृतमयी वाणी में अपने भक्तों के लिए वर्णन किया है-

तद्भक्त्यनुसारेण सर्वेषां परमं फलम् ।

तत्साधनं बहुविधं साक्षादीशेन बोधितम् ।।[30]

श्रोत्र के द्वारा भगवन्नाम के सङ्कीर्तन का श्रवण, वाणी द्वारा सङ्कीर्तन तथा मन द्वारा मनन करना यही परब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं।

इन साधनों के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है अतः मनुष्यों को भगवान् शिव को ही अपना साध्य बनाना चाहिए।

''श्रोत्रेण श्रवणं तस्य वचसा कीर्तनं तथा।

मनसा मननं तस्य महासाधनमुच्यते॥''[31]

''श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च मन्तव्यश्च महेश्वरः

इति श्रुतिः प्रमाणं नः साधनेनामुना परम॥[32]

साध्यं व्रजत सर्वार्थसाधनैकपरायणाः।[33]

भगवान् शङ्कर स्वयं ब्रह्मरूप हैं, वे निष्कल कहे जाते हैं। **'शिवैकोब्रह्मरूपत्वान्निष्कलः परिकीर्तितः।'**[34]

उपसंहार

वेदान्त में मोक्ष के त्रिविध साधन श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को बताया गया है वेदान्त से ही प्रभावित ग्रन्थ शिवमहापुरण में भी मोक्ष के त्रिविध साधनों को ही बताया गया है ये त्रिविध साधन हैं श्रवण, कीर्तन तथा मनन। श्रवण तथा मनन का तो वर्णन वेदान्त की तरह यहाँ भी यथावत् ही प्राप्त होता है किन्तु निदिध्यासन को यहाँ कीर्तन एवं मनन में ही समाहित माना गया है, क्योंकि जब भगवन्नाम का हम सङ्कीर्तन करेंगे तब मन स्वयं परमात्मा में समाहित हो जायेगा और मनन के फलस्वरूप परमात्मा से एकाकार की स्थिति हो जायेगी। फलस्वरूप जीव परमात्मा का ऐक्य सम्बन्ध स्थापित होगा और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होगी। इस प्रकार शिवमहापुराण में वेदान्त के मोक्षसाधनों का विवेचन हमें प्राप्त होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 25
2. धर्मराजाध्वरीन्द विरचित वेदान्त परिभाषा, लक्ष्मणपुरीय अखिल भारतीय संस्कृत परिषद से प्रकाशित 2021 विक्रमाद, पृ0 सं0 7
3. वही, पृ0 सं0 8
4. वही, पृ0 सं0 9
5. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1
6. छान्दोग्योपनिषद् 6/8/7
7. बृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/10
8. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 124
9. वही, पृ0 सं0 125
10. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
11. छान्दोग्योपनिषद् 6/16/3
12. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 125
13. वहीं
14. छान्दोग्योपनिषद् 6/14/2
15. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 125
16. छान्दोग्योपनिषद् 6/14/2
17. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 125
18. वहीं
19. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/4
20. छान्दोग्योपनिषद् 3/14/1
21. वेदान्तसार (सदानन्द), व्याख्याकार, डॉ0 आद्या प्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ0 सं0 128
22. वहीं
23. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/6
24. श्रीशिवमहापुराण 1/4/4, व्याख्याकार, डॉ0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठन
25. भर्तृहरि प्रणीत, नीतिशतकम् 23
26. श्री शिवमहापुराण 1/4/5, व्याख्याकार, डॉ0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान
27. श्री शिवमहापुराण 1/4/3, व्याख्याकार, डॉ0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान
28. वहीं 1/4/2
29. श्री शिवमहापुराण 1/3/18, व्याख्याकार, डॉ0 ब्रह्मानन्द त्रिपाठी चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान
30. वहीं, 1/3/20
31. वहीं, 1/3/21
32. वहीं, 1/3/22
33. वहीं, 1/3/23
34. वहीं, 1/3/10

मैत्रायणीय-आरण्यकानुसार ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व स्वरूप विवेचन

नेहा मौर्या[*] एवम् डॉ0 शिल्पा सिंह[**]

वेद भारतीय-संस्कृति की अमूल्य-निधि है। भारतीय-सभ्यता एवं संस्कृति को उच्चकोटि तक पहुँचाने वाले ग्रन्थ-रत्न 'वेद' हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत् में वेद ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें सभी विद्याओं का समावेश है। 'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु (विद ज्ञाने) से 'घञ्' (अ) प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- ज्ञान। अतः ज्ञान की राशि या ज्ञान का संग्रह ग्रन्थ वेद है। प्राचीन ऋषियों ने अपनी आर्ष दृष्टि से जो ज्ञान प्राप्त किया या संग्रह किया वही वेद है। सायणानुसार वेद की परिभाषा इस प्रकार है-

''इष्टप्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः।।''[1]

अर्थात् जो इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण का अलौकिक उपाय बताता है, उसे वेद कहते हैं।

'ऋक्प्रातिशाख्य' की व्याख्या में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है –

''विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादि- पुरुषार्थ इति वेदाः।''[2]

अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थों को प्राप्त किये जाते हैं, वह ज्ञान वेद कहलाता हैं।

मनु कथनानुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन, सर्वदा विद्यमान रहने वाला चक्षु है। लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद की उपादेयता है। वेद अपौरुषेय-ग्रन्थ है। वह स्वतः आविर्भूत होने वाला तथा नित्य है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ये चार वेद ज्ञान के प्रकाश-स्तम्भ हैं। वैदिक-साहित्य में वेदरूपी वृक्ष में, वेद-तना, संहिता-भाग शाखायें, ब्राह्मण-भाग प्रशाखा रूप में, आरण्यक-भाग उस वेदरूपी वृक्ष के पर्ण एवं पुष्प हैं तथा उपनिषद् पुष्प के सुगन्ध रूप हैं।

आरण्यक-ग्रन्थों का उद्भव नैसर्गिक- प्रक्रियानुरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों के पश्चात् हुआ। आरण्यक वैदिक-वाङ्मय की एक विशेष विधा है, जो मंत्र एवं ब्राह्मण-साहित्य के याज्ञिक विनियोगों का तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से परिशीलन करके वैदिक- साहित्य में निहित ज्ञान एवं आध्यात्मिक तत्त्वों को परिष्कृत करती हैं तथा औपनिषदिक साहित्य के दार्शनिक विचारों को पुष्ट करती है। आरण्यक शब्द का अर्थ है- अरण्य में होने वाला (अरण्ये भवम् आरण्यकम्) ज्ञान। अरण्य (वन) में होने वाले अध्ययन-अध्यापन, मनन, चिन्तन, शास्त्रीय चर्चा और आध्यात्मिक- विवेचन आरण्यक के अन्तर्गत आते हैं।

आचार्य सायण ने तैत्तिरीय-आरण्यक के भाष्य में व्यक्त किया है कि अरण्य में इसका पठन-पाठन होने से इसे आरण्यक कहते हैं-

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।

अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।।[3]

महाभारत का कथन है कि आरण्यक-ग्रन्थ वेदों के सार-भाग हैं। जैसे- दही से मक्खन, मलय से चन्दन और औषधियों से अमृत प्राप्त होता है, वैसे ही वेदों से आरण्यक प्राप्त हुए हैं –

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।

आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा।।[4]

गोपथ- ब्राह्मण में आरण्यकों को 'सरहस्याः' के द्वारा 'रहस्य' शब्द से निर्देशित किया गया है-

''एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सं ब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्याताः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरूक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्याः तेषां यज्ञमभिपद्यमानानां छिद्यते नामधेयं यज्ञ इत्येवाचक्षते।''[5]

आरण्यक ग्रन्थों में मैत्रायणीय आरण्यक का अपना वैशिष्ट्य है। यजुर्वेद की दो शाखा शुक्ल-यजुर्वेद एवं कुष्ण-यजुर्वेद है। मैत्रायणीय-आरण्यक कुष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय-शाखा से सम्बन्धित है। इस आरण्यक को 'मैत्रायणीयोपनिषद्' भी कहते हैं। यह मैत्रायणीय-संहिता के परिशिष्ट के रूप में उपलब्ध है। इस आरण्यक को 'चरक शाखोक्त बृहदारण्यक' भी कहते हैं। इस आरण्यक के ऋषि 'कठ' हैं। मैत्रायणीय आरण्यक में सात प्रपाठक हैं। यह गद्य एवं पद्य दोनों में उपदिष्ट हैं। इसके प्रथम-प्रपाठक में 4 खण्ड,

* शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

द्वितीय-प्रपाठक में 7 खण्ड, तृतीय-प्रपाठक में 5 खण्ड, चतुर्थ-प्रपाठक में 6 खण्ड, पंचम-प्रपाठक में 2 खण्ड, षष्ठ-प्रपाठक में 38 खण्ड एवं सप्तम-प्रपाठक में 11 खण्ड हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण खण्डों की संख्या 73 हैं।

ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व

ब्रह्म शब्द ''बृह् वृद्धौ' धातु से मनिन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- वर्द्धनशील। ब्रह्म सबसे महान् एवं सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हैं। भागवत में कहा गया है कि ज्ञानमय और अद्वय परम तत्त्व को ज्ञानी-ब्रह्म, योग-परमात्मा और भक्त-भगवान कहते हैं।

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।[6]

इस परमतत्त्व को निरतिशय बृहत् होने के कारण ब्रह्म, सर्वोत्कृष्ट और सबकी अन्तरात्मा में निहित होने के कारण परमात्मा तथा सर्वविध भजनीय गुणों से सम्पन्न होने के कारण भगवान कहा जाता है।

आत्मा शब्द 'अन् प्राणने' अथवा अत् सात व्यगमने धातु में मनिण प्रत्यय के योग से निष्पन्न हाता है।

मैत्रायणीय-आरण्यक में ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व

मैत्रायणीय आरण्यक में ब्रह्मयज्ञ से तात्पर्य ब्रह्म से ही है। इस आरण्यक में ब्रह्म एवं आत्मा इन दोनों तत्त्व को एक ही बताया गया है। आत्मा को ही ब्रह्म कहा गया है और इसी आत्म-ज्ञान का उपदेश शाकायन्य मुनि राजा बृहद्रथ को देते हैं।

बृहद्रथ के प्रश्नों का निराकरण करते हुये शाकायन्य मुनि आत्म-तत्त्व के बारे में कहते हैं कि प्राण को न रोकने से जो स्थूल शरीर से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में चली जाती है, जो न व्यथित होती है और न क्षीण होती है, जो अन्धकार को हटा देती है, वही आत्मा है। यह आत्म-सम्बन्धि ज्ञान मुझे भगवान् मैत्रि से प्राप्त हुयी है, जिनसे बालखिल्य सदृश तेजस्वी ऋषियों ने भी यह ज्ञान अर्जित किया था। शाकायन्य मुनि पुनः कहते हैं कि यह जो प्रसन्नता का भाव है, जो इस शरीर से ऊपर उठकर परम ज्योति की निकटता प्राप्त कर लेती है यही आत्मा है। यही ब्रह्म-विद्या है। यह आत्म-तत्त्व अमृत, निर्भय और ब्रह्म स्वरूप है।

अथ यऽएषोऽसावाविष्टम्भनेनोर्द्धमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येषऽआत्मेत्याह भगवान्मैत्रिरित्येवं ह्याहाथ यऽएष सम्प्रससा३दोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योति रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यतऽएषऽआत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति।[7]

मुनि राजा से कहते हैं कि यह जो आत्मतत्त्व ज्ञान है वही ब्रह्म विद्या है। यही ब्रह्म-विद्या का निरूपण उपनिषदों में हुआ है। इसके पश्चात् मुनि शाकायन्य अपनी ज्ञान परम्परा का उद्घाटन करते हुये कहते हैं कि जो ज्ञान भगवान मैत्रि से मुझे प्राप्त हुआ वही ज्ञान मैं तुम्हे बतलाऊँगा। सर्वप्रथम बालखिल्यों ने क्रतु नामक प्रजापति से कहा कि- यह जो हमारा शरीर है वह कछड़े के समान अचेतन है, कौन-सी अतीन्द्रिय तत्त्व है, जिसके द्वारा यह अचेतन शरीर चेतनवत् हो जाता है- इस शरीर को सञ्चालित करने वाला कौन है। इस रहस्य को हमें बतलाये।

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा, राजन्नस्माकं भगवता मैत्रिणाऽऽख्याताऽहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजसोर्ध्वरेतसो बालखिल्याऽइति श्रूयन्तेऽथ क्रतुं प्रजापतिमब्रुवन्भगवञ्छकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमाऽतीन्द्रिय भूतस्य येनैतद्वि धमेतच्चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वाऽअस्य यद्भगवन्वेत्स्यैतदस्माकं बूहीति तान्होवाचेति।[8]

बालखिल्यों के प्रश्नों का निराकरण करते हुये भगवान मैत्रि कहते हैं कि जो सम्पूर्ण प्रपञ्च से परे निष्प्रपञ्च स्वरूप में अवस्थित होकर सर्वोपरि स्थित सुना जाता है, जो शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, प्राणहीन, निरात्मा, अनन्त,अक्षय्य, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र रूप से अपनी महिमा में स्थित है, वही आत्मतत्त्व इस शरीर में चेतन की भाँति प्रतिष्ठापित है। वही आत्मतत्त्व इस शरीर का प्रेरक है।

यो ह खलु वावोपरिस्थः श्रूयते गुणेष्विवोर्ध्वरेतसः स वाऽएष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणो निरात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनदं शरीर चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति।।[9]

आत्मा की परमसत्ता के रूप में ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर आत्म-तत्त्व को ही ब्रह्म कहा गया। ब्रह्म जो सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। यह आत्म-तत्त्व सम्पूर्ण भुवन के जीव-जन्तु, मनुष्य, पेड़-पौधे इत्यादि में विद्यमान है। यही आत्म-तत्त्व सृष्टि प्रक्रिया का आधार भी है।

इस प्रकार पुरुष अध्यावसाय, सङ्कल्प और अभिमान रूप लक्षणों से बँधा होने के कारण ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता है। इनसे विपरीत होने पर वह मुक्त हो जाता है। इसलिए साधक के लिए यह उचित है कि वह अध्यावसाय, सङ्कल्प और अभिमान रहित होकर रहे। यही मोक्ष का लक्षण है एवं उस परमसत्ता ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग भी है।

तस्मान्निरध्यवसायो निःसङ्कल्पो निरभिमानस्तिष्ठेदेतन्मोक्षलक्षणमेषाऽत्र

ब्रह्मपदव्येषोऽत्र द्वारविवरोऽनेनास्य तमसः पारं गमिष्यति॥[10]

इस आरण्यक के अनुसार ब्रह्म को ही ब्रह्मा, महेश, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, अग्नि, वरुण, वायु, इन्द्र एवं चन्द्रमा कहा गया है।

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।

त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः॥[11]

मैत्रायणीय आरण्यक के पञ्चम प्रपाठक में कौत्सायनी-स्तुति के माध्यम से ब्रह्म के अनेक रूप का वर्णन प्राप्त होता है और इस प्रपापठक के माध्यम से यह बताया गया है, ब्रह्म ही सृष्टि का कर्त्ता है। ब्रह्म ही गुणों के वैषम्य से सृष्टि का प्रतिपादन करता है।

वैदिक वाङ्मय में ब्रह्म

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का (विभिन्न रूपों और विभक्तियों में) 354 बार उल्लेख हुआ है। भाष्यकार सायण के मत से ऋग्वेद में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त ब्रह्मन् शब्द मुख्यतः सूक्त स्त्रोत तथा महान् के अर्थ में और पुल्लिंग में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द मुख्यतः स्तोता ब्राह्मण के अर्थ में आया है। अथर्ववेद में ब्रह्मन् शब्द परमेश्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।[12]

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार विराट पुरुष ही इस दृश्यमान जगत् का आधार है, जो कुछ हो चुका है, जो कुछ होने वाला है वह सब उस विराट पुरुष में समाहित है। विराट पुरुष से तात्पर्य यहाँ पर ब्रह्म ही है-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतोत्वत्स्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥[13]

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भसूक्त में भी हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्म ही प्राणदाता और बलदाता है। इसी के आदेशों का पालन सभी देवगण करते हैं। अमरता और मृत्यु इसके साथ छाया के समान रहते हैं-

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व

उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः

कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[14]

इस सूक्त के प्रारम्भ के नौ मन्त्रों में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'' आदि पदों का प्रयोग हुआ है। इन पदों का अर्थ है कि हम किस देव के लिए हवन करें? परमात्मा के ऐश्वर्य का उल्लेख करते हुए ऋषि कहता है कि उनके अतिरिक्त ऐसा कौन देव है, जिसमें असीम शक्ति संनिहित हो। दसवें मन्त्र में कहा गया है कि हे प्रजापति! आपके अतिरिक्त और कोई देव ऐसा नहीं है, जिसमें उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हों।

ऋग्वेद के 'विष्णुसूक्त' में ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विष्णु ने अपने तीन पग से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नाप लिया। इस सूक्त से यह स्पष्ट होता है कि विष्णु ही इस जगत् का आधार है। विष्णु ही जगत् के रक्षक हैं उनका अतिक्रमण करने वाला कोई नहीं है।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

समूहळमस्य पांसुरे॥[15]

शुक्ल-यजुर्वेद में कहा गया है कि परमेश्वर अचल और एक होते हुए भी मन से भी अधिक तीव्र वेग वाले हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधामि॥[16]

उन्हें देव भी नहीं जानते। वे सभी शक्तियों का अतिक्रमण कर जाते हैं। वे चलते हुए भी नहीं चलते हैं तथा दूर होते हुये भी समीप में स्थित हैं। ब्रह्म इस संसार के बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्व तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।[17]

शुक्ल यजुर्वेद के 32वें अध्याय में ब्रह्म को उपमान रहित बताया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्म ही उत्पन्न हुये। वे सम्पूर्ण दिशाओं को व्याप्त कर स्थित हैं। ब्रह्म में ही प्रलयकाल में सभी प्राणी लीन हो जाते हैं और सृष्टिकाल में उन्हीं से प्रकट हो जाते हैं –

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

तस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥[18]

परमात्मा महत्तत्त्व आदि के नियामक हैं। वे पंचभूतों में रमे हुए हैं और सभी प्राणियों के अन्तःकरण में व्याप्त है। वह तेजोमय आवरण से युक्त हैं।

अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त और ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त में ब्रह्म को जगत् का सार बताया गया है। यहाँ स्कम्भ से तात्पर्य 'आधार' से है। पृथ्वी उनकी प्रमा (आधार), अन्तरिक्ष उदर और द्युलोक उनका शिर है। चन्द्रमा और सूर्य उनके नेत्र तथा अग्नि उनका मुख है। वायु उनके प्राणापान, अंगिरा, नेत्र और दिशाएँ प्रज्ञानी है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।

दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[19]

ब्रह्म भूत, वर्तमान एवं भविष्य सभी जगह व्याप्त है। वे सभी रूपों में होते हुए भी एक रूप को प्राप्त करते हैं। वे गर्भ में अदृश्य रहते हुए विचरण करते हैं और अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं। परमात्मा महान् होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, क्योंकि वे बाल से भी अधिक सूक्ष्म हैं। अथर्ववेद के 'उच्छिष्ट सूक्त' में कहा गया

है कि दृश्य-प्रपंच का निषेध करने पर जो शेष बचते हैं वे ही उच्छिष्ट ब्रह्म हैं। इन उच्छिष्ट ब्रह्म में अखिल जगत् स्थित है।

उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।

उच्छिष्टे इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्।।[20]

ब्रह्म के लक्षण

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि ब्रह्म सत्य, ज्ञान एवं अनन्त हैं और वे विज्ञान एवं आनन्द-रूप हैं –

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।[21]

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।[22]

बृहदारण्यक-उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि गार्गी को ब्रह्म के बारे में बताते हुये कहते हैं कि- वह न स्थूल है, न सूक्ष्म, न लघु है, न गुरु, उसमें न रस है, न गन्ध, उसके न आँख हैं, न कान, वह नित्य है। सम्पूर्ण आकाश इसी ब्रह्म में ओत-प्रोत है –

स होवाचैतद वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वमदीब्धमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाका शमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममु खममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन।।[23]

केनोपनिषद् का कथन है कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं हैं किन्तु वाणी जिससे प्रकाशित होती है वही ब्रह्म है –

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[24]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म विश्व का कर्त्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि, ज्ञाता, काल का प्रेरक अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सम्पूर्ण विद्याओं का आश्रय है तथा वही प्रधान और पुरुष का अध्यक्ष और संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु है–

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः।।[25]

माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म को जन्मरहित, निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरूप से रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ कहा गया है –

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन।[26]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो प्राणादि के सो जाने पर जागता रहता है- वही शुद्ध है, वह ब्रह्म है, वही अमृत स्वरूप है उसी पर सम्पूर्ण जगत आश्रित है। कोई भी उसका उलङ्घन नहीं कर सकता। निश्चित रूप से यही ब्रह्म है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चनाएतद्वै तत्।।[27]

वैदिक वाङ्मय में आत्मा

लिंग पुराण में कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है, जो सबको अपने में ग्रहण कर लेती है और जिसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है, उसे आत्मा कहते हैं।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।

यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।[28]

महाभारत में कहा गया है कि यही आत्मा जब प्रकृति या शरीर से सम्बन्धित हो जाती है, तब उसे 'जीव' कहते हैं।

आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।

तस्मिन यः संश्रितोदेहे सर्वलोकहितात्मकम्।।[29]

कठोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि आत्मा नित्य और अमर है। शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु उसमें निवास करने वाली आत्मा का नाश नहीं होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[30]

इस उपनिषद् में रथ-रूपक का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अन्तर्गत इन्द्रियों को अश्व एवं इन्द्रियों के विषय उन अश्वों के विचरण हेतु पथ है। आत्मा को उस रथ का रथी कहा गया है–

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।[31]

ऋग्वेद के वागम्भृणीय सूक्त के अनुसार साधक को आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का तात्त्विक ज्ञान हो जाता है, तब आत्मा और परमात्मा में अभेद स्थापित हो जाता है और साधक अपने में परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगता है।[32]

आत्मा के लक्षण

भागवत में आत्मा के बारह लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सबका कारण, व्यापक, असंग, आवरण-रहित, एक, क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार और स्वयं-प्रकाश है –

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः।

अविक्रियः स्वदृग्हेतुर्व्यापकोऽसंग्यनावृतः।

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः।

अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत्।।[33]

वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित आत्मा के बारह लक्षण इस प्रकार है- प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न है-

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नावाश्चात्मनो लिंगानि।[34]

न्यायदर्शन के अनुसार इच्छा, प्रयत्न, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के छः लक्षण हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिंगम्।[35]

सांख्य दर्शन में आत्मा को देहादि से भिन्न बताया गया है –

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्।[36]

देहादि व्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्।।[37]

गीता और वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म (ईश्वर) का अंश बताया गया है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानी कर्षति।[38]

अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि,

दाशकितवादित्वमधीयत एके।39

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मैत्रायणीय-आरण्यक में ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व को एक ही बताया गया है, जो भी इस ब्रह्म एवं आत्म-तत्त्व को जान लेता है वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तैत्तिरीय - संहिता भाष्य की भूमिका
2. ऋक्प्रातिशाख्य – विष्णुमित्र
3. तैत्तिरीयारण्यक – सायण भाष्य, प्रथम-भाग, प्रकाशन-आनन्दाश्रममुद्रणालय
4. महाभारत का शान्तिपर्व, अध्याय-331, श्लोक सं0-3, भाग दो, (पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)
5. गोपथ ब्राह्मण (मूलमात्र), प्रथम-संस्करण-1980, सम्पादक- डॉ0 विजयपाल विद्यावारिधि, प्रकाशक- सावित्रि देवी बगडिया ट्रस्ट
6. भागवत 1-2-11
7. मैत्रायणीय–आरण्यक 2-2, सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय-मण्डल, परडी
8. मैत्रायणीय–आरण्यक 2-3, सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय-मण्डल, परडी
9. मैत्रायणीय–आरण्यक 2-4, सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय-मण्डल, परडी
10. मैत्रायणीय–आरण्यक 6-30 सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय-मण्डल, परडी
11. मैत्रायणीय–आरण्यक 5-1, सम्पादक पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय-मण्डल, परडी
12. अथर्ववेद 10-8-1
13. ऋग्वेद 10-90-2
14. ऋग्वेद 10-121-2
15. ऋग्वेद 1-22-17
16. ईशावास्योपनिषद् (शुक्ल यजुर्वेद) 40-4
17. ईशावास्योपनिषद् (शुक्ल यजुर्वेद) 40-5
18. शुक्लयजुर्वेद 32-8
19. अथर्ववेद 10-7-34
20. अथर्ववेद 11-7-1
21. तैत्तिरीयोपनिषद् 2-1-1
22. बृहदारण्यकोपनिषद् 3-9-28
23. बृहदारण्यकोपनिषद् 3-8-8
24. केनोपनिषद् 1-4
25. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6-16
26. माण्डूक्योपनिषद् - अद्वैतप्रकरण-36
27. कठोपनिषद् 2-2-8
28. लिंगपुराण 1-70-96
29. महाभारत-शान्तिपर्व 187-24
30. कठोपनिषद् 1-2-18
31. कठोपनिषद् 1-3-4
32. ऋग्वेद 10-25
33. भागवत 7-7-19/20
34. वैशेषिक दर्शन 3-2-4
35. न्यायदर्शन 1-1-10
36. सांख्यदर्शन 6-1
37. सांख्यदर्शन 6-2
38. गीता 15-7
39. वेदान्तदर्शन 2-3-43

●

हास्य रस का स्वरूप तथा मानव जीवन पर वैज्ञानिक प्रभाव

किरन प्रकाश[*] एवम् डॉ0 प्रदीप कुमार[**]

व्यावहारिक जीवन में प्रायः देखा जाता है कि एक मनुष्य जो चाहे किसी भी सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, चिकित्सा अथवा अन्य किसी क्षेत्र से सम्बन्धित हो- यदि वह सर्वदा हँसमुख रहता है, तो अपने क्षेत्र में शीघ्र ही अत्यधिक लोकप्रिय हो जाता है तथा अन्य मनुष्य उनसे मिलने में एक प्रकार की शान्ति और आत्मीयता का अनुभव करते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य सर्वदा विविध प्रकार की हास्य एवं विनोदपूर्ण कवि-गोष्ठियों, सांस्कृतिक-कार्यक्रमों, सुन्दर-सुन्दर चलचित्रों तथा नाटकों आदि को देखते समय भी उचित प्रकार की प्रसन्नता व्यक्त नहीं करते तथा अपने ही गम्भीर विचारों में सर्वदा समय-असमय डूबे रहते हैं तो भले ही वह मनुष्य अपने विषय का कितना भी बड़ा विद्वान् क्यों न हो, उसके विषय में यह तो निर्विवाद रूप से कहा ही जा सकता है कि वह मनुष्य विद्वान् होते हुये भी लोक-व्यवहार की कला से अनभिज्ञ है।

जो मनुष्य प्रसन्नचित्त स्वभाव के होते हैं, वो कभी भी समाज से अलग नहीं होते हैं, अपितु सम्पूर्ण समाज को वह अपने परिवार सदृश समझते हैं।

प्रसन्नचित्त मनुष्य दैववश बड़ी से बड़ी विपत्ति के उपस्थित हो जाने पर भी अपने विनोदपूर्ण स्वभाव के कारण हँसी-खुशी उस विपत्ति से बाहर आ जाते हैं।

इसी हास्य रस की महत्ता को देखते हुये संस्कृत साहित्य जगत् में हास्य रस के स्वरूप को शास्त्रीय दृष्टि से अनेक साहित्य-शास्त्रीयों ने अत्यन्त विस्तार के साथ अपनी-अपनी पुस्तकों में वर्णित किया है।

साहित्यिक आचार्यों में सर्वप्रथम हास्य रस को परिभाषित करने वाले आचार्य, 'भरतमुनि' है। इन्होंने नाट्यशास्त्र में कहा है-

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधान वेषैश्च

विकृतैरङ्गविकारैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः॥[1]

अर्थात् विपरीत स्थान पर अलङ्कारों के धारण करने, विकृत व्यवहार, वाक्य तथा वेष के प्रदर्शन करने और विकृत अङ्गों (विकारों तथा) चेष्टाओं आदि के द्वारा हँसाने पर 'हास्य' कहलाता है। साहित्यिक आचार्य भरतमुनि ने ही सर्वप्रथम हास्य रस को उत्तम, मध्यम, अधम के भेद से छः प्रकार के बतायें हैं।

भावप्रकाश में हास्य रस की परिभाषा इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है-

प्रीतिविशेषः चित्तस्य विकासो हास उच्यते।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में हास्य रस की परिभाषा को इस प्रकार से प्रतिपादित किया है-

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।

हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथ दैवतः॥2 4॥[2]

विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः।

तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥2 1 5॥[3]

अनुभावोक्षिसङ्कोच वदनस्मेरतादयः।

निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः॥2 1 6।[4]

चतुर जन की विकारयुक्त वाणी, वेष और चेष्टा आदि से हास्य रस प्रकट होता है, इसका स्थायी भाव 'हास' है वर्ण 'शुक्ल' और देवता 'प्रमथ' माने जाते हैं।

जिन आकार, वाणी और चेष्टा से विकृत जनों को देखकर लोग हँसते हैं वह आलम्बन कहा जाता है। और उसकी चेष्टा उद्दीपन कारण होती है।

नेत्र संङ्कोच और मुखविकास आदि अनुभाव होते हैं। निद्रा, आलस्य और अवहित्था (आकार को छिपाना) आदि इसमें व्यभिचारी भाव होते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने हास्य रस के दो भेद माने हैं- आत्मस्थ और परस्थ। तथा हास्य रस के भेदोपभेद करके उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से छः भेद हो जाते है।

हास्य रस के भेदोपभेद का निरूपण करते हुए पण्डितराजजगन्नाथ ने प्राचीन आचार्यों के मत को ''रसगंङ्गाधर'' में उद्धृत करते हुए लिखा है-

आत्मस्थः परसंस्थश्चेद्यस्य भेदद्वयं मतम्।

आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः॥

हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते।

योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः॥[5]

अर्थात् हास्य रस दो प्रकार का होता है- आत्मस्थ और परस्थ। जिन लोगों को विभाव (हास्य के विषय) के देखने मात्र से

---

* शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हास्य उत्पन्न हो जाता है उसे आत्मस्थ हास्य कहते हैं, और जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है एवं जिसका विभाव भी हास्य ही होता है उसे रसज्ञ आचार्य परस्थ हास्य कहते हैं।

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने भी हास्य रस को परिभाषित करके आत्मस्थ और परस्थ के भेद से षड्विध हास्य को बताया है-

आत्मस्थ- उत्तम, मध्यम, अधम।

परस्थ- उत्तम, मध्यम, अधम।

आत्मस्थ हास्य रस का उदाहरण आचार्य धनञ्जय ने इस प्रकार दिया है-

जातं मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं

हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः।

रुद्राक्षैः सकलैः सरत्नवलयं चित्रांशुकं वल्कलं

सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः॥[6]

कामी व्यक्ति किसी सुन्दरी को आकृष्ट करने के लिए शरीर पर चन्दन का लेप करता है, हार पहनता है, बातों को सजा-सँवारकर रखता है तथा बेल-बूटा वाला रेशमी वस्त्र धारण करता है।

इस उदाहरण में कामी व्यक्ति ही हास्य को उत्पन्न करने का आलम्बन है। उसका विकृत वेष उद्दीपन है। अपने ही वेष को देखकर मुस्कुराना आदि अनुभाव है तथा शङ्का, ग्लानि आदि व्यभिचारी भाव है।

इसी प्रकार आचार्य धनञ्जय ने परस्थ हास्य रस का उदाहरण दिया है-

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे? किं तेन मद्यं बिना

किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह।

वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम्? द्यूतेन चौर्येण वा

चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य काऽन्या गतिः॥[7]

दूसरे के विकृत वेष आदि से होने वाला हास्य परस्थ होता है जैसे उपरोक्त उदाहरण से ज्ञात होता है-

प्रश्नकर्ता- हे भिक्षुक, क्या तुम मांस का सेवन करते हो?

भिक्षुक- मदिरा के बिना उससे क्या लाभ?

प्रश्नकर्ता- क्या तुम्हे मदिरा भी प्यारी है?

भिक्षुक- ओह! वह तो प्रिय ही है, किन्तु वेश्याओं के साथ (न कि अकेले)

प्रश्नकर्ता- वेश्या तो पैसे की भूखी रहती है, तो तुम्हें धन कहाँ से प्राप्त होता है?

भिक्षुक- जुआ अथवा चोरी से।

प्रश्नकर्ता- आप चोरी और जुआ को भी अङ्गीकार कर चुके हैं?

इस प्रकार भिक्षुक और प्रश्नकर्ता आपस में वार्तालाप करके हँसते हैं, उनकी हँसी को देखकर उत्पन्न हास्य परस्थ हास्य रस कहलाता है।

हास्य एक ऐसी पूँजी है जो हँसने वाले को तो स्वस्थ बनाती ही है, साथ ही आस-पास वालों को भी खुश रखती है। हास्य रस का आनन्द लेने के लिए आवश्यक है कि आपके आस-पास सकारात्मक ऊर्जा वाले लोग हो जो सर्वदा माहौल को खुशनुमा बनाये रखें।

हास्य रस का मानव जीवन में महत्त्व

हँसने से मुख की मांसपेशियों का व्यायाम होता है। रक्त सञ्चरण सामान्य रहता है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञों ने भी 'हास' को मूल प्रवृत्ति के रूप में समुचित स्थान दिया है और इसके विश्लेषण में पर्याप्त चिन्तन भी किया है। इस मनन-चिन्तन को पौर्वात्य काव्याचार्यों की अपेक्षा पाश्चात्य काव्याचार्यों ने विस्तारपूर्वक अभिव्यक्ति दी है।

'हास्य' मनुष्य के जीवन का सकारात्मक अङ्ग है। इससे मनुष्य अपने जीवन को समुचित रूप से विकसित कर सकता है। हँसते हुये मनुष्य हमेशा खुश रहते हैं और खुश रहने का महत्व भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा है-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥65॥[8]

अर्थात् खुश रहने मात्र से मानव की बुद्धि स्थिर हो जाती है तथा कभी भी वह विचलित नहीं होती है। जिस कारण चित्त की एकाग्रता बढ़ती है और बुद्धि संकल्प विकल्पनात्मक नहीं रह जाती है, इसलिए हे अर्जुन! तुम हमेशा खुश रहों।

इसी प्रकार महाभारत में भी युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद से हास्य का महत्त्व देखा जा सकता है- यक्ष पूछते हैं युधिष्ठिर से- 'जीवन के लिए सबसे जरूरी वस्तु क्या है?

इसका उत्तर देते हुये युधिष्ठिर कहते हैं-

''जीवन के लिये स्वास्थ्य जरुरी है, तन और मन दोनों का ही, और मन के स्वास्थ्य के लिये सकारात्मक हास्य की अत्यधिक आवश्यकता है।''

'हास्य' का मानव जीवन पर वैज्ञानिक प्रभाव

'हास्य' रस का प्रभाव मानव जीवन पर निम्न प्रकार से दिखायी देता है-

(1) 'हास्य' से मनुष्य के आँखों में चमक उत्पन्न होती है तथा रौशनी में भी वृद्धि होती है।

(2) अवसाद (Depression) से मुक्ति मिलती है तथा दुःख के क्षण जल्दी दूर हो जाते हैं।

(3) स्वास्थ्य का संतुलन जो अनिद्रा या अनिष्ट सूचना के कारण भङ्ग हो जाती है वह हँसने से पूर्णता को प्राप्त होती है।

(4) खुश रहने से आत्मविश्वास में वृद्धि होती है और परस्पर मेल-जोल बढ़ता है।

(5) किसी कार्य को करने में पुनरावृत्ति की शक्ति मिलती है।

(6) हीन भावना दूर होता है और हमारा चेहरा भी तुलनात्मक रुप से अधिक सुन्दर प्रतीत होता है।

(7) हँसने के दौरान फेफड़ों में ऑक्सीजन (प्राणवायु) की मात्रा में वृद्धि होती है जिससे फेफड़े सम्बन्धि रोग नहीं होते हैं।

(8) हास्य से अपने क्रोध पर काबू किया जा सकता है जिससे हृदय स्वस्थ रहता है।

(9) हास्य से रोग-प्रतिरोधक क्षमता में भी वृद्धि होती है।

(10) हास्य एक ऐसा व्यायाम है जिससे मुख के मांसपेशियों का व्यायाम (Exercise) तो होता ही है साथ ही साथ चित्त भी सकारात्मक (Positive) रहता है।

इस प्रकार हास्य रस का प्रभाव परिलक्षित होता है, किन्तु हास्य में भी कुछ ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बातें होती हैं जो निम्न प्रकार है-

(1) हास्य कभी भी अमर्यादित नहीं होनी चाहिए। हमारा हास्य किसी के उपहास का हेतु न बने।

(2) अप्राकृतिक (बनावटी) हँसी नहीं होनी चाहिए।

(3) बिना उचित समय तथा बिना सोचे-समझे नहीं हँसना चाहिए।

(4) दूर्बल व्यक्तियों, विकृत अंङ्गो तथा अस्वस्थ मनुष्यों पर कभी भी हँसना नहीं चाहिए।

निष्कर्ष

मुस्कुराने वाला व्यक्ति स्वयं तो खुश रहता ही है दूसरों को भी खुश रखता है। ऐसे स्वभाव वाले मनुष्य अपने कार्यों को अत्यन्त सरलता से पूर्ण कर लेते हैं।

हास्य से तन-मन के तनाव दूर होते हैं तथा स्वभाव की कटुता दूर होती है। आत्मनिरीक्षण और आत्मपरिष्कार के साथ ही समाज-सुधारक मार्ग प्रशस्त होता है। व्यक्ति तथा समाज के थकान को दूर कर उनमें ताजगी भरता हुआ जनस्वास्थ्य और लोकस्वास्थ्य का उपकारक बनता है।

इस प्रकार 'हास्य' स्वस्थ रहने की एक ऐसी औषधि है जिससे हानि कुछ नहीं किन्तु लाभ अत्यधिक है और वह औषधि (हास्य) निःशुल्क भी है। जो आधुनिक युग में अत्यन्त आवश्यक भी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. नाट्यशास्त्र 6/50
2. साहित्यदर्पण 3/214
3. साहित्यदर्पण 3/215
4. साहित्यदर्पण 3/216
5. रसगंङ्गाधर 1/पृ0सं0 184
6. दशरूपक 4/पृ0सं0 362
7. दशरूपक 4/पृ0सं0 362
8. श्रीमद्भगवद्गीता 2/65

●

नैषधीयचरित के आलोक में श्रीहर्ष की व्याकरणिक प्रतिभा

अभिषेक पाण्डेय एवम् डॉ0 प्रदीप कुमार***

किसी कवि के काव्य के आधार पर उसकी किसी भी शास्त्र में प्रतिभा-विशेष का मूल्याङ्कन करने के लिये तत्कालीन परिस्थितियों का सामान्य ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। महाकवि कालिदास के बाद के कवियों में कलावादिता या चमत्कारवादिता दृष्टिगोचर होती है और ऐसा होने पर स्वाभाविकता का अभाव होना तय है अपि च ये सब श्रीहर्ष के पूर्व ही अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुका था अर्थात् संस्कृत वाङ्मय में रसवादिता को चमत्कारवाद ने इतना पीछे छोड़ दिया कि काव्य भी सूक्तिमात्र रह गया और कभी-कभी तर्कशास्त्र या दर्शन के समान 'ग्रन्थग्रन्थि' से जटिल होने लगा। सम्प्रति ऐसे समय में रचित 'नैषधीयचरित' में दुरूह भाषा का प्रयोग होना न केवल स्वाभाविक था बल्कि कवि के लिये अपेक्षित भी था। महाकवि श्रीहर्ष ने अपना काव्य कोरे रसिक सहृदयों के लिये न लिखकर प्रकाण्ड पण्डितों के लिये लिखा है। उनके काव्यरूपी गहन कानन में बिछे शब्दरूपी काँटों तथा अलङ्काररूपी झाड़झंखाड़ों में बिना योग्य निर्देशक के प्रवेश करना सामान्य रसिक के लिये सम्भव नही है, इस बात को महाकवि स्वयं पुष्ट करते हैं-

''यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी,
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मयति सुधिभूय सुधियः,
किमस्या नाम स्यादरसपुरूषानादरभरैः॥''[1]

स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीयते,
मथितुरमृतं खदेच्छेदि प्रमोदनमोदनम्॥''[2]

इन वक्तव्यों का सार यही है, कि महाकवि श्रीहर्ष-रचित यह महाकाव्य ऐसे व्यक्ति के लिये नही है, जो स्वयमेव बैठकर उसका आस्वादन करना चाहता हो क्योंकि नैषध शास्त्रीय ग्रन्थों के समान गुरुमुख से समझने की वस्तु है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नैषध के पाठक सामान्य रसिकजन न होकर विदग्ध जन ही हैं।

माघ के समक्ष रखना अनुचित मानते हैं बल्कि प्रथम कोटि के कवियों महाकवि श्रीहर्ष तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार अपने काव्य-सृजन के उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुये हैं, हालाँकि इसके लिये उन्हें अनेक स्थलों पर काव्य के मूल भावपक्ष को कुचलना पड़ा है और कहीं न कहीं यही वह मूल कारण रहा, कि कुछ समीक्षक उन्हें न केवल भारवि एवं में भी स्थान देना उचित नही समझते। वहीं कुछ समीक्षक ऐसे भी हैं, जो श्रीहर्ष की प्रतिभा को परखकर उन्हें भारवि और माघ से भी श्रेष्ठ मानते हुये '**उदिते नैषधे काव्ये क्व माघःक्व च भारविः**' जैसी उक्तियों से मुक्तकण्ठ प्रशंसा करते हैं। इन बातों से स्पष्ट है, कि नैषध महाकाव्य को समझने के लिये बहुशास्त्रावगाही होना अनिवार्य है। विद्या में प्रौढ़ता प्राप्त किये बिना श्रीहर्ष पर दुर्बोधता का आरोप लगाना न केवल अनुचित है, बल्कि स्वयं की अल्पज्ञता का सूचक भी है। डॉ0 दास ने ऐसे अरसिक व्यक्तियों पर स्पष्ट रूप से आक्षेप किया है-

''It should be recognised at once that the Naishadha-Charita is not only a learned poem, but is many ways a repository of traditional learning and should therefore, be approached with full equipment of such learning. It is also a treasure-house of literary dexterity and involves for its appreciation an aptitude in this direction. The modern reader often perhaps lacks this equipment and aptitude and therefore finds little interest in a work which, for its cult of style, has always been of popular with scholars of traditional type.''[3]

डॉ0 दास की बातों का सार यही है, कि नैषधीयचरित केवल पढ़ने वाला वैदुष्यपूर्ण काव्यमात्र ही नही अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है अतः नैषध में प्रवेश करने से पूर्व व्यक्ति को उस समस्त ज्ञान से पूर्णरूपेण सुसज्जित हो जाना चाहिये। उस विशेष योग्यता के होने पर ही नैषध का आस्वादन सम्भव है।

सम्प्रति हमें महाकवि श्रीहर्ष की व्याकरणिक प्रतिभा पर विचार करना है। श्रीहर्ष की व्याकरणविषयक-प्रतिभा का दिग्दर्शन संस्कृत साहित्य की टीका-पद्धति से ही सम्भव है, क्योंकि नैषधीयचरित विभिन्न शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरणशास्त्र के भी गूढ़ एवं सूक्ष्म सिद्धान्तों से ओतप्रोत है। नैषध के प्राचीनतम् टीकाकार विद्याधर ने श्रीहर्ष के पाण्डित्य की ओर सङ्केत करते हुये लिखा है, कि आठों व्याकरण एवं अन्य विविध विषयों तथा शास्त्रों का ज्ञाता ही नैषध की टीका लिखने का अधिकारी है-

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारोनयो
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहितज्ञानान्धकाराण्यसौ,
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्ग सुधीः कोविदः॥

---

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग से ही श्रीहर्ष की व्याकरण-सम्बन्धी प्रतिभा एवं गम्भीरता का परिचय प्राप्त होने लगता है-

''निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।''[4]

प्रथमदृष्टया 'निपीय' रूप भ्वादिगणीय 'पा' धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है, परन्तु 'पा' धातु से यह रूप नही बनेगा क्योंकि निष्पन्न होने की अन्तिम प्रक्रिया में **'नल्यपि'** सूत्र से 'पीय' के 'ईत्व' का निषेध हो जायेगा। अतः दिवादिगण की **'पीङ् स्वादेः'** धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय करने के अनन्तर 'ल्यप्' प्रत्यय लगाने से 'निपीय' पद निष्पन्न होगा। निपीय अर्थात् नितरामास्वाद्य सादरं अर्थात् सम्यक प्रकार से पान करके।

आङ् उपसर्गपूर्वक तुदादिगणी **'दृङ् आदरे'** धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन, आत्मनेपद पद में 'झ' प्रत्यय लगकर, **'झोऽन्तः'** (पा0 7/1/13) सूत्र से 'झ्' के स्थान पर 'अन्त्' आदेश, **'तुदादिभ्यः शः'** (पा0 3/1/77) सूत्र से 'श' विकरण प्रत्यय एवं **'रिङ् शयग्लिङ्क्षु'** (पा0 7/4/28) सूत्र से ऋकार स्थाने रिङादेश होने के पश्चात् **'अचि श्नुधातुभ्रुवां ,वोरियङुवङौ'** (पा0 6/4/77) सूत्र से इकार स्थाने 'इयङ्' आदेश होकर **'अतो गुणे'** (पा0 6/1/97) से पररूप और **'टित आत्मनेपदानां टेरे'** (पा0 3/4/79) सूत्र से एत्व करने पर **'आद्रियन्ते'** रूप बनेगा।

प्रथम सर्ग में ही अधीरते, बोधा, चरण और प्रचारण शब्दों का प्रयोग है-

''अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणद्यन्नुपाधिभिः।

चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥''[5]

इन पदों का प्रयोग महाभाष्य की निम्नलिखित उक्ति का ही प्रतिरूप है-

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति॥[6]

हालाँकि महाकवि ने अधीति, बोध, आचरण तथा प्रचारण क्रम दिया है, जबकि महाभाष्यानुसार अधीति, बोध, प्रचारण फिर आचरण होना चाहिये। अतः यहाँ दुष्क्रमत्व दोष माना जायेगा परन्तु प्रस्तुत स्थल पर यह बहुत अधिक मायने नही रखता।

महाकवि की भाषा की कठिनता में अप्रचलित शब्दों का भी योगदान कम नही है। जैसे प्रथम सर्ग में 'फाल' शब्द का प्रयोग :-

''अमानि तत्तेन निजाय शोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्थितम्॥''[7]

द्वाभ्यां फालाभ्यां भागाभ्यां बद्धाः संयमिता (नारायणी) शिरः पार्श्वयोः संयमिता अर्थात् सिर के दोनों ओर रखे गये। द्वयोः फालयोः बद्धाः। सम्प्रति इस अर्थ में फाल (फल विशरणे + घञ् प्रत्यय) शब्द का प्रयोग अप्रसिध्द है लेकिन कवि के द्वारा यह प्रयोग भी व्याकरण सम्मत तो है ही।

नैषध के तृतीय सर्ग में व्याकरण के स्वौज (सु, औ, जस्-प्रथमा विभक्ति) को लेकर श्लेष से अपनी कल्पना का चमत्कार दिखलाते हैं-

''क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।

या 'स्वौजसां' साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात्॥[8]

अब यहाँ देखे तो हंस द्वारा दमयन्ती के समक्ष नल की प्रशंसा रूप प्रसङ्ग निर्विघ्न प्रवाहित हो रहा है, जो स्पष्ट ही है। व्याकरण पक्ष में देखे, तो अर्थ होगा, कि यदि सुबन्त तथा तिङन्त विभक्तियों का समग्रता से विचार किया जाय, तो वह प्रथमा विभक्ति है, जो अपने सु, औ, जस् प्रत्ययों के कार्य-बल से अनेक प्रातिपदिक शब्दों को सिध्द करने में पूर्णरूपेण समर्थ होती है।

पाणिनि का **'स्थानिवदादेशोऽनलविधौ'**[9] सूत्र कहता है- आदेशः स्थानिवत्स्यान्नतु स्थान्यलाश्रयविधौ अर्थात् आदेश स्थानी जैसा होता है, अनल् विधि में स्थानिना तुल्यः, स्थानी के जैसा होना। इस प्रकार तात्पर्य हुआ, कि स्थानी में जो गुण है, वह आदेश में भी यथावत् रहे, स्थानी को मानकर होने वाले सारे कार्य आदेश को भी प्राप्त हों, किन्तु ये सभी कार्य अल्विधि में नहीं होंगे। अल् का तात्पर्य अल् प्रत्याहार से है। नैषध के दशम् सर्ग में कवि ने इस सूत्र को कितनी सावधानी और गम्भीरता के साथ प्रस्तुत किया है, यह देखने योग्य है-

स्वं नैषधादेशमहोविधाय कार्यस्य हेतोरपिनानलः सन् ।

कि स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं तादृक् कृतव्याकरणः पुनः सः॥[10]

यहाँ श्रीहर्ष ने स्वयंवर में स्वरूप बदलकर पहुँचे हुये इन्द्र के प्रति 'अनल' कार्य आदि श्लिष्ट पदों में 'स्थानिवदादेशोऽनलविधौ' सूत्र का सूत्रार्थ बड़े ही अद्भुत कौशल के साथ व्यञ्जित किया है।

तिङन्त प्रकरण का **'अस्तेर्भूः'**[11] सूत्र विधान करता है, कि 'अस्' धातु के स्थान पर (आर्धधातुक की विवक्षा में) 'भू' आदेश हो। इस सूत्र को नैषध के 11वें सर्ग में कवि ने काशी वर्णन के प्रसङ्ग में श्लेष अलङ्कार के चमत्कार के साथ प्रयोग किया है-

''सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियादस्तांपत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः।

भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य भीमोद्भवे भवति भावमिवास्ति धातुः॥''[15]

अर्थात् जिस प्रकार अनद्यतन भूत अर्थ में 'अस्' धातु 'भू' धातु का स्वरूप प्राप्त कर लेती है, ठीक उसी प्रकार काशी नगरी में पहुँचकर संसार-सागर के जीव शिव-रूप में ही मिल जाते हैं। महाकवि के द्वारा प्रस्तुत स्थल पर पाणिनीय सूत्र 'अस्तेर्भूः' का सूत्रार्थ बड़ी ही सहजता से स्पष्ट किया गया है।

इसी क्रम में आगे चलें तो नैषध के सत्रहवें सर्ग में महाकवि ने पाणिनीय सूत्र **'अपवर्गे तृतीया'**[13] पर बहुत अच्छा पुष्ट व्यङ्गय किया है, कि अपवर्ग (मोक्ष) के लिये तृतीय (पुरुष तथा स्त्री से भिन्न) ही उपयुक्त है-

''उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।

अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥''[14]

पाणिनीय सूत्र **'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'[15]** (अर्थात् आशीर्वाद अर्थ में हुये 'तु' और 'हि' के स्थान पर विकल्प से तातङ् आदेश हो) का प्रयोग महाकवि ने अत्यन्त सहज एवं सुन्दर भाव से किया है-

इह किमुषसि पृच्छाशंसिकिंशब्दरूप प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः।

भण भणिभवशास्त्रे तातडः स्थानिनौकाविति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोऽभूत॥[16]

उपर्युक्त समस्त दृष्टान्त महाकवि के विशद व्याकरणज्ञान का परिचायक है, जैसा कि देखें तो प्रत्येक स्थल पर सूत्रार्थ स्पष्ट करने की शैली में पर्याप्त भिन्नता है अर्थात् किसी एक लीक पर चलते हुये अपने व्याकरण-ज्ञान को प्रदर्शित करने का प्रयास महाकवि ने नही किया है। जैसे कहीं अपने कथन के समर्थन स्वरूप, कहीं व्यङ्ग्य के माध्यम से, कहीं प्रशंसा करते हुये, कहीं वैय्याकरणों की सामर्थ्य द्योतित करते हुये या फिर किसी नियम-विशेष की प्रतिध्वनि मात्र करते हुये महाकवि ने नैषध के प्रत्येक सर्ग में यथोचित स्थलों पर अपने व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी अगाध ज्ञान का न केवल गम्भीरतापूर्वक परिचय दिया अपितु काव्य के माध्यम से व्याकरण सिखाने का बहुत ही प्रशंसनीय प्रयास भी किया जो कि नैषध के पूर्ववर्ती महाकाव्यों की तरह ही विद्वानों के लिये नितान्त प्रेरणास्प्रद रहा (मेरा सङ्केत मुख्य रूप से महाकवि भट्टि की ओर है क्योंकि समीक्षक काव्य के माध्यम से व्याकरण सिखाने का श्रेय भट्टि को ही देते हैं, विस्तार एवं विषयान्तरभय से यहाँ विवेच्य नही है।)

उपर्युक्त प्रस्तुत किये गये दृष्टान्त तो दिग्दर्शनमात्र हैं, जो किसी न किसी रूप में सूत्रों के अर्थ एवं उनके व्यवहार स्पष्ट करते हैं। महाकवि ने पूरे काव्य में जिन-जिन पदों का प्रयोग किया है, अगर अपवाद छोड़ दें तो सभी लगभग व्याकरण क्षेत्र की मर्यादा में ही आते हैं। कहने का तात्पर्य है, कि कवि ने व्याकरण नियमों का निर्वचनमात्र ही नही किया अपितु सावधानीपूर्वक उनका प्रयोग करके भी दिखलाया है। व्याकरण के आधार पर निर्मित नवीन शब्द जैसे- सूननायक, प्रतीतचर, अधिगामुका, अगदङ्कार इत्यादि उनके व्याकरणशास्त्र के अगाध पाण्डित्य के द्योतक ही तो हैं-

''सूननायकनिदेशविभ्रमैरप्रतीतचरवेदनीयम्।

दन्तदंशमधरे·धिगामुका सास्पृशन्मृदु चमच्चकार च॥''[17]

'स्मारज्वर घोरमपत्रपिष्णोः सिध्दागदङ्कारचये।'[18]

व्याकरणशास्त्र के इतर देखें तो महाकवि पद प्रयोग में लोक-प्रयोग पर अधिक जोर देते हैं। महाकवि के अनुसार शब्द-प्रयोग में व्याकरण के नियमों की अवहेलना की जाती है अर्थात् वहाँ लोक-व्यवहार ही मान्य होता है-

''भङ्कं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पे पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।

शशौ यदस्यास्ति शशी ततो·यमेवं मृगो·स्यास्ति मृगीति नोक्तः।''[19]

सम्प्रति इतने विवेचन के पश्चात् यह सिध्द हो जाता है, कि अन्य शास्त्रों के समान व्याकरणशास्त्र में भी महाकवि श्रीहर्ष की अप्रतिहत गति थी और अगाध पाण्डित्य का परिचायक होने के कारण 'नैषध' केवल एक काव्यमात्र न रहकर विभिन्न विषयों के ज्ञान का एक वृहत् कोष सा बन गया है। इस सन्दर्भ में नैषध के सत्रहवें सर्ग के अन्त में प्रसिद्ध टीकाकार विद्याधर की यह उक्ति अर्थवती प्रतीत होती है, कि आठों व्याकरण, अन्य विविध विषयों एवं शास्त्रों का ज्ञाता ही नैषध की टीका लिख सकता है।

अन्त में रही बात नैषध काव्य पर होने वाले आक्षेप की, तो लगभग सभी आक्षेप मुख्य रूप से इस महाकाव्य की दुरूहता पर आश्रित हैं, कहीं नहीं कहीं विद्वानों की अबाध गति न होने के कारण उन्होंने इस काव्य को ही निकृष्ट कोटि का सिद्ध करने का प्रयास किया है और यहाँ तक कि श्रीहर्ष को प्रथम कोटि के कवियों में भी स्थान देना अनावश्यक मानते हैं, जो निश्चित रूप से अत्यन्त हास्यास्पद है। जिस महाकाव्य की चर्चा संस्कृत साहित्य की इतिहासवियति में महाकवियों की वैदुषी के प्रसङ्ग में मुक्तकण्ठ से समालोचकों के द्वारा की जाती रही है तथा जिसमें श्रद्धा और समादर का प्रदर्शन किया जाता रहा, सहसा कुछ भ्रामक तर्काभासों के आधार पर उसे निरस्त करने की कुचेष्टा करना केवल और केवल तथ्य से दूर करना है और कहीं न कहीं ऐसे तथाकथित समालोचकों की समालोचना भी प्रश्नगत हो उठती है, जो किसी भी रूप में स्वीकार करने योग्य नही है। इस सन्दर्भ में तो आचार्य यास्क के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि-

नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति।[20]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नैषधीयचरितम् – 22/150, नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थ कृत् व्याख्या संस्करण-2005
2. वही-22/151
3. History of Sanskrit Literature-Dasgupta and Dey, pp.330
4. नैषधीयचरितम्- 1/1
5. नैषधीयचरितम्- 1/4
6. महाभाष्य पश्पशाह्निक- 1/1/1
7. नैषधीयचरितम्- 1/16
8. नैषधीयचरितम्- 3/23
9. अष्टाध्यायी- 1/1/56
10. नैषधीयचरितम्- 10/136

11. अष्टाध्यायी- 2/4/52
12. नैषधीयचरितम्- 11/117
13. अष्टाध्यायी- 2/3/36
14. नैषधीयचरितम्- 17/70
15. अष्टाध्यायी- 7/1/35
16. नैषधीयचरितम्- 19/60
17. नैषधीयचरितम्- 18/129
18. नैषधीयचरितम्- 3/111
19. नैषधीयचरितम्- 22/82
20. निरूक्त – आचार्य यास्क-1/5/15

●

प्रेमचन्द विषयक कथा समीक्षा और डॉ० रामविलास शर्मा

ऋतम्भरा तिवारी[*] एवम् प्रो. बलिराज पाण्डेय[**]

प्रेमचन्द रामविलास शर्मा के अत्यन्त प्रिय रचनाकार हैं। यही कारण है कि रामविलास जी की पहली आलोचना पुस्तक प्रेमचन्द पर है, जो 'प्रेमचन्द' शीर्षक से सन् 1941 में प्रकाशित हुई। उस समय प्रगतिशील साहित्य को लेकर बहुत तरह के विवाद चल रहे थे। प्रगतिशील लेखक संघ के संगठनकर्ताओं की मान्यता थी की उनके प्रगतिवादी आन्दोन के पूर्व भारतीय भाषाओं में जो कुछ भी लिखा गया वह सब प्रतिक्रियावादी है। वे प्रेमचन्द के साहित्य के प्रगतिशील पक्ष को अस्वीकार करते थे। वह उन्हें फौरी समस्याओं पर लिखने वाला प्रचारक तथा घृणा का प्रचारक तक कहते थे। वे उनकी तुलना में शरच्चंद्र को महान उपन्यासकार मानते थे। ये लोग शरच्चंद्र को मानव हृदय की सूक्ष्म भावनाओं का चित्रण करने की दृष्टि से श्रेष्ठ सिद्ध करते थे। मार्क्सवाद को लागू करने के लिये इस संकीर्ण एवं अतिवादी दृष्टिकोण को रामविलास जी ने' बालरोग' कहा और उसकी कड़ी आलोचना की। उनकी दृष्टि में-''जिस मार्क्सवाद को वे लागू कर रहे थे, वह मार्क्स और एंगेल्स की कुछ ही स्थापनाओं पर आधारित था। उन्होंने मार्क्स, एंगेल्स के चिन्तन की विकासमानता को, उस चिन्तन के क्रान्तिकारी सारतत्व को न पहचाना था। वह बालरोग सन् 40-41 में था और सन् 90-91 में भी है।''[1] रामविलास जी ने मार्क्सवाद की विकासमान दृष्टि से प्रेमचन्द के साहित्य का तर्कसंगत एवं सार्थक मूल्यांकन किया है।

रामविलास जी ने मार्क्सवाद का बिल्ला लगाकर स्वयं को प्रगतिशील दिखाने वाले साहित्यकारों को प्रेमचन्द से प्रगतिशील का अर्थ समझने का निर्देश दिया है। उनका मानना है कि जब नये लेखक प्रेमचन्द को पढ़ेंगे, उनसे सीखेंगे और उनकी तरह श्रमिक जनता से घनिष्ठ सम्पर्क कायम करेंगे तभी वे सही मायनों में प्रगतिशील साहित्य का विकास कर सकेंगे। इसी सन्दर्भ में उनका कथन है- ''प्रेमचन्द के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे परन्तु उनमें कलाकार की सच्चाई की कमी नहीं थी; अपने युग की निर्धनता, दासता और पीड़ितों की आर्त वेदना को जैसा उन्होंने अनुभव किया था, वैसा दूसरे ने नहीं। आज के साहित्यिक के विचार बहुत स्पष्ट हो गए हैं परन्तु उसके पास प्रेमचन्द का अनुभव नहीं है, उनकी-सी सच्चाई भी कम है। प्रेमचन्द की कृतियों का हमारे लिये यह सन्देश है कि हम जनता में जाकर रहें और काम करें-अपनी रचनाओं में जनता-जनता कम चिल्लोयें।''[2] इस प्रकार रामविलास जी का उद्देश्य प्रगतिशील लेखकों को यह बताना था कि पहले वे प्रेमचन्द साहित्य को पढ़े उसमें भारतीय समाज की प्रतिच्छवि को पहचानें और जब अपनी रचनाओं में वे प्रेमचन्द के बराबर आ जाएँ तब फिर उनसे आगे बढ़ने का दावा पेश करें। केवल खोखले नारों एवं मार्क्सवाद सिद्धान्तों के गौरवगान से उच्चकोटि के उपन्यासों का सृजन सम्भव नहीं है।

सन् 36' तक मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं का ध्यान केवल कुछ बड़े नगरों के मजदूरों के संगठन पर था तथा किसानों पर उनका कार्य नहीं के बराबर था। प्रेमचन्द ने उस समय किसानों के उत्पीड़न पर अपना ध्यान केन्द्रित किया, जो उस समय राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी उनका क्रान्तिकारी कदम था। इस प्रकार डॉ0 शर्मा ने प्रेमचन्द के व्यक्तित्व को न केवल गाँधीवादियों की तुलना में अपितु मार्क्सवादियों की तुलना में भी अधिक क्रान्तिकारी कहा है। वे लिखते हैं- ''प्रेमचन्द के युग को देखते हुए हम कह सकते हैं कि क्या राजनीति में, क्या साहित्य में, उस समय उन्हीं का व्यक्तित्व सबसे अधिक क्रान्तिकारी था।''[3]

शर्माजी के अनुसार प्रेमचन्द इस बात से अवगत थे कि हर तरह के जातिवाद तथा हर तरह के साम्राज्यवाद का एक ही तोड़ है- वर्ग संघर्ष। जितना ही किसानों और मजदूरों का वर्ग-संगठन मजबूत होगा उतना ही साम्राज्यवाद कमजोर होगा। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द जाति-बिरादरी के संगठन की नहीं अपितु किसानों, मजदूरों आदि श्रमिक-वर्ग के संगठन की बात करते हैं। रामविलास जी के अनुसार-''ऊँच-नीच के भेदभाव के प्रति प्रेमचन्द से अधिक सचेत और कोई हिन्दी लेखक नहीं था। पर उनके कथा साहित्य में वर्ग संघर्ष है, जमींदारों, महाजनों अंग्रेजी राज के हाकिमों के विरूद्ध संघर्ष है, अगड़ी-पिछड़ी जातियों के बीच संघर्ष नहीं है। कहीं भी यह संकेत नहीं है कि बिरादरी के आधार पर सब लोग एक हो जाएं तो उनका उद्धार हो जाएगा। ऊँच-नीच का भेदभाव डूबता हुआ यथार्थ है; वर्गो का निर्माण, जमींदारों-महाजनों के खिलाफ गरीब किसानों का संघर्ष उगता हुआ यथार्थ है।''[4] अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का साहित्य वर्ग संघर्ष का साहित्य है।

रामविलास शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द का साहित्य भारतीय समाज का दर्पण है तथा उनके साहित्य से परिचित होने का अर्थ है, देश के सामन्ती अवशेषों से और देश के उज्ज्वल भविष्य से परिचित होना। उनके साहित्य में समाज के सभी वर्गो और स्तरों के लोग मिलते है। उन्होंने किसान, महाजन, हाकिम, वकील, जमींदार, राजे-महाराजे, अछूत, बुद्धिजीवी आदि सभी का चित्रण किया है।

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उन्होंने इनका चित्रण बहुत ही सहानुभूति और विवेकपूर्ण ढंग से किया है। इनके कुछ पात्र कभी-कभी बड़े ही निष्क्रिय दिखाई देते हैं, जो अत्याचार का विरोध न करके चुपचाप आँसू बहाते हैं। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो निष्क्रियता छोड़कर सक्रिय विरोध की ओर बढ़ते हैं। रामविलास जी के अनुसार ''प्रेमचन्द की यथार्थवादी कला की सबसे बड़ी विशेषता है- सजीव चरित्र-चित्रण।''[5] इनके पात्र व्यक्ति रूप में ही सजीव नहीं हैं, वे किसी वर्ग या सामाजिक स्तर के प्रतिनिधि भी हैं। उदाहरण स्वरूप 'गोदान' का होरी पिछड़े हुए किसानों का प्रतिनिधि है तो मनोहर और बलराम उन किसानों के प्रतिनिधि हैं जो अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं और उनकी रक्षा के लिये संघर्ष करने को भी तैयार हैं।

रामविलास जी के अनुसार जनता को गुलाम बनाने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के दांव-पेंच को परखने वाली तीक्ष्ण दृष्टि प्रेमचन्द के पास है, जिससे वे जनता को सचेत करते हैं। प्रेमचन्द ने भाग्यवाद, धार्मिक अन्धविश्वास और जनता की खुशहाली के लिये ढोंग करने वाले पाखंण्डियों की तीव्र आलोचना की है। उन्होने साम्प्रदायिकता और जातिप्रथा का तीव्र खंडन किया है क्योंकि यही वे दो हथियार हैं, जिससे जनता की एकता और अखंडता पर प्रहार किया जाता है। प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता के स्तम्भों अत्याचारी जमींदारी, रिश्वती राजकर्मचारियों और अन्यायी महाजनों को उधेड़-उधेड़ कर हमारे सामने उनकी वीभत्सता में खड़ा कर दिया है। रामविलास जी के शब्दों में-''प्रेमचन्द की महत्ता इसमें है कि उन्होंने जमींदार वर्ग की नृशंसता का इतना वृहत् और सर्वांग चित्र खींचा है। चपरासी से लेकर मालिक ज्ञानशंकर तक एक भारी यन्त्र जैसे किसानों की छाती पर शासन कर रहा है, और प्रेमचन्द ने उसके सभी कलपुर्जों की क्रिया की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसकी अमानुषिकता और बर्बरता को उन्होंने छिपाया नहीं है। यह मानना पड़ेगा कि आदर्शवादी अंत के होते हुए भी उन्होंने जमींदारी से समझौता नहीं किया। लोग सुख की साँस तभी लेते हैं जब उसका समूल नाश हो जाता है।''[6] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की आशा उथली नहीं है। वे आत्मबल पर विश्वास करके संगठित होकर साम्राज्यवादी ताकतों पर आघात करने का हमें सन्देश देते हैं। उन्होंने अपने कथा-साहित्य में यथार्थ की निष्ठुरता तथा बीसवीं शताब्दी की अमानुषिकता की कठोर कहानी पूरी-पूरी कह दी है।

रामविलास शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द के उपन्यासों का सबसे महत्वपूर्ण विषय जमीन और आजादी के लिये किसानों का संघर्ष है तथा जमींदारों और महाजनों की गुलामी से छुटकारा पाने के लिये उनका आन्दोलन है। उन्होंने लिखा है- ''किसानों के चित्रण में प्रेमचन्द हमें भारतीय जन-आन्दोलनों के बीचोबीच ला खड़ा करते हैं। यही वह स्थल है जहाँ दमन अपने क्रूरतम रूप में निःसहाय निर्बल किसानों को चूर करता हुआ चलता है। यही वह प्रेरणा-केन्द्र भी है जो समग्र जन-आन्दोलन को बल देता है। किसानों का ही वह वर्ग है जिसके लिये आन्दोलन की समस्त शक्तियाँ एकत्र होकर गतिशील होनी चाहिए।''[7] वस्तुतः प्रेमचन्द की आन्तरिक मनोवृत्ति यथार्थवाद की ओर थी। वे आदर्शवाद की रक्षा के लिये यथार्थ की कटुता को छिपाते नहीं हैं। वे दूसरे आदर्शवादी लेखकों की भाँति यथार्थ के आधार को विकृत नहीं करते बल्कि आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण उसकी पूर्ण भयानकता के साथ करते हैं। डॉ0 शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द का यथार्थवाद जितना गहरा हुआ, उनकी कला भी उतनी ही निखरी। प्रेमचन्द के यथार्थवाद का मूल आधार देश के लिये उनकी भक्ति तथा जनता के लिये उनकी गहरी समाहनुभूति है। साम्राज्यवाद से बिना समझौता किये संघर्ष करना उनकी रचनाओं का मूल सन्देश है। उन्होंने दिखलाया है कि किस प्रकार सामन्ती वर्ग जनता को उनके अधिकारों से वंचित रखने के लिये अंग्रेजों और देशी हाकिमों से मदद ली है। उन्होंने इस वर्ग से जनता को सचेत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

रामविलास शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द भारतीय जनता की जातीय विशेषताओं को गहराई से पहचानते थे अतएव इसको उन्होंने मार्मिक एवं प्रभावशाली ढंग से अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। वे हिन्दू एवं मुस्लिम जातियों के विभेद को यांत्रिक ढंग से नहीं व्यक्त करते। उनके यहाँ दोनों जातियों के संस्कारों के प्रति गहरी सहानुभूति है। वे इन दोनों जातियों के विभेदकारी शक्तियों के विरूद्ध कठोर आवाज उठाते हैं। उनके यहाँ दोनों जातियों के जीवन के अनेक मर्मस्पर्शी दृश्य एवं घटनाएं अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रित हैं। शर्मा जी के अनुसार प्रेमचन्द ने हमारे राष्ट्रीय महत्व को अन्तरराष्ट्रीय पटल पर सम्मानपूर्वक प्रतिष्ठा किया है, अतएव विदेश में भी अनेक आलोचक एवं साहित्यकार प्रेमचन्द के महत्व को स्वीकार करते हैं। शर्मा जी ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य की सूक्ष्म विवेचना करते हुए तर्कसंगत ढंग से निष्कर्ष निकाला है कि प्रेमचन्द हमारे लिये आज भी प्रासंगिक हैं और कल भी प्रासंगिक रहेंगे। इस सन्दर्भ में उनका यह कथन द्रष्टव्य है- ''प्रेमचन्द उन लेखकों में हैं जिनकी रचनाओं से बाहर के साहित्य-प्रेमी हिन्दुस्तान को पहचानते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय सम्मान को बढ़ाया है; हमारे देश को अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में गौरव दिया है। प्रेमचन्द पर सारा हिन्दुस्तान गर्व करता है, दुनिया की शान्ति-प्रेमी जनता गर्व करती है, सोवियत-संघ के आलोचक मुक्त कंठ से उनका महत्व घोषित करते हैं, हम हिन्दी-भाषी प्रदेश के लोग उन पर खासतौर से गर्व करते हैं, क्योंकि वह सबसे पहले हमारे थे, जिन विशेषताओं को उन्होंने अपने कथा-साहित्य में झलकाया है, वे हमारी जनता की जातीय विशेषताएँ थीं।''[8]

शर्माजी ने प्रेमचन्द की महत्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित करते हुए बताया है कि प्रेमचन्द साम्राज्यवाद के कठोर आतंकवाद, किसानों के आन्दोलन की शक्ति, उनके सद्गुणों को बारीकी से पहचाना है और उन्हें सशक्त वाणी प्रदान की है- ''प्रेमचन्द ने फासिस्ट जंगबाजों का विरोध करके विश्व-शान्ति के पक्ष को मज़बूत किया। वह पहले लेखक थे जिन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान पर

हुकूमत करने के लिये साम्राज्यवाद का मुख्य अस्त्र आतंक है। वह पहले लेखक थे जिन्होंने दिखलाया कि हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आन्दोलन की रीढ़ यहाँ का किसान-आन्दोलन है। वह पहले थे जिन्होंने जन-साधारण की शूरता, धीरता, त्याग और बलिदान के सद्गुणों का चित्रण करके हिन्दी-साहित्य को वास्तविक जीवन के 'हीरो' दिए।''[9]

प्रेमचन्द का रचनाकाल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का सर्वाधिक उथल-पुथल भरा समय था। यह समय विश्व स्तर पर महायुद्धों के तनाव, विनाश और विनाश की आशंकाओं से घिरा हुआ समय था। प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य के माध्यम से विश्व-मानव-संस्कृति के विकास में भारतीय जन-संस्कृति के योगदान को वाणी दी है। डॉ0 शर्मा ने लिखा है-''करोड़ो मनुष्यों का संहार करनेवाले दो महायुद्धों के बीच प्रेमचन्द की वाणी अपने भविष्य में अटल विश्वास रखनेवाली भारतीय जनता की वाणी है। राजनीतिज्ञों के कोलाहल और तोपों की गड़गड़ाहट को भेदती हुई यह वाणी आज और स्पष्ट सुनाई देती है।''[10] वस्तुतः प्रेमचन्द का साहित्य अपने समय के भारत और स्वाधीनता आन्दोलन का प्रतिबिम्ब है। इस प्रतिबिम्ब में भारतीय जनता का संघर्ष है, उस समय के सामाजिक जीवन और स्वाधीनता आन्दोलन की असंगतियाँ भी हैं। अपने कलात्मक महत्व के साथ प्रेमचन्द का साहित्य भारत का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

'सेवासदन'

प्रेमचन्द का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास 'सेवासदन' है। 'सेवासदन' की मुख्य समस्या वेश्या-जीवन को समझा जाता था परन्तु डॉ0 शर्मा के अनुसार वास्तव में वेश्या-जीवन उसका मुख्य विषय नहीं है। सुमन कथा के केन्द्र में है इसलिये ऐसा आभास हो सकता है कि उपन्यास वेश्या-जीवन पर है, लेकिन वेश्या जीवन की चर्चा उपन्यास का एक तिहाई से ज्यादा भाग भी नहीं घेरती। वस्तुतः इसकी मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। रामविलास जी लिखते हैं- ''प्रेमचन्द ने किसी तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निष्ठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।''[11] अतः इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का उद्देश्य यथार्थ चित्रण के नाम पर वेश्या-जीवन का स्थूल चित्रण करके पाठकों की दिलचस्पी का सामान तैयार करना या धनी और सुन्दर स्त्रीवाले नौजवानों को कुमार्ग पर पैर रखने से बचाना नहीं है अपितु उनका मुख्य लक्ष्य 'सेवासदन' में वेश्या-जीवन के माध्यम से भारतीय नारी की पराधीनता का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करना था।

प्रेमचन्द ने नारी के संघर्ष का वास्तविक रूप पूरी सच्चाई क साथ चित्रित किया है। वे नारी के आदर और सम्मान की समस्या को तीखेपन से और बार-बार पाठकों के सामने लाकर दिखलाते हैं कि स्त्री की पराधीनता और वेश्यावृत्ति की समस्या हिन्दू और मुसलमान दोनों में है। 'सेवासदन' से प्रेमचन्द उन नारी पात्रों के चित्रण का एक लम्बा सिलसिला शुरू करते हैं जो अपने रोष से पुरूषों को चुनौती देती हैं। वह समूची नारी-जाति के अधिकारों के लिये लड़ती हुई दिखाई देती है। सुमन हिन्दी कथा-साहित्य की वह पहली नारी है जो आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये संघर्ष की डगर पर पाँव उठाती है। डॉ0 शर्मा के शब्दों में- ''प्रेमचन्द से भिन्न जब हम दूसरे लेखकों के कथा-साहित्य में ऐसी नारी ढूँढ़ते हैं जिसके हृदय में अन्याय के प्रति ऐसा ही रोष हो, तब हमें निराश होना पड़ता है। हमारे महान मनोवैज्ञानिक लेखक, न नारी का अपमानित होना समझ पाते हैं, न उसके रोष को। प्रेमचन्द नारी को मनुष्य का दर्जा देने के लिये लड़ रहे थे-बत्तीस करोड़ में सोलह करोड़ को जानवर के बदले इंसान समझने के लिये। इस उपन्यास का और सुमन का यह ऐतिहासिक महत्व है।''[12]

उपन्यास में जहाँ प्रेमचन्द ने नारी का संघर्ष, आत्मसम्मान क रक्षार्थ कठिनाइयों का सामना करते स्त्री को दिखाया है वहाँ कहानी रोचक और बलशाली है परन्तु उपन्यास का अन्तिम अंश काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करने के कारण निर्बल है। शर्मा जी का मानना है कि समाज पर सामंती व्यवस्था का प्रभुत्व था तथा इस व्यवस्था-परिर्वतन के लिये उस समय तक कोई शक्तिशाली और संगठित आन्दोलन मैदान में न आया था। इसी कारण प्रेमचन्द समाज की प्रतिविरोधी शक्तियों को देखते हुए भी उनका चित्रण न कर सके। काल्पनिक समाधान देने के पीछे के कारणों को वे लक्ष्य करते हुए लिखते हैं- ''प्रेमचन्द समस्या का समाधान देना चाहते थे, लेकिन उचित समाधान देने में ऐतिहासिक सीमाएं बाधक थीं। नारी की स्वाधीनता और सम्मान-रक्षा का प्रश्न देश की आम सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का ही अंग है। नारी की स्वाधीनता देश में एक स्वाधीन जनतंत्र कायम हुए बिना संभव नहीं।''[13] डॉ0 शर्मा के अनुसार इस ऐतिहासिक सीमा के होते हुए भी 'सेवासदन' का मुख्य कथा-भाग यथार्थ जीवन का बहुत ही सफल चित्र प्रस्तुत करता है।

'प्रेमाश्रम'

'प्रेमाश्रम' प्रथम महायुद्ध के बाद भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौर का उपन्यास है। सन् 1920 और 1930 के स्वाधीनता आन्दोलन में किसानों के ज़मींदार-विरोधी संघर्ष को दबाने या सीमित करने की कोशिश की गई जो आन्दोलन की असफलता का बहुत बड़ा कारण था। डॉ0 शर्मा के अनुसार प्रेमचन्द इन कारणों को भलीप्रकार जानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन तभी सफल हो सकता था जबकि वह करोड़ो किसानों की अपनी मांगो का आन्दोलन बन जाता। वे इस बात से अवगत थे कि किसानों का आन्दोलन ही स्वाधीनता आन्दोलन को विजय की मंजिल तक पहुँच सकता है। प्रेमचन्द के लिये आजादी का मतलब था विदेशी प्रभुत्व के मुख्य आधार हिन्दुस्तान की सामन्ती ताकतों को जड़ से ख़त्म करना। 'प्रेमाश्रम' की विषयवस्तुका विश्लेषण करते हुए रामविलास जी लिखते हैं- ''प्रेमचन्द ने यहाँ बड़ी खूबी से दिखला दिया है कि अंग्रेजों के

लिखाफ लड़ाई से ज़मींदारों के विरूद्ध संघर्ष का क्या सम्बन्ध था। प्रेमचन्द ने दिखलाया कि ज़मीन के वास्तविक स्वामी किसान हैं जबकि उसके मालिक बन बैठे हैं अंग्रेज और उनके दलाल। इसलिये अंग्रेजों के बनाए हुए कानून- उनकी कायम की हुई कचहरियाँ और शान्ति और व्यवस्था की रखवाली पुलिस-किसानों को दबाने में सबसे आगे रहते थे।''[14] 'प्रेमाश्रम' में पहली बार भारतीय किसानों के संघर्षो और उनकी समस्याओं को व्यापक स्तर पर चित्रित किया गया। इसमें प्रेमचन्द ने बेगार करने वाले, हल जोतनेवाले और सरकार का मुकाबला करनेवाले किसानों को नायक बनाया। अतः मनोहर, बलराज, कादिर, दुखरन सभी इस उपन्यास के हीरो हैं। उनके नायक देवता नहीं है; सामान्य मनुष्य हैं। उनमें गुण-अवगुण दोनों हैं। उनमें कमजोरियाँ हैं, जिनसे वे लड़ते हैं। कभी जीतते हैं कभी हारते हैं। शर्मा जी लिखते हैं-'' 'प्रेमाश्रम' किसान-जीवन का महाकाव्य है। उसमें उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आसपास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।''[15]

कुछ आलोचकों का मत है कि प्रेमचन्द में मनोवैज्ञानिकता का अभाव है। इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए शर्मा जी का कथन है- ''प्रेमचन्द की कला उपन्यास की चित्रमयता में है। प्रेमचन्द अपने पात्रों पर मनोवैज्ञानिक लेख लिखने नहीं बैठ जाते, जैसा कि कुछ अद्‌भुत कलाकार किया करते हैं। वह अपने पात्रों से लम्बी-लम्बी स्पीचें भी नहीं दिलवाते जिनमें थोथे तर्कजाल का विस्तार करके उपन्यास को वजनी बना दिया जाता है। प्रेमचन्द पात्रों के, घटनाओं के, दृश्यों के ऐसे चित्र आँकते हैं कि पाठक उन्हें हमेशा याद रखता है और वे उसकी स्मृति में छिपे हुए उसके विचारों और कर्मो को प्रभावित करते हैं।''[16]

रामविलास जी के अनुसार 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द का जैसा प्रभावशाली कौशल और घटना को सजीव कर देने की क्षमता उभर कर सामने आयी है वैसा उनके कम उपन्यासों में देखने को मिलता है। 'सेवासदन' की तरह उनके इस उपन्यास में भी काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करने की कमजोरी है, तथापि यह उपन्यास विषयवस्तु और रूप-विधान दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचन्द की अद्‌भुत और साहसपूर्ण कृति है। इसे उपन्यास-रचना के साधारण नियमों को तोड़कर रचा गया है। रामविलास जी के शब्दों में, ''मुख्य बात यह है कि 'प्रेमाश्रम' हिन्दी का पहला 'हीरोइक' उपन्यास है जिसे लिखना एक असाधारण कलाकार ही का काम था। उसमें जनता की वीरता का चित्रण है, बिना शब्दों की झंकार-टंकार का सहारा लिये हुए, बिना अलंकारों से साहित्य की आत्मा ढ़ाँके हुए।''[17] इस प्रकार डॉ0 शर्मा के अनुसार 'प्रेमाश्रम' की कला कथा गढ़ने में, कथोपकथन में और चरित्र-चित्रण में तो है ही, लेकिन इन सबसे अलग वह कला है जिसका विश्लेषण उपन्यास के इन अंगों का अलग-अलग विवेचन करने से नहीं हो सकता। प्रेमचन्द की कला उपन्यास की चित्रमयता में है। उन्होंने यथार्थ के बहाव को पकड़कर भावी पीढ़ी के लिये 'प्रेमाश्रम' में सुरक्षित कर दिया है। साम्राज्यवाद और भारत में उसके दलालों के विरूद्ध किसानों के संघर्ष का अन्तरराष्ट्रीय महत्व है। 'प्रेमाश्रम' में किसान समस्या को आजादी की मूल समस्या के रूप में प्रस्तुत करके प्रेमचन्द ने स्वाधीनता आन्दोलन को दृढ़ करने और उसे एक नयी गति देने का अति महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य किया है।

'निर्मला' और 'गबन'

रामविलास जी के अनुसार प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'निर्मला' और 'गबन' उपन्यास नारी-समस्या प्रधान है। 'सेवासदन' की तुलना में 'निर्मला' का कथा-क्षेत्र संकुचित है लेकिन 'निर्मला' दुखांत उपन्यास है, जिसमें मुख्य पात्र निर्मला का त्रासदीपूर्ण अंत होता है। डॉ0 शर्मा ने इस उपन्यास के एक विशेष पहलू की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिसकी ओर रचनाकारों का ध्यान प्रायः कम जाता है। वे लिखते हैं- ''(निर्मला में) एक ट्रैजिक पात्र और है, मंसाराम। यह एक नई तरह का पात्र है, जिसे प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास में जगह दी है। हिन्दी कथा-साहित्य में वयस्क स्त्री-पुरूषों की समस्याओं पर काफ़ी लिखा गया है, लेकिन स्कूली उम्र के लड़कों की तरफ कलाकारों का ध्यान कम गया है।''[18] इस जर्जर सामंती समाज में स्त्री ही नहीं बल्कि पुरूष की भी स्वाधीनता नहीं है- प्रेमचन्द द्वारा वर्णित इस तथ्य को रामविलास जी ने रेखांकित किया। 'निर्मला' को डॉ0 शर्मा ने प्रेमचन्द के कथा साहित्य के विकास का एक मार्ग-चिह्न कहा है। उनका मानना है- ''यह पहला उपन्यास है जिसमें उन्होंने किसी सेवासदन या प्रेमाश्रम का निर्माण करके पाठक को झूठी सांत्वना नहीं दी। कहानी अपने निर्मम तर्कसंगत परिणाम की तरफ अविराम गति से बढ़ती जाती है।''[19] अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द सेवासदन या प्रेमाश्रम की भांति अब कल्पित समाधानों से सन्तुष्ट न होकर यर्थाथ जीवन का सामना करने वाले कथा-साहित्य की ओर आगे बढ़ते हैं।

रामविलास जी के अनुसार 'गबन' में हिन्दी-साहित्य में पहली बार नारी समस्या को देश की स्वाधीनता की समस्या से जोड़ा गया। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने शहरी मध्यवर्ग पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। प्रेमचन्द का उद्‌देश्य जालपा का गहनों से प्रेम और उसके दुष्परिणाम जैसी सीमित समस्या का चित्रण करना नहीं है अपितु जालपा को उसे भारत के उगते हुए नारीत्व के प्रतीक के रूप में दिखाना है। वे लिखते हैं- ''प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में जालपा एक नए ढंग की स्त्री है। वह परिस्थितियों से टक्कर लेती है लेकिन कभी धैर्य नहीं खोती। भारी-से-भारी मुसीबत पड़ने पर वह विवेक से काम लेती है और कठिनाइयों का सामना करने के लिये नए-नए दाँव-पेंच निकाल लेती है। वह निर्मला की तरह घुल-घुलकर प्राण देनेवाली नहीं है और न सुमन की तरह तैश में आकर जल्दी ही किसी अनजानी राह पर कदम उठानेवाली। उसका चरित्र कठिनाइयों

का सामना करते हुए बराबर निखरता रहता है, क्योंकि वह अपनी ख़ामियों को पहचान सकती है। वह एक ईमानदार और साहसी स्त्री है।''[20] इस प्रकार डॉ0 शर्मा के अनुसार 'निर्मला' के बाद 'गबन' हिन्दी-साहित्य के यर्थाथवाद में एक और बढ़ा हुआ कदम है।

'कायाकल्प' और 'रंगभूमि'

'कायाकल्प' में दो वर्गों की कहानी है- एक तरफ जागीदार और रानियाँ हैं और दूसरी तरफ किसान जनता है। कथा का जो भाग जगदीशपुर की रानी देवप्रिया के 'कायाकल्प' से सम्बन्धित है वह कमजोर और चमत्कारों से भरा हुआ है, जिसकी रामविलास जी ने कठोर आलोचना की है। लेकिन जहाँ प्रेमचन्द की कलम हाड़-मांस के आदमियों की जीवन दृष्टि पर केन्द्रित हुई है, जो उपन्यास का सबल पक्ष है, उसकी शर्मा जी ने प्रशंसा की है। उन्होंने 'कायाकल्प' के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा है- ''प्रेमचन्द ने जनता पर दमन होते पहले भी दिखलाया था। इस उपन्यास में वह एक नई चीज दिखलाते हैं- जनता दमन से आतंकित न होकर उसका मुकाबला करने बढ़ती है और वह सफल हो सकती है, अगर चक्रधर-जैसे लोग आकर अंग्रेजों और राजाओं की रक्षा न करने लगें।''[21] 'कायाकल्प' के सम्बन्ध में रामविलास जी का यह निष्कर्ष उनके सूक्ष्म विश्लेषण क्षमता का परिचायक है।

'रंगभूमि' के केन्द्र में जमीन की समस्या है, जिसको स्वाधीनता आन्दोलन के उतार-चढ़ाव के साथ चित्रित किया गया है। उपन्यास का मुख्य पात्र सूरदास है, जो अपने गाँव की जमीन के लिये मरते दम तक लड़ता है परन्तु उसे विजय हासिल नहीं होती है। रामविलास जी के अनुसार प्रेमचन्द ने यहाँ किसानों और मजदूरों की एकता को आवश्यक बताया है। वे लिखते हैं-'' 'रंगभूमि' उपन्यास सन् '30 का आन्दोलन छिड़ने के पहले लिखा गया था। प्रेमचन्द ने मानो भविष्य की ओर देखते हुए तमाम हिन्दुस्तान की जनता की तरफ से अंग्रेजी राज को चुनौती देते हुए सूरदास से कहलाया था-'' 'फिर खेलेंगे, ज़रा दम ले लेने दो''।[22] शर्मा जी के अनुसार सूरदास का संघर्ष व्यर्थ नहीं था। वह हिन्दुस्तान के उन तमाम किसानों का प्रतिनिधित्व करता है, जिनके लिये अन्याय और अनीति असह्य है और जिनमें निर्माण करने की तीव्र आकांक्षा है। वह भारत की अजेय जनता का स्वर था।

'कर्मभूमि'

'कर्मभूमि' सन् 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय रची गयी थी, परन्तु इसकी विषयवस्तु के केन्द्र में नमक कानून तोड़ने का आन्दोलन नहीं था। इसके विषयवस्तु का विवेचन करते हुए रामविलास जी लिखते हैं-'' 'कर्मभूमि' हिन्दुस्तानी जनता के उन स्तरों को रंगमंच पर ला खड़ा करती है जिनके दर्शन पहले हिन्दी-कथा-साहित्य में कम हुए थे। ये शहर और गाँव के गरीब अछूत हैं।''[23] इस उपन्यास में प्रेमचन्द की दृष्टि जनता के उन स्तरों की तरफ जाती है, जो अपनी जिन्दगी और मौत की समस्या हल करने के लिये इस आन्दोलन में आगे बढ़ते हैं। इसकी मूल केन्द्रीय समस्या जमीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, खेत-मजदूरों और गरीब किसानों के लिये जमीन की समस्या है। शर्मा जी के अनुसार प्रेमचन्द केवल यथार्थ का अक्स उतारने वाले कलाकार नहीं थे, वे यथार्थ के महत्वपूर्ण पहलुओं को परखकर उन्हें उपन्यास में विशेष स्थान देने वाले कलाकार भी थे। वे इस उपन्यास में एक और विशेष बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं कि ''प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में पहली बार मजदूरों और विद्यार्थियों को एक साथ अंग्रेजों का मुकाबला करते दिखाया है।''[24] रामविलास जी का मानना है कि इस उपन्यास में प्रेमचन्द का यथार्थवाद बुलंदी पर पहुँचा हुआ है। उन्होंने इसकी सबसे बड़ी सफलता इस बात में मानी है कि प्रेमचन्द ने जनता की समस्याओं का चित्रण इस खूबी के साथ किया है कि पाठक की सारी सहानुभूति जनता के साथ हो जाती है और पाठक यह सोचने पर विवश हो जाता है कि इस समस्याओं का अन्त किस प्रकार हो।

'गोदान'

'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, अतः स्वाभाविक है कि अपने सर्वाधिक प्रिय उपन्यासकार प्रेमचन्द के श्रेष्ठतम उपन्यास गोदाम पर शर्मा जी ने बहुत व्यवस्थित ढ़ंग से गम्भीर समीक्षा लिखी है। गोदान में किसान जीवन एवं ग्रामीण परिवेश की विविध समस्याओं का सशक्त चित्रण किया गया है। उसकी प्रशंसा करते हुए रामविलास शर्मा अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहते हैं कि गोदान की मूल समस्या किसान के कर्ज एवं ऋण की मूल समस्या है, क्योंकि उनके अनुसार मेहनतकश किसानों की एवं गाँव के बनियों से किसानों द्वारा लिये गए कर्ज की समस्या उन्हें जीवन के कदम-कदम पर तोड़ती एवं व्यथित करती है। रामविलास जी के अनुसार 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' के साथ 'गोदान' का चित्रण एक अपूर्व आत्मीयता और तल्लीनता के साथ करते हुए प्रेमचन्द ने हिन्दुस्तानी किसानों के जीवन की वृहत्रयी समाप्त की। वे लिखते हैं- ''किसानों के जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर वह उपन्यास लिख चुके थे- 'प्रेमाश्रम' में बेदख़ली और इज़फ़ा लगान पर, 'कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट और किसानों की लगानबन्दी की लड़ाई पर- लेकिन कर्ज़ की समस्या पर उन्होंने विस्तार से कोई उपन्यास न लिखा था। 'गोदान' लिखकर उन्होंने किसान की उस समस्या पर प्रकाश डाला जो आए दिन उनके जीवन को सबसे ज्यादा स्पर्श करती है।''[25]

किसान का जीवन क्षण प्रतिक्षण इस भयावह स्थिति एवं आर्थिक शोषण का दंश झेलता रहता है, जिसकी हृदय विदारक पीड़ा को प्रेमचन्द ने गहराई से महसूस किया था और अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढंग से गोदान में व्यक्त किया। इस तथ्य की शर्माजी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसकी महत्ता को अनेक ढंग से प्रतिष्ठा किया है। इसका कारण है कि प्रेमचन्द जी ने मेहनतकश गरीब किसानों एवं मुनाफाखोर ग्रामीण बनियों तथा व्यापारियों के

अन्तविर्रोधों को स्पष्ट ढंग से रेखांकित किया है- ''एक तरफ जमींदार रायसाहब, मिल-मालिक खन्ना, मालती और मेहता की दुनिया है; दूसरी तरफ होरी, धनिया, गोबर, सोभा, हीरा वगैरह की दुनिया है। एक के बिना दूसरी का अस्तित्व संभव नहीं है, यानी अपने वर्तमान रूप में। इसलिये प्रेमचन्द इन दोनों संसारों के चित्र खींचते हैं। इस चित्रण में जहाँ होरी और उसके भाईबंदों के लिये उनकी सहृदयता और गहरी हो गई है वहाँ रायसाहब खन्ना सम्प्रदाय के लिये उन्होंने अपना व्यंग्य और भी पैना, और भी मर्म पर चोट करने वाला बना लिया है।''[26]

उस समय में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का मुख्य उद्देश्य था ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति, लेकिन उसके दमन चक्र में पिसते हुए किसानों के कर्ज की समस्या पर लोगों का बहुत कम ध्यान था। अंग्रेज शासक, जमींदार एवं गाँवों के महाजनों द्वारा कर्ज का ऐसा चक्रव्यूह रचा गया था, जिसमें दिनोंदिन किसान जीवन दूभर होता जा रहा था। प्रेमचन्द इस तथ्य को गहराई से महसूस करते थे और उन्होंने उस किसान मुक्ति और लागान बंदी को स्वाधीनता आन्दोलन की सफलता के लिये आवश्यक माना था, इसलिये किसानों की बुनियादी समस्याओं के सशक्त चित्रण के कारण रामविलास जी प्रेमचन्द की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं- ''प्रेमचन्द समाज के प्रवाह को बहुत गहराई से देखते थे। उस जमानें में, जब स्वराज का मतलब अंग्रेजी साम्राज्य के अन्दर ही रहना था, प्रेमचन्द ने उस पर तेज रोशनी डाली थी। वह बराबर कोशिश कर रहे थे कि आजादी का आन्दोलन किसानों की बुनियादी समस्याओं को अपने अन्दर समेट ले, वह अंग्रेजी राज के शोषण-चक्र पर वार्निश करने के बदले उसे जड़ से खोदकर फेंक दे।''[27]

किसानों का मजदूरों के रूप में दारूण रूपान्तरण की स्थिति अत्यन्त भयावह है, किसानी को अपने जीवन का सर्वस्व मानने वाले किसान का अपने जमीन, गाँव एवं घर से दूर जाकर मजदूर का जीवन व्यतीत करना अत्यन्त कष्टप्रद स्थिति है। जो किसान अपने ग्रामीण परिवेश में अपनी गरीबी के बावजूद स्वस्थ, प्रसन्न एवं बलिष्ठ है वही शहरी परिवेश में मजदूर बनकर अत्यन्त दुर्बल बनकर एवं भयावह दीनहीन अवस्था को प्राप्त हो जात है। इन मर्मस्पर्शी प्रसंगों को चित्रित करने के कारण शर्माजी प्रेमचन्द की प्रशंसा करते हैं- ''होरी उन किसानों का प्रतिनिधि है जिनकी जमीन उनके हाथ से निकलती जाती है और वे मजदूरी करने के लिये मजबूर किए जाते हैं। लेकिन मजदूरी ऐसी कि चार ही दिन में आदमी की हड्डियों को चूर कर दे। वही होरी, जिसने मेहता को उठाकर दे मारा था, लू खाकर मैदान में गिर पड़ता है।''[28] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द जी ने होरी के माध्यम से भारतीय किसान जीवन की संघर्ष गाथा एवं उसकी त्रासद स्थितियों का सशक्त चित्रण किया है।

रामविलास जी की दृष्टि में हिन्दी-साहित्य में उपन्यासकार प्रेमचन्द का महत्व कहानीकार प्रेमचन्द से ज्यादा है। उनका मानना है कि- ''प्रेमचन्द की स्वाभाविक रूचि उपन्यास पढ़ने और लिखने की तरफ थी।... उपन्यासों में उन्हें रस मिलता था। यहाँ उनकी कल्पना आकाश में मुक्त विहग-जैसी अपने पंख फैलाकर उड़ सकती थी। कहानी की परिधि उन्हें अपनी प्रतिभा का पूरा करतब दिखाने से रोकती थी।''[29]

रामविलास जी सपष्ट करतें है कि इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रेमचन्द एक उच्च कोटि के कथाकार नहीं थे। जब संसार के चोटी के कहानिकारों की बात करें या स्वयं उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहानीकार प्रेमचन्द की तुलना करें तब प्रेमचन्द के कहानीकार रूप की तुलना में उनका उपन्यासकार रूप ज्यादा प्रभावी दिखाई देता है। रामविलास जी के अनुसार प्रेमचन्द की कहानियों का भारतीय कथा साहित्य की जातीय परम्परा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनकी कहानियाँ हमारे जातीय जीवन का दर्पण हैं। शर्मा जी के अनुसार उनके कथा साहित्य में एक महान रचनाकार की प्रचुरता और विविधता दिखाई देती है। वे लिखते हैं- ''उनकी सबसे सफल कहानियाँ वे हैं जिनमें उन्होंने किसानों के जीवन का चित्रण किया है। किसानों में भी अन्धविश्वास है, राग-द्वेष है, एक-दूसरे के खेत तक जला देते हैं, फिर भी इनमें मनुष्यता का प्रकाश कितना प्रखर है। प्रेमचन्द इस जनता में विश्वास करना और उसके लिए अपना जीवन बिताना हमें सिखाते हैं।''[30]

रामविलास जी ने प्रेमचन्द की ग्रामीण परिवेश की यथार्थवादी दृष्टि, उनकी उच्चकोटि की प्रस्तुति कला, पात्रानुकूल भाषाशैली, परिवेश का सजीव एवं जीवन्त चित्रण तथा सहज सम्प्रेषणीय क्षमता के कारण गोदान को हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास सिद्ध किया है। इस प्रकार प्रेमचन्द विषयक रामविलास शर्मा का आलोचना कर्म ऐतिहासिक महत्व का है। अपने युग की निर्धनता, दासता, और पीड़ितों की आर्त वेदना का जैसा प्रेमचन्द ने चित्रण किया है, वैसा दूसरे ने नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, तीसरी आवृत्ति, 2011, पृ0 18
2. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0 1981 पृ0 143
3. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, तीसरी आवृत्ति, 2011, पृ0 9
4. वही, पृ0 29-30
5. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'कथा विवेचन और गद्यशिल्प', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सं0, आवृत्ति 2014, पृ0 12
6. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'परम्परा का मूल्यांकन', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं0, 1981, पृ0 151
7. वही, पृ0 153

8. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहले संस्करण की भूमिका
9. वही
10. डॉ0 रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला छात्र संस्करण,सातवीं आवृत्ति 2014, पृ0 17
11. वही, पृ0 31
12. वही, पृ0 41
13. वही, पृ0 39
14. वही, पृ0 44
15. वही, पृ0 45
16. वही, पृ0 54
17. वही, पृ0 53
18. वही, पृ0 61
19. वही, पृ0 62
20. वही, पृ0 62-63
21. वही, पृ0 73
22. वही, पृ0 76-77
23. वही, पृ0 81
24. वही, पृ0 84
25. वही, पृ0 96
26. वही, पृ0 97
27. वही, पृ0 98
28. वही, पृ0 106
29. वही, पृ0 109
30. वही, पृ0 118

●

श्रीमद्भगवद्गीता में योग

सूर्य प्रकाश गोंड एवम् डॉ0 दीपा मेहता***

भगवद्गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का अंग है। विश्व-साहित्य में इस प्रकार का ग्रन्थ दुर्लभ है। गीता में केवल धार्मिक तत्त्वों या विचारों का विवेचन नहीं किया गया है, अपितु इसमें दार्शनिक विचार भी समाहित है। समस्त भारतीय दर्शन का सारतत्त्व गीता है। इसमें तत्त्व-विचार, नैतिक-नियम, ब्रह्म-विद्या और योग-शास्त्र निहित है। योग शब्द 'युज्' धातु से मिलकर बना है जिसका अर्थ है मिलना। गीता में योग का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से मिलकर एकाकार हो जाना। योग-दर्शन में जिस योग की विवेचना है- 'योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः' अर्थात् 'चित्तवृत्तियों का निरोध'। गीता में आत्मा को ईश्वर से मिलाने हेतु अनुशासन विधि तथा विभिन्न प्रकार के मार्गों का वर्णन है। इसका मुख्य उपदेश 'योग' है। इसलिये गीता को 'योग-शास्त्र' भी कहा जाता है। 18 अध्यायों में विभक्त भगवद्गीता के अध्यायों के नाम क्रमशः हैं–

अर्जुनविषादयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगृह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, मोक्षसंन्यासयोग।

गीता में मुख्य रूप से ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समन्वय है जो मन के तीनों अंगों–ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। गीता में दो प्रकार का ज्ञान दृष्टिगत होता है। तार्किकज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान, तार्किकज्ञान में वस्तुओं के विषय में तर्क का कार्य बुद्धि के द्वारा होता है। अतः तार्किक ज्ञान या बौद्धिक ज्ञान को 'विज्ञान' भी कहा जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान को 'ज्ञान' ही कहा जाता है। तार्किक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय में भेद सदैव बना रहता है जबकि आध्यात्मिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नही रहता है। आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा आत्मा या जीव का परमात्मा के साथ एकाकार हो जाता है। सत्कर्म करता हुआ व्यक्ति सदा के लिये ईश्वरमय हो जाता है। भगवद्गीता में कथन है– जो ज्ञाता है वह हमारे सभी भक्तों में श्रेष्ठ है।

उस अमृतमय ज्ञान जिसके द्वारा आत्मा का परमात्मा से एकाकार होता है उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उसे शरीर, मन तथा इन्द्रियों को पवित्र करना होगा। इन्द्रियां और मन स्वभाव से चंचल होते हैं, विषयों के प्रति आसक्त होते हैं। यही आसक्ति में अवलिप्त हुआ मानव ईश्वर का सानिध्य प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है। अतः सर्वप्रथम मन और इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर ईश्वर की ओर केन्द्रीभूत करना होगा।

भक्तियोग मानव के संवेग-पक्ष से जुड़ा हुआ है। भक्ति शब्द 'भज्' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ ईश्वर की आराधना से है। भक्तियोग कर्मयोग से भिन्न है। भक्तियोग उपनिषद् की उपासना-पद्धति से सम्बन्धित है। भक्तियोग की साधना प्रत्येक वर्ग के लिये सुलभ है। गीता में ईश्वर को प्राप्त करने का आधार प्रेम स्वीकार किया गया है। भक्त प्रेमपूर्वक ईश्वर को जो कुछ यथा- प्रेम, समर्पण, भक्ति, पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पित करता है। ईश्वर उसको ग्रहण करते हैं। भक्तिमार्ग द्वारा व्यक्ति भगवान् प्राप्ति के लिये प्रयास करता है। गीता में एक स्थान पर 'योगक्षेम' शब्द आया है जिसका अर्थ है अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा ही 'क्षेम' या 'कल्याण' है। ईश्वर की आराधना करने वाले भक्त के समस्त विघ्न-बाधाओं को दूर करके ईश्वर स्वयं ही भक्त के समस्त आवश्यकताओं एवं सुखों की प्राप्ति करा देते हैं। गीता में यह श्लोक उद्धृत है–

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम।।[1]

श्रीमद्भगवद्गीता के 18वें अध्याय में श्रीकृष्ण उपदेश करते हैं–

ब्रह्मभूतः प्रसनात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मदभक्तिं लभते पराम्।।

भक्तया मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।[2]

अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जीवात्मा प्रसन्न हो जाता है, उसे शोक नहीं होता है न ही किसी वस्तु की इच्छा होती है। वह सभी प्राणियों के प्रति समत्व बुद्धि वाला हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा प्राणी मुझमें अर्थात् पराभक्ति को प्राप्त करता है और इस पराभक्ति द्वारा ही मनुष्य मेरे वास्तविक स्वरूप को, मेरी महिमा को तथा मेरे वास्तविक तत्त्व को समझने में समर्थ हो पाता है। इन सभी योग्यताओं से युक्त हो जाने पर वह मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

गीता के इन दो श्लोकों में भक्तियोग की पराकाष्ठा स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। गीता के एकादश अध्याय में श्रीभगवान् ने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है–

* वरिष्ठ शोध छात्र,शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

** असोसिएट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।[3]

अर्थात् 'हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः–परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान से गोचर होता हूँ और फिर इस भक्ति के द्वारा ही भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

भगवद्गीता में ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग की चर्चा है। इसकी प्राप्ति हेतु इन्द्रिय और प्राण निग्रह आवश्यक हो जाता है। स्वाध्याय अथवा तत्त्वशास्त्र का पठन, मनन और निदिध्यासन आवश्यक होता है। ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, अन्य इन्द्रियों के विकार काम, क्रोध और लोभ का त्याग भी आवश्यक है। इन्द्रियों का निग्रह सांख्ययोग के अभ्यास से अर्थात् अपने को शरीर, मन और बुद्धि इत्यादि जो जड़, अनात्मा हैं उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मा में ही स्थिति प्राप्त करने तथा विषयों से ध्यान हटाने से सम्भव है। इसके अनन्तर साधक को तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरु से ज्ञानयोग का उपदेश ग्रहण करना चाहिये। ज्ञानयोग का परिणाम यह होगा की साधक को मोह नहीं होगा।

ज्ञानयोग के अनन्तर गीता में प्रसङ्ग कर्माभ्यास योग का आता है। छठे अध्याय में श्रीभगवान् उपदेश करते हैं–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।[4]

तात्पर्य यह है कि –योग में स्थित साधक अनन्त चेतन को सब भूतों में व्याप्त और सब भूतों को उस अनन्त चेतन में व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्व की समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् उपदेश करते हैं जो मुझ परमात्मा को सबमें व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझमें अदृश्य है, न मैं उनके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतों में व्याप्त मुझ एक को ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहार में रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है।

भक्तियोग, कर्मयोग को एक साथ एकरूप में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित करते हुये स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टि की केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरण में परिणत करना 'योग' है। उक्त है–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।[5]

गीता का मुख्य उपदेश कर्मयोग है। श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश युद्ध के प्रति निष्क्रिय और किंकर्त्तव्यव्यविमूढ़ अर्जुन को कर्म के प्रति लिप्त कराने हेतु किया गया था। गीता में श्रीकृष्ण निरन्तर कर्म करते रहने का उपदेश देते रहते हैं। कर्म का तात्पर्य आचरण से है। उचित कर्म द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर स्वयं कर्मयुक्त है इसलिये ईश्वर तक पहुँचने का सरलतम मार्ग कर्म है। गीता में सत्य प्राप्ति का साधन कर्म करने का माना गया है। वह कर्म जो असत्य तथा अधर्म की प्राप्ति के लिये किया जाता है, सफल कर्म नहीं कहा जाता है। कर्म को अन्धविश्वास तथा अज्ञानपूर्णस्थिति में नहीं करना चाहिये। कर्म को ज्ञानयुक्त एवं विश्वासयुक्त होकर करना चाहिये तभी कर्म की सफलता भी सम्भव है। सृष्टि में चेतन तथा अचेतन, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु सभी अपने कर्मों में युक्त हैं फिर मानव तो विवेकशील प्राणी है, उचित-अनुचित का भेद कर सकता है। अतः विवेकयुक्त होकर उचित कर्म करना चाहिये। कर्म से विमुख होना महान् मूर्खता को परिलक्षित करता है। गीता में उपदिष्ट है कि- व्यक्ति को कर्म के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये, परन्तु कर्मफल की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। व्यक्ति को योगबुद्धि से कर्म करना चाहिये। क्योंकि कर्मफल की अनासक्ति-भाव को, समता को योग कहते हैं–

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[6]

कर्म के सम्बन्ध की विशेषज्ञता या कौशल को योग कहते हैं–

योगः कर्मसु कौशलम्।[7]

यहाँ पर श्लोक में 'समत्व' को भी योग कहा गया है तथा 'कर्मों में कुशलता' को भी योग कहा गया है। भाव यह है कि- 'समत्व' कर्म तथा फल की अनासक्ति है जो निषेधात्मक रूप है तथा कर्म में 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेषरूप की जानकारी है जो भावात्मक है। कर्मों में कुशलता तो उसी व्यक्ति के अन्दर आ सकती है जो उसके विषय में भली-भाँति जानता हो। कर्मों को करता हुआ मनुष्य निरन्तर चिन्तनशील रहता है। अशुभ परिणाम प्राप्त होने की आशंका में वह कर्म का परित्याग कर देता है। इसलिये गीता में निष्काम –कर्म को जीवन का आदर्श बनाने पर बल दिया गया है। निष्काम कर्म का तात्पर्य है कि फल की अभिलाषा न करना और फल की इच्छा नही करते हुये कर्म करता है वही वास्तविक योगी है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं- कर्म में तेरा अधिकार है, फल की इच्छा में नहीं, तुम कर्म-फल का हेतु मत बनो, अकर्मण्यता में तुम्हारी आसक्ति न हो–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।[8]

आसक्ति दोषयुक्त कही गयी है, यह मनुष्य को अधीर बना देती है। इसी अधीरता में मनुष्य विवेकहीन होकर उचित-अनुचित में भेद नही कर पाता है। आसक्ति दोनों कर्म तथा फल में होती है। कर्म की आसक्ति से अधिक दोषपूर्ण फल की आसक्ति होती है। फल की आसक्ति मनुष्य की एकाग्रता को नष्ट करती है। जब मनुष्य का ध्यान फल की ओर चला जाता है तब पूरी शक्ति से कर्म का अनुष्ठान नहीं हो पाता है। उसी फल पर दृष्टि बनी रहती है। परिणाम यह होता है कि- कर्म साधनों पर एकाग्रता नहीं होती है जिससे क्रिया भली-भाँति सम्पन्न नहीं होने पर फल भी सन्दिग्ध बना रहता है। अतः कर्मफल की ओर से दृष्टि हटाकर कर्म एवं कर्म के साधनों पर मन को एकाग्र करना चाहिये।

श्रीमद्भगवत्गीता का प्रतिपाद्य विषय ही है निष्काम-कर्म जिसे कर्मयोग कहा गया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि- जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है। यज्ञ निमित्त आसक्ति रहित होकर कर्म करना चाहिये–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।

कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग समाचर॥[9]

''फल और आसक्ति को त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम 'निष्काम कर्म योग है', इसी को 'समत्वयोग' 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामों से कहा गया है। जिस अवस्था को प्राप्त हुये पुरुष के कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्था का नाम 'निष्कर्मता' है।''[10]

पंचम अध्याय में अर्जुन के यह पूछने पर कि कर्मों के सन्यास और निष्काम-कर्मयोग में कौन उत्तम और कल्याणकारी है। श्रीकृष्ण कहते हैं–

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।

तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥[11]

जो किसी से द्वेष नहीं रखता, किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं करता,निष्काम-भाव से कर्म में संलग्न रहता है, ऐसा कर्म योगी संन्यासी रूप है। मूर्ख लोग संन्यास और कर्मयोग में भेद मानते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति दोनों को समान फल देने वाला मानते हैं। क्योंकि ज्ञान योगियों द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुषज्ञानयोग और कर्मयोग को फलरूप में एकसमान देखता है, वही यथार्थ देखता है। निष्काम-कर्मयोग की महिमा का उल्लेख करते हुये गीता में कहा गया है– निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है–

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥[12]

जो व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता है, जिसका मन स्वयं उसके वश में होता है। जो जितेन्द्रिय तथा विशुद्ध अन्तःकरण वाला है। कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं। कर्मयोगी कर्मों के फल का त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामना की प्रेरणा से फल में आसक्त होकर बँधता है। गीता में उपदेश है कि– जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जल से कमल के पत्ते की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥[13]

गीता कर्त्तव्य के लिये मानव को प्रेरित करती है। परन्तु कर्म निष्कामभाव अर्थात् फल की प्राप्ति की भावना का त्याग करके करना ही परमावश्यक है। सकामकर्म मानव को जहाँ बन्धन की ओर ले जाते हैं। परन्तु निष्काम कर्म इसके विपरीत मानव को स्थितप्रज्ञ की अवस्था को प्राप्त करने में सक्षम सिद्ध होते हैं। गीता में बारम्बार यह उपदेश दिया गया है कि कर्म से सन्यास न लेकर कर्म के फलों से सन्यास लेना चाहिये। कर्म का प्रेरक फल नहीं होना चाहिये।

यद्यपि गीता कर्म फल के त्याग का आदेश देती है फिर भी गीता का लक्ष्य त्याग संन्यास नहीं है। इन्द्रियों को दमन करने का उपदेश दिया गया है बल्कि उन्हें विवेक के मार्ग पर नियन्त्रित करने का आदेश दिया गया है।

अभ्यास के द्वारा ही इन्द्रियों को वश में करना सम्भव है। भगवान् के नाम और गुणों का श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वास के द्वारा जप और भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रों का पठन-पाठन इत्यादि चेष्टायें भगवत्प्राप्ति के लिये बारम्बार करने का नाम 'अभ्यास' है गीता में उपदिष्ट है कि– 'भगवदर्थ कर्म करने के परायण होना' है, अर्थात् स्वार्थ को त्यागकर तथा परमेश्वर को ही परम आश्रय और परमगति समझकर, निष्काम प्रेम भाव से सती-शिरोमणि, पतिव्रता स्त्री की भाँति, मन, वाणी और शरीर द्वारा परमेश्वर के लिये यज्ञ, ज्ञान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मों को करना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं कि–यदि मेरी प्राप्तिरूप योग के आश्रित होकर उपर्युक्त साधन को करने में भी तू असमर्थ है तो मन बुद्धि आदि पर विजय प्राप्त करने वाला होकर सब कर्मों के फल का त्याग कर दे–

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥[14]

गीता के चतुर्थ अध्याय में निष्काम कर्मयोग की युक्ति से समर्थन करते हुये श्रीकृष्ण कहते हैं–

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।[15]

इन सभी को उत्पन्न करने वाले कामरूपी महाशत्रु का विनाश कर देने से मनुष्य का कल्याण सम्भव है। गीता के तीसरे अध्याय में निष्काम-कर्मयोग के लिये विभिन्न प्रकार से उपदेश दिया गया है। जगत् के आरम्भ से लेकर श्रीभगवान् ने सूर्य, वैवस्वतमनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों को जिस योग का उपदेश दिया था वह केवल योगशब्दवाच्य सनातन योग ही निष्काम-कर्मयोग है। उस पर यह जो आशंका उत्पन्न होती है कि यदि ज्ञानी भी कर्म करें तो उसे कर्मफल को भोगने हेतु लोकान्तरों में जन्म लेना पड़ेगा, उसका निवारण करते हुये श्रीभगवान् ने इसी चतुर्थ अध्याय में कहा है–

''कर्मो के फल में मेरी स्पृहा नही है इसलिये कर्म मुझे लिप्त नहीं करते – जो मुझे तत्त्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता। पूर्वकाल में मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजों द्वारा किये गये कर्मों को कर। जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है। जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। जो पुरुष समस्त कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का सर्वथा त्याग करके संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भली-भाँति बर्तता हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।''[16]

श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण गीता में जिस सिद्धान्त का अत्यन्त विस्तार के साथ निरूपण, समर्थन और वर्णन किया है उसका सारांश उन्होंने सप्तम अध्याय के इस श्लोक में किया है–

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥[17]

अर्थात् मेरी भक्ति करते हुये, मेरी शरण में रहकर, अपने कर्म में अनुष्ठानरूप कर्मयोग को करने से तू मेरे सन्देहविकल्प-विपरीतभावनारूपी दोषत्रयरहित और परिपूर्ण ज्ञान को जिस तरह प्राप्त कर सकेगा, उसे सुनो।

यहाँ 'मय्यासक्तमनाः' एवं 'मदाश्रयः' इन दोनों शब्दों में भक्तियोग तथा 'योगं युञ्जन्' विशेषण में निष्काम कर्मयोग का समन्वय है। तथापि इनका परिणाम ज्ञान ही बताया गया है। अतएव ज्ञानकाण्ड भी समाहित है, अर्थात् भक्तिसहित कृत निष्काम-कर्मयोग से ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण गीता का सारांश 18वें अध्याय के इस श्लोक में स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥[18]

अर्थात् जहाँ श्रीयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण सारथी रूप से और धनुर्धारी अर्जुन रथी रूप आपस में सम्बन्ध रखते हैं वहाँ श्री, विजय, भूति इत्यादि ऐहिक, आमुष्मिक और पारमार्थिक कल्याण होता है।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि हम सब मनुष्यों को भी परम श्रेयरूपी कल्याण की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब हम निष्काम-भाव से और ईश्वरार्पणबुद्धि से श्रीभगवान् की आज्ञा रूपी अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये कर्तव्यशील हो।

गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का अनुपम समन्वय है। ईश्वर को ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों से प्राप्त किया जा सकता है। व्यक्ति अपने सौकर्य दृष्टि से तीनों मार्गों में से किसी भी मार्ग द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। उस परमात्म तत्त्व परब्रह्म को 'सच्चिदानन्द' कहा गया है। जो व्यक्ति ईश्वर को ज्ञान से प्राप्त करता है उसके लिये वह प्रकाशरूप है। जो ईश्वर को कर्म द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये वह कल्याणरूप है। जो भाव द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये वह प्रेमरूप है। जिस प्रकार विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही लक्ष्य पर पहुँचा जाता है उसी प्रकार से ईश्वर प्राप्ति के उपर्युक्त तीन विभिन्न मार्ग बतलाये गये हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता 9/22 गीतप्रेस, गोरखपुर
2. वहीं 18/54,55
3. वहीं 11/54
4. वहीं 6/29,30,31
5. वहीं 6/32
6. वहीं 2/48
7. वहीं 2/50
8. वहीं 2/47
9. वहीं 3/7,9
10. वहीं पृ0 52
11. वहीं 5/2
12. वहीं 5/6
13. वहीं 5/10
14. वहीं 12/11
15. वहीं 3/37
16. वहीं 4/14-20
17. वहीं 7/1
18. वहीं 18/78

संस्कृत रूपकों में वर्णित प्रतिनायक का अध्ययन

डॉ0 प्रदीप कुमार[*]

यद्यपि कि संस्कृत रूपकों में छोटे से छोटे पात्र की अपनी विशिष्ट भूमिका होती है। अपनी जिस भूमिका में नट रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है, उसी में वह रङ्गमञ्च पर तब तक जीता है, जब तक रूपक समाप्त नहीं हो जाता। उसमें भी नायक, नायिका, विदूषक और प्रतिनायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। प्रतिनायक युक्त रूपक जैसे-मृच्छकटिकम्, वेणीसंहारम्, प्रतिमानाटकम् इत्यादि हैं।

१०वीं शताब्दी के आचार्य धनञ्जय ने प्रतिनायक का लक्षण करते हुए कहा-

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः।[१]

इसका भाव यह है, कि लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध (कठोर, आग्रही) पाप करने वाला तथा व्यसनी व्यक्ति (प्रधाननायक का शत्रु) प्रतिनायक होता है।

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः।[२]

१४वीं शताब्दी के आचार्य महापात्र विश्वनाथ ने प्रतिनायक-लक्षण में कहा-

धीरोद्धत (पूर्वोक्त नायक विशेष), पापी, व्यसनी स्वभावयुक्त प्रतिनायक होता है ।

१०वीं शताब्दी के आचार्य द्वारा किया गया प्रतिनायक-लक्षण और १४वीं शताब्दी के आचार्य महापात्र विश्वनाथ द्वारा दिया गया प्रतिनायक-लक्षण में किसी प्रकार का वैशिष्ट्य नहीं है, केवल रूपककार धनञ्जय द्वारा दिये गये प्रतिनायक-लक्षण में 'लुब्धो' और 'स्तब्धः' साहित्यदर्पणकार आचार्य महापात्र विश्वनाथ द्वारा छोड़ दिया गया है।

लक्षणकारों द्वारा बताये गये नायक-प्रकार में धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त में धीरोद्धत नायक का लक्षण इस प्रकार है-

(१) मायापरःप्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।

आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।।[३]

साहित्यदर्पणकार ने कहा-छल में तत्पर, अत्यन्त क्रोधी, चञ्चल, अहङ्कार और दर्प से युक्त, अपनी प्रशंसा करने में तत्पर नायक को विद्वान् लोग धीरोद्धत कहते हैं।

इस श्रेणी में वेणीसंहारम् का भीम, कर्णभारम् का कर्ण, दूतघटोत्कचम् का घटोत्कच आदि नायक आते हैं। लेकिन इन्हें प्रतिनायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें प्रतिनायक में पाये जाने वाले दुर्गुणों का प्रायः अभाव पाया जाता है।

(२) ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।

महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापितैःसह।।[४]

आचार्य मनु ने पापाचारी के विषय में कहा-

ब्रह्महत्या करना, मदिरापान करना, चोरी करना, गुरुपत्नी से समागम करना तथा इन दुष्कर्मों को करने वाले का साथ देने या रहना वाले महापातकी (पापी) बताये गये हैं।

अपि च-पातकी का लक्षण इस प्रकार बताया गया है-

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।[५]

अट्ठारह पुराणों में व्यास जी ने दो अनमोल वचन कहा, कि दूसरों का उपकार करना पुण्य है। और परपीडन करना पाप है। अपि च-

पापं प्रज्ञा नाशयति क्रियमाणं पुनः-पुनः।

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।।[६]

बार-बार पाप करने से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो चुकी हो, तो ऐसा व्यक्ति हमेशा पाप ही करता है।

आगे के क्रम में आचार्य मनु द्वारा व्यसनी का लक्षण इस प्रकार दिया गया है-

(३) मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो दमः।

तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।।[७]

भाव यह है, शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, दूसरे की निन्दा करना, स्त्रीसेवन, नशा करना, नाचना, गाना, बजाना तथा निष्प्रयोजन घूमना-फिरना, ये दश कामज व्यसन हैं। अपि च-

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थ दूषणम्।

वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपिगणोष्टकः।।[८]

---

* असिस्टेंट प्रोफेसरः, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दूसरे की चुगली करना, दु:साहस करना, द्रोह करना, ईर्ष्या करना, दूसरों के गुणों में दोष निकालना, दूसरे के धन का अपहरण करना, वाणी में कठोरता का होना, निरपराधी को मारना, ये आठ क्रोधोत्पन्न व्यसन हैं।

अत: प्रतिनायक के विषय में यह कहा जा सकता है, कि वह उद्धत प्रकृति वाला, पापी और व्यसनी होता है। जैसे- मृच्छकटिकम् का प्रतिनायक शकार जो वसन्तसेना का अन्धेरी रात में पीछा करता है, वह कहता है-

तिष्ठ,वसन्तसेनिके!तिष्ठ।

किं यासि,धावसि,पलायसे,प्रस्खलन्ती वासु!

प्रसीद,न मारिष्यामि,तिष्ठ तावत्।

कामेन दहयते खलु में हृदयं तपस्वि,

अङ्गारराशिपतितमिव मांसखण्डम्।।[९]

रुक जा, अरी वसन्तसेने! रुक जा। गिरती-पड़ती क्यों भाग रही हो? दौड़ लगा रही हो, खुश हो जाओ। क्यों डरती हो? मरोगी नहीं, जरा तो ठहरो, दहकती हुई आग पर सेंके गये कबाब की तरह मेरा यह छोटा दिल काम से जल रहा है।

आगे 'अभिनवपाद' ने शकार को स्पष्ट करते हुए कहा-

शकारस्यापीति शकारबहुला यस्य भाषा स शकार:।

शकारोपलक्षित शकादिजनपदवासीत्वन्वये।।[१०]

जो पात्र शकार का अधिक प्रयोग करता है, वह शकार कहलाता है। कुछ लोग कहते हैं, शकार से उपलक्षित शकादि जनपद का निवासी शकार कहा जाता है। आगे-

नाट्याचार्य भरत ने शकार की गति का वर्णन इस प्रकार किया है-

शकारस्यापि कर्त्तव्या गतिश्चञ्चलदेहिका।

वस्त्राभरणसंस्पर्शैर्मुहुर्मुहुरवेक्षितै:।।

गात्रैर्विकारविक्षिप्तैर्लम्बवस्त्रस्रजा तथा।

सगर्विता चूर्णपदा शकारस्य गतिर्भवेत्।।[११]

शकार की गति (चाल) में चाञ्चल्य होना चाहिए। अभिनेता वस्त्र एवं अलङ्कारों के स्पर्श से बार-बार इधर-उधर अवलोकन से, विकार से, विक्षिप्त अङ्गों से, लम्बे वस्त्रों एवं मालाओं के धारण करने से, गति का अभिनय करे।

इस प्रकार शकार की गति गर्वयुक्ता एवं चूर्णपदों वाली होती है।

नाट्याचार्य द्वारा दिये गये शकार की गति का शास्त्रीय प्रयोग को व्यावहारिक पक्ष की दृष्टि से मृच्छकटिकम् को रखा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी; क्योंकि प्रकरण के प्रारम्भ में प्रतिनायक 'शकार'के द्वारा वसन्तसेना का पीछा करते हुए उसके गति का वर्णन किया गया है।

मृच्छकटिकम् का प्रतिनायक-

(सहस्तालं विहस्य) भाव! भाव! प्रैक्षस्व तावत्। अन्तरेण सुस्निग्धा एषा गणिकादारिका ननु। येन मां भणति एहि, श्रान्तोऽसि। क्लान्तोऽसि। अहं न ग्रामान्तरं न नगरान्तरं वा गत:आर्यिके! सपे भावस्य शीर्षम्, आत्मीयाभ्यां पादाभ्यां।तवैव पृष्ठानुपृष्ठिकया आहिण्डमान:, श्रान्त:-क्लान्तोऽस्मि संवृत्त:।।[१२]

(ताली पीटकर हँसते हुए) मान्यवर! जरा देखो तो,ये वेश्या हमें पाकर भीतर से कितना प्रसन्न हो रही है, क्योंकि मुझसे कह रही है, आओ थक गये हो, पर मैं तो कहीं दूसरे गाँव या शहर में नहीं गया हूँ। अरी ओ गणिके! मैं अपने पैरों से मान्य विट का माथा छूकर कसम खाता हूँ, कि तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ने से ही थका हूँ।

इसमें शकार के चाञ्चल्य स्वभाव का वर्णन है। अपि च-

तदेतस्य वञ्चनानिमित्तम् एवं तावत् करिष्यामि।बाले! बाले! वसन्तसेने! एहि।इति (कुसुमावचयं कुर्वन्नात्मानं मण्डयति)।[१३]

अत: इसे ठगने के लिए पहले ऐसा करूँ। (फूल चुनकर अपने को सजाता है।) हे बाले! वसन्तसेने आओ।

इस प्रकार फूल-मालाओं आदि का वर्णन नाट्यशास्त्रीय प्रयोग को पुष्ट करता है।

प्रतिमानाटकम् का प्रतिनायक-

किं न जानीषे?

युद्धे येन सुरा:सदानवगणा: शक्रादयो निर्जिता।

दृष्ट्वा शूर्पणखाविरूपकरणं श्रुत्वा हतौ भ्रातरौ।।

दर्पाद् दुर्मतिप्रमेयबलिनं रामं विलोभ्यच्छलै:।

स त्वां हर्तुमना विशालनयने!प्राप्तोऽस्म्यहं रावण:।।[१४]

क्या नहीं जानती? जिसने युद्ध में दानव और इन्द्रादि देवों को जीता है। मैं वही रावण शूर्पणखा को विरूप हुई देख, और खर-दूषण की मृत्यु सुन, उस घमण्डी, दुर्बुद्धि तथा तुच्छ बल वाले राम को छल द्वारा लोभ से दूरकर, हे विशाल आँखों वाली सीता! तुम्हें हरने के लिए आया हूँ।

इस प्रकार प्रतिनायक के गुणों में धीरोद्धत का गुण उपरोक्त प्रमाण से परिलक्षित होता है, क्योंकि 'मायापर:'अर्थात् छल में तत्पर, से रावण यहाँ छल से सीता का अपहरण किया था, तथा 'आत्मश्लाघानिरत:'अर्थात् अपनी प्रशंसा करने में तत्पर, क्योंकि वह स्वयं कहता है- **युद्धे येन सुराःसदानवगणाः शक्रादयो निर्जिता।**

वेणीसंहारम् का प्रतिनायक-

(रथादवतीर्य, सगर्व, साकूतं च) कृतं स्यन्दनगमनकालातिपातेन।

(रथ से उतरकर, सगर्व तथा साभिमान के साथ) रथ जाने का विलम्ब करना व्यर्थ है। अपि च-

धिक्सूत! किं रथेन ? केवलमरातिविमर्दसंघट्टसञ्चारी दुर्योधनः खल्ववहम्।तद् गदामात्रसहायः।[१५]

सूत के निवेदन करने पर भी दुर्योधन कहता है-

हे सूत! धिक्कार है। रथ से क्या लाभ? शत्रुओं का मर्दन कर सञ्चरण करने वाला अकेला मै दुर्योधन हूँ।

इससे दुर्योधन का धीरोद्धत, दर्पी, अभिमानी होना स्पष्ट होता है। इस प्रकार संस्कृत रूपकों में वर्णित प्रतिनायक चाहे शकार हो, या दुर्योधन हो, या रावण हो सभी धीरोद्धत, पापाचरण करने वाले, बूरे कार्यों में मन लगाने वाले, छली, क्रोधी, दर्पी इत्यादि के लक्षणों से परिपूर्ण हैं।

उपसंहृति

निष्कर्षत: कहा जा सकता है, कि लोकव्यवहार में शकार, दुर्योधन, रावण जैसे अधार्मिक आचरण न करते हुए चारुदत्त, युधिष्ठिर, राम जैसे धार्मिक आचरण करना चाहिए, सदैव सत्य का साथ देना चाहिए, क्योंकि सत्यमेव जयते-(मुण्डकोपनिषद्), सत्यं वद, धर्मं चर-----। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

सन्दर्भ सूची

(१) दशरूपकम् /डॉ०श्रीनिवासशास्त्रिकृत व्याख्या /पृ-१२८

(२) साहित्यदर्पणम् /आचार्य शेषराजशर्मा-रेग्मीकृत व्याख्या /३/पृ०-८८

(३) साहित्यदर्पणम् /आचार्य शेषराजशर्मा-रेग्मीकृत व्याख्या /३/पृ०-३३

(४) मनुस्मृति/११ /५४

(५) पुराणसन्दर्भ/१/१

(६) विदुरनीति/सुभाषित रत्नभाण्डागार/२०८

(७) मनुस्मृति/७ /४७

(८) मनुस्मृति/७ /४८

(९) मृच्छकटिकम् /१/१८

(१०) नाट्यशास्त्र/पारसनाथद्विवेदिकृत व्याख्या /तृतीय भाग/पृ०-६९

(११) नाट्यशास्त्र/पारसनाथद्विवेदिकृत व्याख्या /तृतीय भाग/अ०-१२/१४९-१५०

(१२) मृच्छकटिकम् /डॉ०जगदीशचन्द्रमिश्रकृत व्याख्या /१/पृ०-४६

(१३) मृच्छकटिकम् /डॉ०जगदीशचन्द्रमिश्रकृत व्याख्या /८/पृ०-३८५

(१४) प्रतिमानाटकम् /५/१६

(१५) वेणीसंहारम् / पं०परमेश्वरदीनपाण्डेयकृत व्याख्या /४/पृ०-२००

उपभोक्तावादी संस्कृति एवं पर्यावरणीय संकट

डॉ0 दिनेश कुमार सिंह[*]

उपभोक्तावादी संस्कृति वर्तमान समय में एक वैश्विक परिचर्चा का विषय हो चुका है। इस विषय का क्षेत्र ही आज इतना व्यापक हो चुका है कि विभिन्न विषयों के विद्वान स्वयं को इससे दूर रख नहीं पाये हैं। प्रबन्धशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र तथा समाज के अध्ययन से जुड़े अन्य विषयों के विद्वान भी उपभोक्तावादी संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर अपना ध्यानाकर्षन कर रहे हैं। उपभोक्ता से जुड़े व्यवहार प्रतिमान का संदर्श सदैव उसके सांस्कृतिक प्रतिमानों में निहित होता है। उपभोक्तावादी व्यवहार वस्तुतः पूँजीवादी संस्कृति का परिणाम है। पूँजीवादी संस्कृति औद्योगिक क्रांति के आने के पश्चात् अपना वैश्विक स्वरूप को धारण कर एक नये प्रकार के समाज के सृजन की प्रक्रिया में लगा हुआ है। इस नवीन व्यवस्था ने समाज के संरचना पर व्यापक रूप अपना प्रभाव डाला तथा उपभोग की अवधारणा से इस समाज को परिचित करवाया। आदिम, सरल तथा ग्रामीण समाजों में व्यक्ति अपने आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का उत्पादन करता था तथा उसके उपभोग की वस्तुएं भी सीमित मात्रा में होती थी लेकिन औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन को व्यापक पैमाने पर लाकर उपभोग की सीमाओं को भी बढ़ा दिया। औद्योगिक क्रांति ने जिस प्रकार के पूंजीवाद की नींव रखी उस पर नियंत्रण पाना आज के दौर में असंभव सा प्रतीत हो रहा है। इस पूंजीवाद में बिना किसी रोकटोक के प्रवाह के कारण एक नवीन प्रकार की सामाजिक संरचना वैश्विक पटल पर दृष्टिगोचर होती है। नवीन सामाजिक संरचना में नये प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध विकसित होने लगे तथा इसके परिणाम स्वरूप नवीन सामाजिक नियमों का आना स्वाभाविक है। इसके कारण व्यवहार प्रतिमानों में भी परिवर्तन आने लगा। बाजार अर्थव्यवस्था में उसी की पकड़ मजबूत हो रही है जो पूंजीवाद के साथ अपना विलय करने को तैयार हो चुका है। इस कारण एक नवीन प्रकार की संस्कृति का सृजन हो रहा है जिसको उपभोक्तावादी संस्कृति के नाम से जाना जाता है। आज संचार प्रौद्योगिकी के तीव्र होने के कारण लोगों का झुकाव उपभोक्तावादी संस्कृति के तरफ होता जा रहा है तथा उपभोक्तावादी संस्कृति पूंजीवाद का पर्याय प्रतीत हो रही है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोगों की मानसिकता को इस स्तर तक प्रभावित किया है कि पर्यावरण के बारे में मनुष्य थोड़ा सा भी चिन्तित नहीं है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने जनमानस के मस्तिष्क पर ऐसा प्रभाव डाला है कि वह अपने सुख सुविधाओं के बारे में सोच रहा है। इस कारण समाज का ऐसा वर्ग उभर कर सामने आया है जिसके सामाजिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। जिसके परिणामस्वयप सामाजीकरण की प्रक्रिया भी दोषपूर्ण नजर आती है और नवीन पीढ़ी के लोग निरन्तर अपनी अन्तःक्रियाओं से पर्यावरण को हानि पहुँचा रहे हैं। आज के इस बाजार व्यवस्था में पर्यावरण को नज अंदाज किया जा रहा है चारों तरफ मात्र पूंजी के प्रवाह के कारण, कंक्रीट के जंगल खड़े नजर आ रहे हैं तथा वृक्षों के विकास पर बल नहीं दिया जा रहा है। मात्र स्वय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्यावरण को भी उपभोग की संस्कृति बनाया जा रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति पर्यावरण के लिए किस प्रकार हानि का कारण है इसे समझने के लिए उपभोक्तावादी संस्कृति से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है अतः इस लेख में उपभोग, उपभोग की शैलियाँ, उपभोक्तावादी व्यवहार, उपभोक्तावादी संस्कृति एवं पर्यावरणीय संकट को बतलाया गया है।

उपभोग की अवधारणा (Concept of Consumption)

सामान्य अर्थ में उपभोग का अभिप्राय आवश्यकताओं की संतुष्टि से लिया जाता है। इस सरल तथा सामान्य अर्थ के कारण इसको परिभाषित करना अनिवार्य हो जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति होना किसी भी व्यक्ति के अस्तित्व के लिये आवश्यक होता है, जब मानव की आवश्यकताएं पूर्ण होती हैं तो वह प्रसन्नता को प्रकट करता है लेकिन जब ये ही आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होती है उसे दुख का भाव महसूस होते हैं। (डोलु 1993 : 21) उपभोग का सरोकार सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों से ज्ञात होता है, जो समय एवं स्थान सापेक्ष, मांग पर निर्भर इच्छित आवश्यकताएं, सेवाएं वस्तुएं या धन अथवा वह मूल्य जो धन की प्रतिपूर्ति हो, को अभिव्यक्त करता है जिसे मांग के आधार पर पूर्ण किया जाता है। (ओरकॉन 2008 : 23)। इस संदर्भ में विलियम ने कहा है कि वर्तमान समय में पुरातन उपभोग की संकल्पनाएं आज निरर्थक हो चुकी है। उपभोग को आज नकारात्मक रूप में लोग अधिक देखते हैं। क्योंकि मनुष्य आज ऐसा प्राणी हो चुका है कि जिसकी इच्छाएं एवं आवश्यकताओं को मात्र भरण पोषण के आधार पर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता वरन् उसकी विभिन्न प्रकार की दैहिक, मानसिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताएं भी शामिल हो रही है। ये सभी प्रकार की क्रियाएं किसी न किसी प्रकार की आवश्यकताओं को दर्शाती है जिनकी पूर्ति करना ही उपभोग में शामिल हो जाता है। इस परिभाषा के अतिरिक्त भी उपभोग को अन्य मूल्यों के संदर्भ में भी परिभाषित किया जा सकता है जिनका सम्बन्ध

* असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति से बाह्य भी हो सकता है। परिणामस्वरूप आज के समय में किसी भी माध्यम से आवश्यकताओं की पूर्ति करना उपभोग की श्रेणी में आ जाता है लेकिन इसमें यह बात ध्यान रखने योग्य है कि आवश्यकताओं की पूर्ति वांछित तरीकों से हो तथा ये मांगें वास्तविक एवं अवास्तविक दोनों प्रकार हो सकती है। (तोरलक 2000: 13)

उपभोग के एक अन्य अर्थ में कहा गया है कि आर्थिक रूप से सामानों को निश्चित क्रमबद्धता के साथ उपयोग करने की सामूहिक प्रक्रिया है जिसमें उपभोक्ता क्रय सम्बन्धी निर्णयों को लेता है। रिट्जर (2003 : 12) ने इसे अभिव्यक्त करने के लिए मार्क्सवादी विवरण का सहारा लिया है तथा उपभोग की वस्तुओं को भरण पोषण तथा विलासिता के रूप में श्रेणीकृत किया है। रिट्जर यह दावा प्रस्तुत करते हैं कि उपभोग के संयंत्र लोगों को वस्तुओं एवं सेवाओं को लेने योग्य बनाते हैं तथा ये लोगों का शोषण उन पर नियंत्रण रखकर करते हैं।

वर्तमान समय में उपभोक्ता के व्यवहार से जुड़े उपभोग की संकल्पना को एक वैचारिकी के रूप में देखा जा रहा है जिसके सम्पूर्ण जगत में सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही पहलू उजागर होते हैं। वैचारिकी पर आधारित उपभोग को सरोकार जीवन से है। जहाँ जीवन है वहा उत्पादन है तथा उत्पादन है वहां उपभोग है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह व्यक्ति के उस व्यवहार की उपज है जिसमें व्यक्ति जैसा विचार रखता है, यदि व्यक्ति इसे दूसरों पर नियंत्रण के साधन के रूप में देखता है तो यह नियंत्रण बाजार व्यवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य का नहीं होना चाहिये। (ओदाबस 1999 : 4)

अर्थशास्त्री इस संदर्भ में यह अभिव्यक्त करते हैं कि उपभोग ऐसी क्रिया है जिसमें आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति इसलिये करता है कि उससे उसे लाभ की प्राप्ति हो सके। जीन बार्डिलार्ड (1998 : 95) का कहना है कि उपभोग किसी वस्तु से जुड़ी ऐसी इच्छा को व्यक्त करती है जो अनुपयोगिता को दूर करती है। यह एक सांकेतिक व्यवस्था है जो आवश्यकताओं की पूर्ति से कहीं अधिक होती है। उपभोग ऐसा निर्वचन एवं सम्प्रेषणात्मक प्रक्रिया है जो लोगों को उनकी स्वयं की स्थितियों से बांधती है। उपभोग को तर्क के आधार पर जब हम देखते हैं तो इससे धन का असमान वितरण देखने को मिलता है जो व्यक्तियों के स्वयं के सामान एवं सेवाओं के उपयोग मूल्यों को दर्शाता है। इस संदर्भ में दो प्रकार के विचार प्रमुख हैं। प्रथम उपभोग एक निर्वचन एवं सम्प्रेषण पर आधारित सांकेतिक प्रक्रिया है जो उनको रिकार्ड करती है तथा उसको एक अर्थ भी प्रदान करती है। द्वितीय यह एक सामाजिक वर्गीकरण एवं विभेदीकरण की प्रक्रिया है जो वस्तुओं को मात्र उनका विभिन्न अर्थ ही प्रदान नहीं करती बल्कि उसको एक विशेष स्थान भी प्रदान करती है।

आरम्भिक दौर में उपभोग का उदय प्राकृतिक एवं सरल प्रकृति का था कालांतर में उपभोग को मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साधन के रूप में ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा गया जिसको समाज में एक संरचनात्मक सामाजिक पद के रूप में देखा जा रहा है।

उपभोग की शैलियाँ (Styles of Consumption)

औद्योगिकीकरण के आरम्भिक चरणों में उत्पादन तथा कार्यस्थल पर श्रम प्राथमिक महत्व के विषय थे लेकिन कालान्तर में धीरे-धीरे उपभोग, उपभोक्ता, उपभोक्ता समाज एवं विलासित समय ने इनका स्थान ग्रहण कर लिया है। उत्पादन तथा कार्य के आधारर पर जिस सामाजिक संरचना का निर्माण हुआ उसको नवीन पूंजीवादी व्यवस्था ने उपभोग एवं उपभोगवादी संस्कृति के द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया है। इन अवधारणाओं की श्रृंखलाओं में वृहद् उपभोग एवं वृहद् उत्पादन एक समस्या के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। उपभोगवादी समय में आज विलासिता एक नवीन रूप धारण करता जा रहा है। प्राचीन समय में विलासिता में स्वच्छन्दता, स्वतंत्रता, प्राकृतिक सामीप्यता, विचारों की गहनशीलता से लिया जाता था। यद्यपि आज इसमें व्यापक रूप से बदलाव आया है तथा शोध में नवीन अंतःदृष्टि भी प्रदान कर रहा है। आज के दौर में पूंजीवाद से संश्लेषित मान्य जीवन ही उपभोगवाद है जिसमें विलासिता को नवीन अभिप्राय भी प्रदान किया गया है, प्राचीन विलासिता का स्थान कृत्रिम उत्तेजना, भद्दी इच्छा, प्रतिस्पर्धात्मकता, दिखावटीपन स्थान लेते जा रहे हैं। विलासी समय से सम्बन्धित उद्योग पूंजीवाद के एक महत्वपूर्ण कर्ता के रूप में कार्यरत है जो बाजार व्यवस्था से इस दौर में समाज को एक अवसाद रूपी मानसिक आघात पहुंचा रहा है। जैसे शापिंग केन्द्र, जुआ घरों, क्रीडा क्लबों, व्यायाम केन्द्र इत्यादि की औचित्य कितने समय तक बना रह सकता है या ये कितने दीर्घ अवधि तक स्थायी रह सकते हैं लेकिन उपभोक्ता आज भी उनमें अपनी सहभागिता दर्ज कर रही है। ये वास्तव में मात्र कृत्रिम और वाणिज्यिक तर्क से लेस होते हैं तथा ये व्यक्ति के लिए किसी प्रकार के संतुष्टि के भाव का प्रकट नहीं करता है। यहां तक कि ये उद्योग तमाम प्रकार के विकल्पों को हमारे समक्ष लाते हैं तथा उसको एक अर्थ प्रदान करने की कोशिश भी करते हैं तथा उसको अर्थ प्रदान करने की कोशिश भी करते हैं और इनके आधार पर वही 'अच्छा जीवन' है जहां 'अच्छा उपभोग' है (ऐयटक 2006 : 18)। प्रत्येक उपभोक्ता उत्पादों एवं सेवाओं को विभिन्न आयामों में देखता है। यहां पर प्रमुख रूप से पांच प्रकार के उपभोगों को दर्शाया जा रहा है।

- **प्रत्यक्ष अथवा दिखावटी उपभोग (Conspicuous Consumption)** इस संसार में लोग अपनी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) की पूर्ति किसी न किसी प्रकार से करने के लिये सेवाओं तथा वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। यद्यपि समाज में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दूसरों को प्रभावित

करने के लिए उपभोग एवं दिखावा करना शुरू कर देते हैं तथा कभी-कभी जब ये दिखावटीपन व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं से अधिक होता है तो उसको प्रत्यक्ष उपभोग की श्रेणी में रखा जाता है। इस अवधारणा को विश्लेषित करने का श्रेय थार्सटीन वेबलन को जाता है। इसका विश्लेषण उन्होंने द थ्योरी ऑफ लेजर क्लास में किया। इन्होंने यह भी बतलाया कि औद्योगीकरण के प्राथमिक पीढ़ी में जो लोग थे उन्होंने आडम्बरहीन जीवन व्यतीत किया। लेकिन द्वितीय एवं तृतीय पीढ़ी में लोगों ने अपना ध्यानाकेन्द्रण उत्पादन के बजाय उपभोग पर किया। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि उपभोक्तावाद में आर्थिक शक्ति निहित होती है जिससे व्यक्ति विशेष वर्ग में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाता है। ऐसा दिखावटीपन व्यक्ति इसलिये करता है कि अन्य वर्ग के लोगों में ईर्ष्या के भाव उत्पन्न हो। लोग उपभोग को इसलिये सर्वोपरि रखना शुरू कर दिये ताकि वे समाज में अपना उच्च स्थान दिखा सके। वेबलन ने इसके पीछे तर्क दिया है कि इस प्रकार के व्यवहार के पीछे प्रमुख प्रेरक धन प्रस्थिति है जो लोगों को उनके साथ जोड़ने के लिये शक्ति के रूप में कार्य करता है (सोलोमन 2006 : 474)। वैभवशाली जीवन में धन सम्पदा व्यक्ति की प्रतिष्ठ का एक महत्वपूर्ण संकेत है जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज में शक्ति अर्जित करता है। दिखावटी सहभागिता उपभोग मात्र समाज के संभ्रांत वर्ग ही नहीं दिखाते बल्कि समाज के मध्यम वर्ग भी अपनी सहभागिता को दर्ज करवा रहे हैं (सिनार एवं क्यूबकू 2009:284)। आधुनिक समाज इस प्रकार के उपभोग के पीछे सामान्य लक्ष्य यही है कि ये लोगों को प्रतिष्ठा एवं शक्ति प्रदान करें (साहिन 1992:42)।

- **सांकेतिक उपभोग (Symbolic Consumption)** मानव प्राणी की ही यह विलक्षणता है कि वह मात्र अन्य जीवधारियों की भांति अपनी मात्र दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता बल्कि अन्य प्रकारर की आवश्यकताओं के बारे में भी अपने विशिष्ट विचार एवं संकेत रखता है। व्यक्ति को एक बौद्धिक प्राणी की संज्ञा से भी संज्ञायित किया जाता है जिसके कारण उसके इच्छाएं, महत्वाकांक्षाएं, लक्ष्य, मूल्य, विश्वास आदि भी भिन्न प्रकार के होते हैं। इस कारण व्यक्ति संकेतों के माध्यम से भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है। सांकेतिक उपभोग किसी उत्पाद के उदविकास से जुड़ा होता है जिसमें संकेतों के माध्यम से वस्तुओं की उपयोगिता को बढ़ावा प्रदान करते हैं तो वह सांकेतिक उपभोग की श्रेणी में आ जाता है। उपभोग का एक सांकेतिक पक्ष भी होता है जिसमें उपभोक्ता अपने अनुभवों के माध्यम से उत्पादों के लाभों को अन्य लोगों में भी सम्प्रेषण के माध्यम से प्रचारित करना चाहते हैं। उत्पाद तथा सेवाओं को सांकेतिक वस्तु के रूप में भी अभिव्यक्त किया जाता है। क्योंकि संकेतों तथा प्रतीकों के बगैर उपभोग का किसी प्रकार का कोई अर्थ नहीं रहता (ओडाबसी 1999:69)। उदाहरण स्वरूप स्पोर्ट कार तथा कभी-कभी पहने जाने वाले परिधान लोगों को वस्तुओं की महत्ता का संदेश सम्प्रेषित करते हैं, जो उनकी स्वतंत्रता एवं व्यक्तिवादिता को अभिव्यक्त करता है। उपभोग के सांकेतिक अभिप्राय किसी उत्पाद की सामाजिक प्रक्रिया को व्यक्त करता है जो आधारभूत सांस्कृतिक वर्गों को स्थायीत्व एवं पहचान प्रदान करता है। अन्य शब्दों में महंगी वस्तुएं मात्र भौतिक क्रय या उपभोग को अधिक प्रदर्शित करता है। अन्य लोग उसे पाने को लालसा रखते हैं। इस प्रकार संभ्रांत उपभोग का विकल्प अपने होने का एहसास सांकेतिक रूप से प्रदर्शित करता है। इस प्रकार समाज में वस्तुओं के उपभोग की प्रक्रिया समाज में चलती हती है। वेबलन के अनुसार विलासी उपभोग के पीछे प्रमुख रूप से दो प्रकार के प्रेरक तत्व कार्य करते हैं प्रथम- समाज के संभ्रांत लोग अपनी स्वयं की प्रतिछाया को परिलक्षित करना चाहते हैं तथा द्वितीय यह कि ये निम्न वर्गों से इन्हें भिन्न बनाता है।

- **व्यसनी उपभोग (Addictive Consumption)** उपभोग की एक वस्तुओं, उत्पादों एवं सेवाओं पर मानसिक एवं शारीरिक रूप से पूर्णतः निर्भर हो जाता है जैसे मद्यपान, नशीली एवं दर्दनिवारक दवाओं इत्यादि लेकिन फिर भी जब उत्पादों एवं सेवाओं जिनको व्यक्ति उपभोग करना चाहता है, के प्रति अत्यधिक अपनी तीव्र इच्छा को प्रकट करे तथा उसे प्राप्त करने के लिए किसी सीमा तक जा सकता है, को व्यसनी उपभोग की श्रेणी में रखा जाता है, इस प्रकार के अत्यधिक तीव्र लोलुप्ता व्यक्ति के लिए समस्या बन जाते हैं। इस श्रेणी में समाहित करने वाला एक महत्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि व्यक्ति जैसे इंटरनेट के बिना या मोबाईल फोन के बिना एक क्षण अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाता, उसे भी व्यसनी उपभोग के अन्तर्गत ही रखा जायेगा जिसमें व्यक्ति को स्वयं को वास्तविक दुनिया से ज्यादा आभासी दुनिया में सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार का व्यसन धीरे-धीरे अत्यधिक घातक सिद्ध होता है (सोलोमन 2006:29)।

- **बाध्यकारी उपभोग (Compulsive Consumption)** इस समाज में कुछ लोग खरीदारी करने में ज्यादा सुख का अनुभव करते हैं यद्यपि ये इनके लिये कभी-कभी आवश्यक भी नहीं होता। बाध्यकारी उपभोग इस दशा को इंगित करता है जिसमें चिन्ता के कारण व्यक्ति अत्यधिक उपभोग करता है। कभी-कभी व्यक्ति तनाव एवं अवसाद के कारण बार-बार वस्तुओं एवं सेवाओं को उपभोग करता है। खरीदारी करना भी एक प्रकार का व्यसन है लेकिन यह व्यसनी उपभोग से इस प्रकार भिन्न है कि व्यक्ति इसके लिए तभी तैयार होता है जब उसके पर क्रय शक्ति होती है। इस प्रकार का उपभोग एक प्रकार की व्याधि के समान भी होता है जैसे कोई स्त्री अपने केशों के लिए 200 पिनों को एक दिन में खरीद लेती है लेकिन उनका कभी प्रयोग नहीं करती है। इस प्रकार के उपभोग में व्यक्ति स्वयं को इतना बाध्यकारी बना लेता है कि उपभोग के बिना वह दुखी हो जाता है। इस प्रकार के उपभोग में व्यक्ति अपने पास उन वस्तुओं को रखना पसन्द करता है जो उसके पास पहले से मौजूद होती है तथा उसका प्रयोग लगभग न के बराबर करता है।

इसमें लोग अपनी क्रय सम्बन्धी आदतों पर नियंत्रण रखने में असमर्थ होते हैं। इसमें प्रमुख रूप से तीन नकारात्मक प्रवृत्तियां नजर आती हैं (1) इसमें व्यवहार में किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता (2) व्यवहार में क्षणिक सुख का ही आभास होता है (3) वस्तुएं खरीदने के बाद व्यक्ति स्वयं ही उस पर खेद प्रकट करता है जो अवास्तविक होता है।

• **पवित्र उपभोग (Sacred Consumption)** उपभोग की क्रियाओं में जब दोहरेपन की भावना का समावेशन होता है जिसमें हमें अच्छे तथा बुरे का आभास होता है, को पवित्र उपभोग की श्रेणी में रखा जाता है। इसमें यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि उपभोक्ता सदैव वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग करने में द्विआधारी विरोध का सामना करता है जिसमें वह पवित्रता एवं अपवित्रता के भाव शामिल करता है। इस प्रकार के उपभोग की विशेषता यह है कि इससे सम्बन्धित वस्तुओं एवं सेवाओं को लोग सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। पवित्र उपभोग धार्मिक वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग से सम्बन्धित हो भी सकती है और नहीं भी। लेकिन इतना अवश्य है कि लोगों का इस प्रकार के उपभोग के प्रति सम्मान का भाव निहित होता है। इस प्रकार का उपभोग व्यक्ति के अनुभवों से अपना गहरा सरोकार रखता है। जैसे लोग अपना ध्यान केन्द्रण करने के लिए किसी धर्ममत से जुड़ी वस्तुओं का प्रयोग करना शुरू कर देता है तथा उनकी सेवाओं को भी ग्रहण करने लगता है।

• **उपभोक्ता व्यवहार (Consumer Behavior)** उपभोक्ता व्यवहार को समझने से पहले यह जरूरी है कि हम उपभोक्ता को जान लें।

उपभोक्ता- उपभोक्ता वह व्यक्ति होता है जो कि किसी वस्तु को खरीदता या खरीदने की क्षमता रखता हो और उपभोक्ता वह व्यक्ति भी होता है जो किसी कम्पनी के द्वारा दी गई सेवा को ग्रहण करता है ताकि वह अपनी व्यक्तिगत और पारिवारिक जरूरतों को पूरा कर सके। महात्मा गांधी के कथनों के अनुसार-उपभोक्ता बहुत ही बहुमूल्य होता है हमारे व्यवहार के लिए वह हम पर आश्रित नहीं होता, हम उस पर आश्रित होते हैं। उपभोक्ता व्यवहार के लिए रक्त जैसा कार्य करता है जैसे कि मानव को जीवित रहने के लिए अपने शरीर में रक्त की आवश्यकता होती है वैसे ही व्यापार के लिए उपभोक्ता की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में उपभोक्ता से आशय ऐसे लोगों से है जो बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुओं को खरीदता है तथा उसका उपभोग करता है तो उससे सम्बन्धित उसका एक विशिष्ट व्यवहार होता है। बाजार के संदर्भ में इसके इस व्यवहार को उपभोक्ता व्यवहार कहा जाता है।

उपभोक्ता व्यवहार- हम सभी उपभोक्ता है और हम हमारे दैनिक जीवन में बहुत सी वस्तुओं का उपभोग करते हैं और बहुत सी वस्तुओं को हम हमारी क्रय क्षमता, हमारी आवश्यकता तथा हमारे महत्व के आधार पर खरीदते हैं। ये वस्तुएं किसी भी प्रकार की हो सकती है। चाहे वे उपभोग करने योग्य वस्तुएं हो, विशिष्ट वस्तुएं या फिर उत्पादन योग्य वस्तुएं हो। हम क्या खरीदते हैं, कब खरीदते हैं, कैसे खरीदते हैं, कितना खरीदते हैं। कहाँ से खरीदते हैं। हम सब हमारे सोचने के नजरिये, सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य पर तथा हमारी आयु, पारिवारिक स्थिति, अभिव्यक्ति, सोच तथा मान्यताओं के आधार पर निर्धारित होता है और यही ऐसे तथ्य होते हैं जिन्हें हम आंतरिक तथा बाह्य तत्व कहते हैं और किसी वस्तु को खरीदते वक्त हम इन्हीं तत्वों को ध्यान में रखते हुए यह निर्णय लेते हैं कि उस वस्तु को खरीदना है या नहीं। हम यह कह सकते हैं कि उपभोक्ता के व्यवहार का निर्धारण एक बड़ी सीमा तक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों द्वारा होता है। कम्पनी द्वारा निर्मित उत्पाद के लिए प्रत्येक कम्पनी एक व्यापक कार्यक्रम तैयार करती है। जिसके अंतर्गत कितना उत्पादन, उसका मूल्य, वितरण प्रणाली, विक्रय प्रचार, विज्ञापन तथा संवर्धन को ध्यान में रखा जाता है। क्योंकि यह सभी घटक उत्पाद की मांग पर प्रभाव डालते हैं। विभिन्न कम्पनियां अपने ब्राण्ड का प्रचार करने के लिए अपनी प्रतिस्पर्धी कम्पनी के उत्पाद से कम मूल्य पर अनेक इनामी योजनाओं अथवा अन्य प्रलोभनों के माध्यमों से उपभोक्ताओं को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती है। विज्ञापन तथा प्रचार के अन्य साधनों द्वारा वे ग्राहक के मन में अपनी वस्तु के प्रति अनुकूल भावनाएं उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न करती है। अतः विपणन की दृष्टि से ये सब नियंत्रणीय कारक कहलाते हैं। परन्तु वस्तु की मांग पर ग्राहक के स्वभाव, आवश्यकताओं तथा अभिप्रेरकों का भी प्रभाव पड़ता है और उपभोक्ताओं के स्वभाव, प्रतिरूचियों तथा समस्त व्यवहार संरूप ऐसे तत्व हैं जिन पर विक्रेता का नियंत्रण शून्य के बराबर है। विक्रेता की सफलता इसी बात पर निर्भर करती है कि वह उपभोक्ता के स्वभाव और व्यवहार की यथार्थता जानकारी प्राप्त करें तथा अपने विपणन कार्यक्रम को उसी के अनुरूप सांचे में ढालें। एक कम्पनी अपना बाजार तभी निर्मित करने का कार्य तभी सफलतापूर्वक कर सकती है जबकि वह निम्न प्रश्नों का उत्तर अच्छी तरह समझ सके।

उपभोक्ता कौन है? क्या खरीदता है? कब खरीदता है? कहाँ खरीदता है? कैसे खरीदता है? क्यों खरीदता है? व्यक्तियों के क्रय करने से सम्बन्धित समूचे व्यवहार को उपभोक्ता व्यवहार कहते हैं। इसको परिभाषित करते हुए सचिफमैन एवं अन्य (2003:08) ने कहा है कि ''उपभोक्ता व्यवहार एक ऐसा व्यवहार है जो उत्पादों और सेवाओं को खरीदते समय, प्रयोग करते समय उपभोक्ता द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जिससे उसके आवश्यकताओं की संतुष्टि होगी।'' अतः अन्य शब्दों में उपभोक्ता व्यवहार एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति उत्पाद अथवा सेवाओं के क्रय के सम्बन्ध में यह निर्णय लेते हैं कि क्या, कब, कैसे, कहाँ से क्रय किया जाये। उपभोक्ता व्यवहार के अन्तर्गत शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार की क्रियायें आती हैं। शारीरिक क्रियायें जैसे दुकान पर जाना, उत्पाद को देखना तथा उत्पाद का चयन करना। मानसिक क्रियायें

जैसे नये उत्पादों व ब्राण्डों के बारे में जानकारी प्राप्त करना उनके बारे में सोच-विचार करना तथा अपनी धारणा बनाना। उपभोक्ता के व्यवहार उपभोग के इन दो प्रमुख पक्षों को दर्शाता है, प्रथम व्यक्तिगत उपभोक्ता द्वितीय संगठनात्मक उपभोक्ता।

व्यक्तिगत उपभोक्ता- जो अपने व्यवहार/प्रयोग तथा सेवा के लिए वस्तुओं को खरीदता है या तो घर में प्रयोग अथवा दूसरों को देने के लिए इस्तेमाल करने वाला उपभोक्ता इस कोटि के अन्तर्गत आता है। इसमें उपभोगकारी वस्तुओं का इस्तेमाल व्यक्ति ही करता है जिसे हम अन्तिम प्रयोगकर्ता कहते हैं।

संगठनात्मक उपभोक्ता- जो अपने व्यवहार को चलाने (लाभ अथवा हानि), सरकारी एजेंसियों (स्थानीय राज्य स्तरीय अथवा राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय) एवं संस्थान (शिक्षण संस्थाएं, जेल, सरकारी कार्यालय, गैर सरकारी कार्यालय, अस्पताल) को चलाने के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदते हैं; उन्हें हम संगठनात्मक उपभोक्ता कहते हैं।

उपभोक्तावादी संस्कृति (Consumer Culture)

संस्कृति के विषय में विलियम ने 1958 यह कहा है कि अंग्रेजी शब्दकोश में यह सर्वाधिक कलिष्ट शब्द है जिसको परिभाषित करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है। इसको परिभाषित करना इसलिये भी कठिन है क्योंकि यूरोपीय महाद्वीप में इसको विभिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ प्रदान किये है। लैटिन भाषा के 'colere' शब्द से कल्चर शब्द की व्युत्पत्ति हुई है जिसका अभिप्राय आवास, उत्पादन, सम्मान तथा पूजा के प्रतिमानों से है जो उस समाज में मौजूद होती है। इसको सभ्यता के प्रादुर्भाव के रूप में भी देखा जाता रहा है। लेकिन ये सभी अर्थ संस्कृति के उस अर्थ को अभिव्यक्ति नहीं करते हैं जिसको सार्वभौमिक रूप से स्वीकार नहीं किया गया। 1881 में टायलर द्वारा दी गयी परिभाषा को सर्वाधिक रूप से स्वीकार किया गया है जिसमें इन्होंने इसे जटिल सम्पूर्णता जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा तथा अन्य वे सभी क्षमताएं और आदतें जो मानव द्वारा समाज के रूप में अर्जित की जाती हैं, सम्मिलित हैं के रूप में परिभाषित किया है। संस्कृति एक सर्वाधिक जटिल एवं अमूर्त रचना है जिसमें इसके कई प्रकट एवं अप्रकट तत्व शामिल होते है (ग्रोईशल एवं दोहर्ती : 2000)। इस संस्कृति के साथ समाज के जैसे तत्व शामिल होते जाते हैं वैसी ही संस्कृति का वो रूप धारण करती जाती है। इसी प्रकार औद्योगीकरण के पश्चात् जिस प्रकार के सेवा तथा उपभोग को लोगों ने अपनी जीवन शैली में उतारा उसे उपभोक्तावादी संस्कृति के नाम से जाना जाता है।

संस्कृति मनुष्य के उपभोक्ता व्यवहार एवं उपभोग को प्रभावित करता है जिसमें व्यक्ति परिवर्तन के प्रवृत्तियों को अपने व्यवहार में लाता है (सेथ एवं सेथी : 1977)। उपभोक्ता संस्कृति में व्यक्ति के उस जीवनशैली को शामिल किया जाता है जिसमें व्यक्ति के क्रय व्यवहार, क्रय के पश्चात् व्यवहार, लोग क्यों खरीदते हैं, खरीदारी के प्रतिमानों, उपभोग की संरचना, व्यक्तिगत निर्णय एवं सम्प्रेषण क्रियाएं शामिल होती है (ऐजंल, ब्लैकवेल एवं मीनीराड 1995)। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत उत्पाद अधिग्रहण, प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार, नवाचार के प्रति प्रत्युतर, बाजार सम्प्रेषण के नियम एवं उनका उपयोग, वितरण प्रणाली के प्रति व्यवहार, वस्तुओं के निर्धारित मूल्यों के प्रतिमान, उपभोग के विभिन्न परिवर्तनशील पक्ष, सेवा बनाम वस्तु उत्पादन का व्यवहार, सांस्कृतिक अभिमुखन, सन्दर्भ समूहों के प्रभावों, ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में उपभोग के प्रतिमान को शामिल किया जाता है (राजू 1995)। क्रेग एवं डोगल्स (2005) का कहना है कि उपभोक्ता के व्यवहार पर संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ता है जिसमें व्यक्ति की उपभोक्तावादी जीवन शैली निर्धारित होती है। जैसे अमेरिका के मेक्डोनाल्ड संस्कृति उपभोक्तावाद का एक सर्वाधिक अच्छा उदाहरण है जिसने सम्पूर्ण संसार में अपनी अमिट छाप छोड़ी है तथा लोगों के इसके प्रति उन्मुख होते देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता संस्कृति प्रत्येक स्थान पर एक समान नहीं होती है इसके प्रतिमान उस समाज के प्रतिमानों के अनुरूप परिवर्तित होती रहती है। जापान में छोटी कारों का प्रचलन है वही अमेरिका में लम्बी कारों का ज्यादा प्रचलन है।

फीटरस्टोन ने उपभोक्ता संस्कृति के प्रमुख रूप से तीन परिप्रेक्ष्यों को व्यक्त किया है। प्रथम परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत इन्होंने पूंजीवाद उत्पादन के विस्तार पर बल दिया है जिसको कि पश्चिमी समाज में लोगों ने विलासिता तथा उपभोग के साथ जोड़ कर देखा है। इस प्रकार के समाजों में समानता तथा स्वतंत्रता को लोग सर्वोपरि मानते हैं तथा ये लोग उनके विचारों की समीक्षा करते हैं जो इन मूल्यों के विरूद्ध होते हैं। द्वितीय परिप्रेक्ष्य इस बात पर बल देता है कि लोग समाज के द्वारा रचित विभिन्न मानकों के आधार पर अपने आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा संतुष्टि प्राप्त करते हैं। इसके अन्तर्गत उपभोग का कार्य प्रस्थिति में विभेद प्रस्तुत करना होता है तथाा इसके माध्यम से लोगों को सामाजिक ताने बाने में बांधकर रखना होता है। यह कार्य लोगों द्वारा उनके अनुभवों एवं प्रयोग में लायी गयी वस्तु के आधार पर होता है। तीसरा परिप्रेक्ष्य यह दर्शाता है कि उपभोग सुख एवं कल्पना का स्रोत है जिसको उपभोग सांस्कृतिक कल्पना एवं माल संस्कृति के माध्यम से एक समारोह की भांति मनाया जाता है। इस प्रकार के उपभोग संस्कृति में व्यक्ति शारीरिक तथा भाव भंगिमात्मक उत्तेजना को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार उपभोक्ता संस्कृति के प्रमुख लक्षणों में आवश्यकताओं का इच्छाओं में रूपांतरण, सुखवादी दर्शन, आवश्यकता मूल्य, दिखावटी मूल्य एवं उपभोग, विलासिता, सौन्दर्यबोध, अलगाव, विभेदीकरण एवं तीव्रता होती है। उपभोग के अन्तर्गत व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति तो शामिल होती है लेकिन ये आवश्यकताएं व्यक्ति संस्कृति के प्रतीकों, मूल्यों एवं संरचनाओं से भी पूरा करता है। आज के दौर में दिखावटी एवं विलासी उपभोग का प्रभुत्व

सर्वाधिक होता जा रहा है। इस कारण व्यक्ति समाज एवं आसपास के वातावरण की चिन्ता किये बगैर सुखवादी कल्पना में अपना जीवन व्यतीत कर रहा है। इसके कारण हमारा सामाजिक पर्यावरण संतुलन भी बिगड़ गया है। यह कहना किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है कि उपभोक्तावादी संस्कृति आज हमारे लिए एक पर्यावरणीय संकट का कारण बनती जा रही है।

पर्यावरणीय संकट (Environmental Crisis)

पर्यावरण संकट से अभिप्राय आसपास के वातावरण में वे अवांछनीय तत्व शामिल हो जाना है जो पर्यावरण का संतुलन बिगाड़ते हें। पर्यावरण संकट को परिभाषित करते हुए **स्काट टायलर (2009)** ने लिखा है कि मेरे अनुसार पर्यावरणीय संकट को नाटकीय, अप्रत्याशित, अपरिवर्तनीय बिगड़ती पर्यावरणीय दशा जिसमें अग्रिम या अग्रणीय कल्याण की महत्ता न होने को कहते हैं। इन्होंने अपनी इस परिभाषा में कई सारे तत्वों का समावेश किया है। प्रथम ये कि ये नाटकीय तौर से परिवर्तन हो रहा है जिसको माप पाना कठिन है। क्योंकि इसकी तीव्रता को ज्ञात नहीं किया जा सकता। द्वितीय ये कि यह अप्रत्याशित होता है अर्थात अगर इसके बारे में थोड़ी सी भी जानकारी हो तो लोग सजग हो जाये लेकिन इसके एकाएक होने की वजह से इसको व्यक्त करने में कठिनाई का अनुभव होता है। तीसरा ये कि पर्यावरण संकट में पूर्व से मौजूद वातावरण की स्थिति बिगड़नी आरम्भ हो जाती है। क्योंकि प्रकृति के संसाधनों का दोहन होने के पश्चात् उनको उनके पूर्ववर्ती स्थिति में नहीं लाया जा सकता है इस कारण से अपरिवर्तनीय हो जाता है। जब इस प्रकार की दशायें हमारे समक्ष आ जाती है तो प्राकृतिक संसाधनों में भी कल्याण की भावना समाप्त हो जाती है। जैसे नदियों में जल तत्व तो मौजूद हैं लेकिन उनमें प्रदूषण हो जाने के वजह से वह किसी भी प्रकार से व्यक्ति की प्यास नहीं बुझ सकती है। इसी प्रकार खनन के पश्चात् वहां की भूमि का प्रयोग कर पाना लगभग न के बराबर होता है। इस कारण पर्यावरण संकट हमें देखने को मिलता है। पर्यावरण संकट एक बाह्य नकारात्मकता को भी दर्शाता है जिसमें विभिन्न प्रकार की समस्यायें हमारे समक्ष आती है जैसे- जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, प्राकृतिक एवं प्रौद्योगिक खतरे, विषाक्त अपशिष्ट, प्रजातियों का लुप्त होना, प्राकृतिक संसाधनों का क्षय को शामिल करती है। उपभोगवाद के कारण लोगों ने पर्यावरण के बारे में चिन्तन करना छोड़ दिया है। पर्यावरणीय संकट की प्रमुख लक्षणों में जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत का क्षरण, वायु गुणवत्ता में ह्रास, अशुद्ध जल के निराकरण की समस्या, पेयजल की कमी, भूमि क्षरण, भूमि की उपजाऊ शक्ति का ह्रास, मरूस्थलीकरण, आवासीय स्थान की कमी एवं जैव विविधता का ह्रास को शामिल किया जा सकता है। इन सभी प्रकार के संकटों के पीछे मनुष्य के क्रियाकलाप उत्तरदायी हैं जिसमें ंस्वयं के सुख के लिए औरों के सुख की चिन्ता ही नहीं की तथा पर्यावरण के साथ जैसे खिलवाड़ कर रहे हैं।

उपभोक्तावादी संस्कृति एवं पर्यावरण संकट

हमारा उपभोग स्वतः ही हमारे संस्कृति का प्रकार्य है। वस्तुओं के उत्पादन, उपभोग, उनका प्रसंस्करण, उनका प्रयोग, वस्तुओं की आवश्यकताएं ये सभी प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के परिणामस्वरूप ही हमारे समक्ष आते हैं। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने उपभोगवाद की तीव्रता प्रदान करने में सबसे ज्यादा सहायता प्रदान की एवं उत्पादन एवं उपभोग पर बल दिया। लोगों ने विकास का पैमाना सिर्फ पूंजीवाद को मान लिया है जिसमें उत्पादन का कार्य उपभोग के माध्यम से अधिक से अधिक लाभ की प्राप्ति करना है। इसको ही आज हमने आर्थिक विकास का सर्वाधिक वृहद पैमाना मान लिया है। सकल घरेलू उत्पाद को बढ़ाने के लिए वस्तुओं का उत्पादन होना ही आवश्यक नहीं है बल्कि उनका उपयोग होना भी अनिवार्य है तभी उपभोक्ता समाज का निर्माण होगा। इसके लिए उत्पादन की प्रक्रिया में व्यक्ति की भागीदारी होना आवश्यक है। इस प्रकार की भागीदारी होने के लिए कारखाना व्यवस्था एवं उसको संचालित करने के लिए एक प्रक्रम का होना अनिवार्य है। फैक्टरियों से निकलने वाला विषाक्त अपशिष्ट का निपटारा करना हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती बन चुका है। हम वस्तुओं के उपयोग के लिए विविध प्रकार की प्रौद्योगियों का प्रयोग तो करते हैं लेकिन पर्यावरण के बारे में चिन्तित नहीं होते हैं। उपभोक्तावादी व्यवहार हमारे लिये आज जीवनशैली का प्रारूप बन चुका है। इसके कारण समाज में अन्य प्रकार की भी समस्यायें भी नजर आती हैं। समाज में लोगों के मध्य असमानता बढ़ती जा रही है। उत्पादन में वृद्धि होने के बावजूद लोग भूखमरी से मर रहे हैं। उपभोक्तावाद के कारण पर्यावरण को जिस प्रकार से हानि हो रही है उसको संक्षेप में इस प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

- **भूमि संसाधनों का दुरूपयोग (Misuse of land resources)** - हमारे आवश्यकताओं को पूर्ति करने का प्रथम साधन भूमि है जो प्राकृतिक एवं कृषि माध्यमों से हमारे खाद्यान्न की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। भूमि का प्रयोग हम विविध प्रकार के भोज्य उत्पादों को प्रसंकरण में लाने के लिए करते हैं। जनसंख्या विस्फोट के कारण उत्पादन को बड़े पैमाने पर किया जाने लगा जिसके लिए हमने भू संसाधनों पर अपना आधिपत्य करना शुरू कर दिया। विश्व के तमाम बहु राष्ट्रीय निगम जंगलों एवं प्राकृतिक संसाधनों का दोहन मात्र मुनाफे के लिए करना आरम्भ कर दिया। लोगों को विकास के नाम पर बेदखल कर उनकी जमीनों का प्रयोग स्वयं के लिए करना प्रारम्भ कर दिया। भूमि संसाधनों का प्रयोग बिना किसी रोकटोक से मात्र उपभोग के लिए किया जा रहा है। जनाधिक्य के कारण उत्पादन को बढ़ाने के लिए तमाम प्रकार के विविध रसायनों के प्रयोग के द्वारा भूमि की प्राकृतिक उपजाऊ शक्ति को समाप्त किया जा रहा है। विभिन्न प्रकार के रेस्त्रों को आज पर्यावरण के संरक्षण समूहों द्वारा आलोचना का सामना करना पड़ रहा है।

• **विकसित देशों द्वारा प्रदूषण का निर्धन देशों के तरफ प्रवाह (Exporting Pollution from Rich Countries to Poor Countries) -** उपभोग के वृद्धि होने से प्रदूषण भी होना स्वाभाविक है। उपभोग के साथ मात्र उत्पादन में ही वृद्धि नहीं होती है बल्कि अपशिष्ट पदार्थों का होना भी स्वाभाविक होता है। आटोमोबाइल इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है। औद्योगिक निकायों से भी प्रदूषण होता है जो कि अपशिष्ट पदार्थों को या तो जल में प्रवाह कर देते हैं या फिर जमीन में दबा कर भूमि की शक्ति को कम कर देते हैं। विश्व के बीस प्रतिशत लोगों का विश्व के अस्सी प्रतिशत संसाधनों पर अधिकार है। अर्थात् विश्व के विकसित देश निर्धन देशों की तरफ अपने क्षेत्राधिकारों की तरफ विस्तारित करती जा रही है। इसके कारण अब प्रदूषण निर्धन देशों के तरफ बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र के एक रिपोर्ट के अनुसार अब बढ़ते हुए उपभोग के कारण प्रदूषण का प्रवाह विकसित देशों के द्वारा अब निर्धन देशों के तरफ होता जा रहा है। आज विकसित देशों में भोज्य पदार्थों को फास्ट फूड कल्चर के कारण मात्र उपभोग की वस्तु के रूप में देखा जा रहा है। विश्व के अधिकांश देशों में आज मादक पदार्थों से सम्बन्धित कृषि कार्य होने लगे हैं। मादक पदार्थों के उपभोग की प्रवृत्ति विकसित देशों के अन्तर्गत सर्वाधिक रूप से मौजदू हैं जिसके कारण विकासशील एवं अल्पविकसित देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ करने के लिये इस प्रकार के पदार्थों हेतु तत्पर होने लगे हैं जिसके कारण प्रदूषण का प्रवाह विकसित देशों द्वारा निर्धन देशों के तरफ होने लगा है।

• **निर्वनीकरण (Deforestation) -** उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण समाज में उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है। लोगों को विलासिता से परिपूर्ण जीवन के लिए विविध प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है इनमें से कुछ आवश्यकताएं जंगलों के माध्यम से परिपूर्ण होती है। लोगों को घरों में साजसज्जा के लिए लकड़ियों की आवश्यकता होती है जिसके कारण उन्होंने इसको पूरा करने के लिए वनों पर निर्भर होना पड़ता है। विश्व के कुछ देशों में जनसंख्या वृद्धि के कारण अनाज के पूर्ति हेतु जंगलों को काट दिया गया जिसके कारण वनों की कटाई के कारण निर्वनीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती जा रही है। इस कारण पर्यावरण का संतुलन बिगउता जा रहा है।

इस प्रकार से उपभोक्तावादी संस्कृति विकास के नाम पर पर्यावरण को क्षति पहुँचाता जा रहा है। उपभोग के नाम पर लोग अपने स्वास्थ्य की भी चिन्ता नहीं कर रहे हैं। मोटापा आज के समय में व्यक्ति के लिए एक संकट के समान बनता जा रहा है। वनों के कम होने के कारण जलवायु परिवर्तन होने से जैव विविधता को संकट का सामना करना पड़ रहा है। इतना ही नहीं बल्कि असमानता के लिए भी उपभोक्तावाद भी उत्तरदायी कारण हैं जिसके कारण पर्यावरण को बचाने के लिए अविकसित देशों के पास संसाधनों का अभाव है। इस प्रकार पर्यावरण के लिए उपभोक्तावादी संस्कृति एक खतरे के समान होती जा रही है।

• **निष्कर्ष-** वर्तमान समय में उपभोक्तावादी संस्कृति वस्तुतः पूंजीवादी संस्कृति के पश्चात की अवस्था है जिसमें मात्र उत्पादन करना ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसकी खपत करना भी आवश्यक होता है तथा इसके साथ ही साथ व्यक्ति को अधिकतम सुख का भी आभास होना इसमें शामिल हो जाता है। इनमें सुख के पैमाने मात्र आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही नहीं बल्कि उसको अपनी शान प्रतीक चिन्ह बनाना भी शामिल है। उपभोग के कारण लोगों में विलासिता की भावना में तीव्र वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने क्रियाकलापों को बढ़ाता जा रहा है। माल संस्कृति की इस चकाचौंध आंधी में आज हम अपने मूल्यों के प्रति संवेदनहीन होते जा रहे हैं। विलासिता का जीवन ही आज विकास का सर्वाधिक बड़ा मापक बनता जा रहा है। इस प्रकार के संस्कृति के कारण आज का युवा वर्ग भी पर्यावरण के प्रति असंवेदनशील होता जा रहा है। वास्तव में जिस विकास की संकल्पना को हम उपभोग के साथ जोड़कर देख रहे हैं वह विनाश के मुह पर खड़ा है। भारतीय समाज में भी उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास तीव्र गति से हो रहा है। इसको नियंत्रण में करने के लिये हमें संपोषित विकास की धारणा को ध्यान में रखना होगा एवं आवश्यकताओं को सीमित मात्रा में करने पर भी हम सुख का अनुभव कर सकते हैं। यदि आज के दौर में इस उपभोग एवं सेवा समाज के प्रति सजग कदम हमने नहीं रखा तो भविष्य में हमें काफी समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। वनो का कम होना, नदियों के जल का विषाक्त हो जाना, पेयजल का बाजारों में बिकना किसी विकास का सूचक नहीं बल्कि विनाश का सूचक है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति से बचने का रास्ता हमारे गांधीवादी न्यासिता की अवधारणा में निहित है जो भारत को ही नहीं बल्कि विश्व को बचाने के लिए सर्वोत्तम है।

सन्दर्भ

- Aktan, Can. The Virtual Library on Social Sciences, (Online) March 2012
- Baurdillard, J. (1998). The Consumer Society: Myth and Structure, London Sage Publication.
- Craig, C.S., Douglas, S. (2005). Beyond national culture: Implications of cultural dynamics forconsumer research. International Marketing Review, 23(3), 322-342
- Engel, J.F., Blackwell, R.D., Miniardd, P.W. (1995). *Consumer Behavior*. Orlando: The Dryden press.
- Featherstone, M. (1991). *Consumer Culture and Postmoddernism*. London : Sage

- Firat, A.F. (1995). Consumer Culture or Culture Consumed? Costa, J.A., Bamossy, G.J. (ed.) *Marketing in a Multicultural World,* Thousand Oaks: Sage, CA, 105-123.
- Gay du P. (1996). *Consumption and Identity at Work.* London: Sage.
- McGregor Consulting Group. *Features of Consumer Society,* [Online] at www.consultmcgregor.com. February 20, 2013 Odabai, Y. (1999).
- Raju, P.S. (1995). Consumer behavior in Global Markets: The A-B-C-D paradigm and its application to eastern europe and the third world. *Journal of Consumer Marketing,* 12(5), 37-56.
- Ritzer G. (2008), Sociological Theory, Sage Publication.
- Solomon, M.R. (1996). *Consumer Behavior Buying, Having and being* (3rd ed.). Englewood Cliffss, N.J.: Prentice-Hall.
- Sheth, J. N., Sethi S.P. (1977). The Theory of Cross-Cultural Buyer Behavior. Arch Woodsidde A., Sheth J., Bennet P. (ed) *Consumer and Industrial Buyer Behavir*. New York : North Holland, 369-386
- Thompson L.A. (1979). The development of Marx's concept of alienation: An introduction. American Journal of Sociology. Vol. 4 (i), 23-38
- Veblen, T. (1994). *The Thory of the Leisure Class: An Economic Study in the Evolution of Institutions* New York: Dover.
- Williams, R. (1958). *Culture and Society 1780-1950.* London.

●

सत्य की पक्षधरता में निर्णायक क्षण की तलाश करती कवितायें

*डॉ0 सत्यपाल शर्मा**

जीवन में क्षण की महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता, बल्कि कभी-कभी जीवन का कोई खास क्षण समूचे जीवन पर भारी पड़ जाता है। क्षण की महत्ता और उसकी व्यर्थता दोनों पर विचार की दृष्टि से वाङ्मय भरा पड़ा है। आधुनिक हिन्दी कविता के प्रयोगवादी दौर में क्षण की महत्ता पर इतना जोर दिया गया कि प्रयोगवाद की एक विशेषता 'क्षणवाद' मान लिया गया। प्रो० श्रीनिवास पाण्डेय का अद्यतन प्रकाशित काव्यसंग्रह 'शाश्वत पल' नये सिरे से क्षणों की भूमिका एवं महत्व पर पुनर्विचार करने के लिए हमें बाध्य करता है। यह क्षण 'पारस' होता है। संभवत: इसीलिए उन्होंने अपने अन्य काव्य संग्रह का शीर्षक 'पारस क्षण' रखा है। दोनों काव्यसंग्रहों की कविताएँ बहुआयामी हैं, जिसमें सत्य की पक्षधरता, भारतीय संस्कृति के उज्जवल पक्षों के प्रति लगाव, उज्जवल पक्षों के क्षरण पर चिन्ता, वर्तमान मानव के चरित्र और व्यक्तित्व की विसंगतियों पर चिन्ता, पर्यावरण संरक्षण की चिन्ता, श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति, गाँव की आत्मीयता, शहर का जहर, सत्ता का मद, मनुष्यता का लोप, समय की पहचान, किसी भी तरह मानवता को बचाये रखने की जद्दोजहद, प्रेम आदि सब शामिल है।

एक शेर का अंश है- 'लम्हों ने खता की थी, सदियों ने सजा पायी है।' इतिहास गवाह है कि लम्हों की खता की सजा देश-दुनिया को सदियों तक भुगतनी पड़ी है। हिरोशिमा-नागासाकी पर क्षण में गिरे परमाणु बम की सजा वहाँ की आगामी कई पीढ़ी की संततियों ने भोगा। ऐसे हजारों उदाहरण हैं। जीवन के महत्वपूर्ण निर्णय अक्सर क्षणों में लिये जाते हैं। यह भी कह सकते हैं क्षणों में लिये गये निर्णय जीवन एवं समाज की दशा-दिशा तय करते हैं। किसी खास क्षण का निर्णय हमारे जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता हैं। अत: हमें हर क्षण की महत्ता और उसकी सार्थकता को स्वीकार करना होगा। प्रो० पाण्डेय 'दारूण क्षण' में क्षण की इसी महत्ता को संकेतित करते हुए लिखते हैं-

''निर्णायक क्षण का चुका मनुष्य
क्षमा नहीं पा सकता
क्योंकि उस क्षण का मौन
झुलस देता है सम्पूर्ण मानव नियति को''[1]

इसी बात को दूसरी कविता 'ज्वालामुखी क्षण' में कवि दूसरे शब्दों में यूँ व्यक्त करता है-

''हो सकता है क्षण के निर्णय में
छिपी हो शक्ति स्वर्णिम भविष्य की।''[2]

प्रो० पाण्डेय की कविताओं की अहम विशेषता यह है कि वे अपने भावों को व्यक्त करने के लिए प्राय: मिथकों का सहारा लेते हैं। पुराणों और मिथकों के प्रसंग आये तो उसी रूप में हैं लेकिन कवि-दृष्टि घटित घटनाक्रमों को आज के नजर से देखती है। कवि के मन में अनेक किन्तु-परन्तु आते हैं। वह पुनर्विश्लेषण करते हुए सोचता है कि उस समय अगर ऐसा हो गया होता तो यह न होता' अथवा 'उस समय अगर ऐसा न हुआ होता तो यह न होता'। हम जानते हैं कि अब इस तरह सोचने से विगत नहीं बदल सकता लेकिन एक कवि जब ऐसा सोचता है तो वह वास्तव में अतीत का गौरवगान नहीं करता बल्कि अतीत की खामियों के प्रति हमें होशियार कर वर्तमान के प्रति सजग करता है। अगर हम अतीत से सबक लें तभी बेहतर भविष्य का सपना देख सकेंगे अन्यथा हाथ-मलने के अलावा कोई चारा न होगा। 'निरपेक्ष सत्य' में भीष्म का अन्तरान्वेषण करते हुए प्रो० पाण्डेय लिखते हैं-

'' है प्रिय भीष्म को अपना सत्य
निरपेक्ष सत्य का सच्चा न्याय
था ही नहीं उनके शब्द कोश में।
उनके सत्य की परिभाषा हस्तिनापुर
के सिंहासन से बँधी थी।''[3]

कभी-कभी धर्म का ज्ञाता भी धर्म की संकुचित आड़ में शास्वत सत्य को नहीं देख पाता। इसलिए वह-

''निर्णायक क्षण में सत्य का पक्ष
लेने में हो जाता है विवश लाचार।
उसकी बेबसी ही रचती है
महाभारत का भयंकर विनाश''[4]

ध्यातव्य है कि यहाँ भी महत्ता उस क्षण की है जिसमें निर्णय लिये गये- 'क्षण का अनदेखा सत्य' और 'क्षण भर की वह भारी चूक'। प्रश्नांकित केवल भीष्म ही नहीं हैं, गुरू द्रोणाचार्य भी हैं। दिव्ययास्त्रों का ज्ञाता गुरू भी आखिर क्यों लाचार और विवश हो गया? कवि की दृष्टि मानों महाभारत की सारे महत्वपूर्ण घटनाओं का पुनर्विश्लेषण करती है। तभी तो उसकी सहानुभूति 'विदुर' के साथ है। पर

* एसोसिएट प्रोफसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

''अकेला विदुर क्या कर सकता है?
कम से कम वह भरी सभा में चीख तो सकता है।'' [5]

विदुर के चीखने पर यदि औरों ने ध्यान दिया होता तो संभवत: संस्कृति को श्मशान होने से बचाया जा सकता था। कवि कल्पना करता है-

''विदुर के साथ खड़े हो जाते यदि गुरू द्रोण,
भीष्म और कुलगुरू कृपाचार्य,
तो द्युतगृह के घिनौने कृत्य,
सम्भव था, होते ही नहीं,
नहीं होती नर पैशाची लीला
और न होती भरी सभा में घृणित क्रीड़ा।'' [6]

पर विगत तो बदला नहीं जा सकता। हाँ, उससे सीखा अवश्य जा सकता है, यदि नई पीढ़ी सीखना चाहे तो। समय बदला है पर छल, लोभ, मोह, कपट, स्वार्थ, अंधकार अभी भी कम नहीं है। रोज नित नयी-नयी महाभारत की पृष्ठभूमि बनती रहती है। हमें हर पल सतर्क होकर अपनी भूमिका के बारे में निर्णय करना होता है। इतिहास-पुराण के प्रसंग हमारे प्रज्ञा-चक्षु को खोलने में मदद कर सकते हैं।

कवि को भान है कि कभी-कभी जीवन में 'दो मुँहाक्षण' उपस्थित होता है। उसके शब्दों में-

''कभी-कभी कालचक्र के प्रवाह में
उभरता है दो मुँह वाला क्षण
बरसाता है जो एक साथ
विष और अमृत'' [7]

कवि की मंशा है कि मनुष्य ऐसे क्षणों को पारखी नजर से पहचाने। कभी-कभी अमृत पाने के लिए विष का पान करना पड़ता है। इससे घबराना नहीं चाहिए। सोने की तरह और चमक के साथ आग से बाहर निकलकर चमकना चाहिए। ऐसे क्षणों की महत्ता रेखांकित करते हुए कवि कहता है-

''ऐसे क्षणों की व्याख्या है रामायण
ऐसे ही अवसरों की कथा है महाभारत
और ऐसे कालचक्र के क्षण में
सिरजा गया था गीता का अमर ज्ञान।'' [8]

क्षण के निर्णय महत्वपूर्ण हैं और इसमें सर्वाधिक जरूरी है सत्य का साथ देना। 'सत्य की पक्षधरता' कवि की वाणी का मूल है। कवि विषम से विषम परिस्थिति में भी सत्य का साथ नहीं छोड़ना चाहता। सत्य के प्रति उसकी अटूट आस्था है, दृढ़ विश्वास है। सत्य के प्रति उसकी पक्षधरता अडिग है। 'सत्य' उसे कितना प्रिय है, इसका अन्दाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसने दस से अधिक कविताएँ 'सत्य' पर लिखी हैं। कविताओं के शीर्षक पर नजर डालिए'- 'सत्य का स्वर', 'सत्य के घरौंदे, 'सत्य और सत्ता', 'सत्य का पक्षधर', सर्वग्राही सत्य', 'सत्ता और सत्य', 'सत्य का रक्षक', 'सत्य का परीक्षक', 'सत्याग्रह बनाम सत्ताग्रह' आदि। सत्य के प्रति कवि का दृढ़ विश्वास देखिए-

''अमर है सत्य का स्वर
अविनाशी है इसका मर्म
उसे तुम मार नहीं सकते
बस केवल कुछ क्षण भर कर सकते हो मौन।'' [9]

एक दूसरी कविता में वह सत्य की अमरता एवं कालव्यापी शक्ति का बखान करता है-

''मार तो सकते हो उसे पर
पाताल व्यापी उसकी जड़ों का क्या करोगे?
क्या करोगे उसकी फूलती अमर बेल का?
वह उगेगी जरूर उगेगी
एक न एक दिन
और करेगी भस्म अपराधी को
आज नहीं तो कल
कल नहीं तो परसों।'' [10]

सत्य के प्रति कवि का दृढ़ विश्वास है। सत्य का पक्षधर कुछ भी नहीं देखता। वह अमीर-गरीब, राजा-रंक नहीं देखता। वह सामने मुहबाये काल और विकराल व्याल से भी भयभीत नहीं होता। वह सिर्फ सत्य को देखता है। जोर-जुल्म से उसकी वाणी का कुछ देर के लिए दमन किया जा सकता है लेकिन उसे समाप्त नहीं किया जा सकता है। कवि का ऐसा विश्वास देखकर अज्ञेय की कविता 'यह दीप अकेला' की पँक्तियाँ याद आती हैं-

''यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा।'' [11]

सत्ता ने जब-जब सत्य को झुकाना चाहा है या झुकाने का प्रयास किया है, सत्य ने सत्ता के घमंड को चूर किया है। कवि ने इसे इतिहास और मिथक के अनेक दृष्टांतों से पुष्ट किया है-

''जब-जब सत्ता ने झुकाना चाहा सत्य को
सत्य निगल गया सत्ता के मद को

X X X X X X

निगल गया चाणक्य घनन्द को।

X X X X X X

द्रौपदी की आह लील गयी दुष्ट दु:शासन को।'' [12]

कवि को सत्य पर चिरंतन विश्वास है। इसलिए वह मानो चेतावनी देते हुए कहता है-

''सत्य को सिंहासन की ओर झुकाना
सत्यवादी का मुँह शक्ति से दबाना
उबलते ज्वालामुखी पर पैबन्द लगाना है।
जलते तवे पर पानी गिराना है।'' [13]

सत्य अत्यन्त ताकतवर है। उसे दबाया नहीं जा सकता, पर सत्य की राह पर चलना आसान नहीं है। सत्य मार्ग पर चलने वाले को, सत्य की रक्षा करने वाले को ममता, मोह, निजता का गला घोटना पड़ता है। सत्य मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान हैं। सत्य मार्ग पर चलने वाले को जीवन में बार-बार परीक्षा देनी पड़ती है। सत्य का परीक्षक बड़ा निर्मम और कठोर है। सत्य के परीक्षार्थी को जीवन में अनेक बार असफलताओं का सामना करना पड़ता है। वह लहुलुहान और धराशायी भी होता है। उसे अथाह दुख झेलना पड़ता है लेकिन सत्य का पुजारी अपने मार्ग से विचलित नहीं होता।

कवि की नजर अपने समाज के इर्द-गिर्द सब ओर है। उसकी चिन्ता के केन्द्र में दीन-दुखी हैं तो मनुष्येतर प्राणी जगत और पर्यावरण भी। उसका संवेदना का फलक व्यापक है। 'सब्जीवाला' शीर्षक कविता बेहद मार्मिक है। सोवा, धनिया, पालक बेच रहे बालक के प्रति कवि की संवेदना देखिए'-

''जीवन का डाल-डाल पानी
सब्जियों में भरता रवानी
फुर्र हो गयी उसका जवानी।'' [14]

'दहशतगर्ती का कहर' शीर्षक कविता में भी एक बालक है जो दहशतगर्दी का शिकार है। बालक कवि की संवेदना के केन्द्र में है, वह बालक जो अबोध है, दुनिया की तिकड़मों से अनजान है और दुनिया का भविष्य है। उसे क्या पता कि इस धरती पर असुरों की हिंसक संस्कृति फैल गयी है। यह बच्चा किसी खास क्षेत्र का नहीं है।

''यह बच्चा न केवल कश्मीर का है
न केवल अफगानिस्तान और इराक का है''[15]

कवि चेतावनी देना नहीं भूलता कि यही हाल रहा तो यह दहशतगर्दी पूरे विश्व में फैल जायेगी। हम अब भी नहीं चेते तो समय हमारे हाथ से निकल जायेगा।

कवि को चिन्ता है कि 'बेड़ा कैसे पार हो?' हम नानक की वाणी को भूल गये हैं रामायण की गूँज लुप्त हो रही है, कुरान की आयतें गुम हो गयीं, ईसा की वाणी खो गयी, इतना ही नहीं-

''जातिधर्म की दीवारें हैं
घेर रही इस देश को
बेड़ा कैसे पार हो?'' [16]

वस्तुत: समूचे काव्य में कवि ऐसी ही चिन्ताओं से ग्रस्त है। उसकी ये चिन्ताएँ व्यक्तिगत नहीं बल्कि मानव-समाज और विश्व के कल्याण से जुड़ी हैं। कविता में उसका धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील दृष्टिकोण साफ दिखाई देता है।

कवि को यह भी चिन्ता है कि त्रेता में तो एक ही दशानन था और आज दशानन नहीं बल्कि शतानन हैं वह भी एक नहीं हजारों। उसके शब्दों में देखिए'-

''त्रेता में था एक दशानन
पर आज हैं हजारों शतानन
दो मुँहा, तीन मुँहा और
चार-चार मुँहा वाला तो
होना आज आम बात है।'' [17]

अब वह शायर पीछे छूट गया जिसने लिखा था- 'हर चेहरे में होते हैं दस-बीस आदमी। जिसको भी देखना कई बार देखना।'- शताननों की बढ़ती संख्या हमारे समय को और जटिल तथा विकराल बना रही है। मानवीय गुणों से विश्वास उठता जा रहा है। हम बेहद विकट दौर से गुजर रहे हैं। रास्ता क्या है? यह समझमें नहीं आता।

स्थिति और विचित्र हो गयी है। आज तो सबने पाला बदल लिया है। कौन सही, कौन गलत, कौन किसके साथ, किसके साथ जाया जाये, सब उलट-पुलट गया है। ऐसी विकट स्थिति को कवि ने 'चुनाव क्षेत्रे' कविता में बेहद मार्मिकता और वेधकता से प्रदर्शित किया है-

''चुनाव-क्षेत्रे है, खड़ा जनतंत्र का रथ
है पार्थ रण बीच पूछता अब
कहाँ हैं कृष्ण? किस ओर उनकी टेर है?

X X X X X X

मिल गया घटोत्कच कर्ण से
पार्श्व में है भीम, दुर्योधन के खड़े

X X X X X X

द्रौपदी नहीं गयी वनवास संग
बन गयी द्यूतगृह की रागिनी वह।'' [18]

अर्जुन रूपी आधुनिक मनुष्य की हालत विचित्र है कि वह प्रतिपक्ष से कैसे लड़े जब उसके बन्धु-बान्धव ही नये-नये दाँवों से उसे कमजोर कर रहे हों। 'चुनाव क्षेत्रे' कविता कथ्य और

शिल्प दोनों स्तरों पर कवि की श्रेष्ठाम कविताओं में से एक है। इसी तरह 'युगान्तर' कविता बेहद प्रतीकात्मक ढंग से युग-सत्य को उद्घाटित करती है-

''मक्खन लगाना और उसे खिलाना
मात्र क्रियान्तर ही नहीं अपितु युगान्तर है।''

X X X X X X

माखनचोर को माखन खिलाना
मक्खनलाल को मस्का लगाना
मात्र क्रियान्तर ही नहीं युगान्तर है।'' [19]

हमारे देश में ही कभी माखनचोर को हमने भगवान माना लेकिन भावना दूसरी थी। हमने माखनचोर को मक्खन खिलाया लेकिन वह सकारात्मक, रागात्मक भाव था। आज मक्खन भी बदनाम हो गया है। भ्रष्टाचार, घूसखोरी की दुनिया में चापलूसी एक धंधा बन गया है। मक्खन लगाना घृणास्पद-नकारात्मक कर्म हो गया है। वास्तव में यह क्रियान्तर नहीं युगान्तर है।

एक तरफ कवि को दीन-हीन समाज की चिन्ता है, दूसरी तरफ कवि यह भी जानता है कि पेट की आग ही सब कुछ नहीं। उसके आगे भी एक आग होती है जो जरूरी है हर जिन्दा इन्सान को, जीवित जहान को। वह आग ज्ञान की आग है। वह ज्ञान की आग कौन बिखेरेगा, वह भी तब जब सूर्यग्रहण लगा हो। कवि चिन्तित होता है, लेकिन निराश नहीं होता। वह बेहद प्रतीकात्मक ढंग से 'दायाँ कदम' कविता में दो धड़ों या विचारधाराओ में बँटी दुनिया को, व्यक्ति, समाज और देश को अपना दर्द बयाँ करता है। दो खाँचों मे बँटी दुनिया को कवि ने आवयविक सिद्धान्त के उदाहरण के रूप में सांकेतिक ढंग से व्यक्त कर दिया है। दोनों धड़े, दोनों विचारधारायें हमारे दो पैरों की तरह हैं। उनमें संघर्ष और विरोध की जगह समन्वय पर जोर देने से ही दुनिया का कल्याण होगा। लेकिन ज्ञान की यह किरण कौन बिखेरेगा।

कबीर की तरह कवि मनुष्य को स्वयं अपने भीतर झाँकर देखने की नसीहत देता है। हम दूसरों में बुराइयाँ देखते हैं, असत्य में हम अपने भीतर झाँकर नहीं देखते। 'दर्पण और तुम' कविता इस लिहाज से बेहद महत्वपूर्ण ओर यथार्थपरक है-

''मेरे प्यारे दोस्त
तुमने जब भी देखा
दर्पण में दाग ही दाग देखा
तुमने कभी नहीं देखा कि यह दाग
न दर्पण का है न दर्पण वाले का
केवल यही कि यह तेरे दिल में
उफनती जहरीली आग का असर है''[20]

कवि लम्बे समय तक पेशे से विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहा है। अत: उसके अनुभव संसार की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'शिक्षक धर्म' और 'गुरू शिष्य' कविताएँ महत्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। 'शिक्षक धर्म' में शिक्षकों के कर्तव्य निर्वहन का उल्लेख करते हुए कवि लिखता है-

''अग्निधर्मा है शिक्षक धर्म
ज्वालामुखी है शिक्षक कर्म'' [21]

'गुरू-शिष्य' के संबंध में कवि ईमानदारी की तरफदारी करता है। कवि की दृष्टि में गुरू-शिष्य दोनों में से जो भी ईमानदारी का पालन नहीं करता उसे उसकी सजा भोगनी पड़ती है। अपने परिचित अंदाज में कवि इसे भी मिथकों के दृष्टांत से पुष्ट करता है-

''जब जब गुरू ने किया घात
एकलव्य जैसे शिष्य से
उसका भी अज्ञानी पशु सा
सर कटता है सरेआम धड़ से।
किया जब शिष्य ने गुरू से धोखा
तो पाया रण में ऐसा फल चोखा
गतिमान रथ चक्र भी फँसा
कीचड़ में सना और गहरा धँसा।'' [22]

जीवन के अनेकानेक अनुभवों में कवि का अनेक प्रशासनिक पदों पर भी रहना हुआ है। अनुभवजन्य यथार्थ प्रामाणिक होते हैं। इस दृष्टि से कवि की दो अन्य कविताएँ महत्वपूर्ण हैं- 'पद का मद' और 'कुर्सी की लपट'। कविताएँ दो हैं लेकिन अनुभव जगत का सत्य एक सा है। 'पद का मद' में कवि कहता है-

''जिसको चढ़ा यह नशा
वह सत्ता के दलदल में
आजीवन रहता है, फँसा।'' [23]

जयशंकर प्रसाद ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'स्कदगुप्त' में लिखा है 'सत्ता का सुख अत्यन्त मादक और सारहीन होता है।' उसी सत्ता सुख की मादकता के साथ उसकी सारहीनता का संकेत करते हुए कवि ने 'कुर्सी की लपट' में लिखा है-

''कुर्सी की लपट ने ग्रस लिया माँ की ममता
पिता का वात्सल्य
भाई-भाई का दुलार
इस लपट से जला
पानी-पानी रटता है, पर
उसमें पानी कहाँ बचता है?'' [24]

पानी में श्लेष की छटा भी दर्शनीय है। कवि ने शिल्प के स्तर पर अनेक जगहों पर इसी तरह की ताजगी का एहसास कराया है। 'डरबन' शीर्षक कविता में विमानयात्रा का चित्रण करते हुए कवि ने बहुत अच्छा रूपक बाँधा है-

''लो कट गया रूई-वसन
दीख रहा घर आँगन
झलक रहा खलिहान खेत
ज्यों गरीब की फटी लुगरी
से झाँक रहा गोरी का तन।'' [25]

रूपक के बीच उत्प्रेक्षा कितनी सहजता से समाहित है। हर कवि के अपने कुछ प्रिय शब्द होते हैं। प्रो० श्रीनिवास की कविता में ऐसे अनेक व्यंजनात्मक शब्द हैं जिनकी बार-बार आवृत्ति हुई है। उदाहरण के लिए 'लपलपाहट' ऐसा ही शब्द है। 'समुद्र मंथन जारी है' शीर्षक कविता में कवि मनुष्य की 'सर्वग्रासिनी लपलपाहट' पर चिन्ता व्यक्त की है-

''कैसी शमित होगी उसकी
सर्वग्रासिनी लपलपाहट
विषपायी कण्ठ कहाँ से लाआगे?'' [26]

अपने समय के, अपने समाज के 'सर्वग्रासिनी लपलपाहट' के धनी लोगों से कवि का सवाल उसकी निर्भीकता और अभिव्यक्ति का खरापन प्रमाणित करता है।

कवि को समूची मानवता की चिन्ता है। उसे अपने पर्यावरण और गाँव की धरती की भी चिन्ता है। भौतिक विकास की आड़ में कवि को चिन्ता है कि कहीं ऐसा न हो कि गाँव बचे ही नहीं। 'गाँव का दर्द' कविता में वह इसे संकेतों में बेहद संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है-

''क्या तुमने जिद ठान ही ली है?
भ्रमरों की रूचि ही बदल डालोगे?
X X X X X X
आश्चर्य नहीं, तुम्हें एक दिन लगने लगे
कि भौरों का गुनगुनाना
ध्वनि प्रदूषण का खजाना है।'' [27]

कवि की यह चिन्ता अपने समय की मूलभूत चिन्ता है और बेहद भयावह है। ऐसी जिदवालों को अपनी दूसरी कविता 'जिद का अन्त' में कवि जवाब भी देता है-

''तो हो जाओ होशियार और सुनो,
हर जिद का एक अन्त होता है,
वह अन्तिम क्षण आ ही गया है।'' [28]

कवि का ऐसा तेवर देखकर श्रीकान्त वर्मा की कविता 'हास्तिनापुर का रिवाज' याद आती है जिसमें वह कहते हैं-

''हास्तिनापुर के निवासियों! होशियार!
हास्तिनापुर में
तुम्हारा एक शत्रु पल रहा है, विचार-
और याद रखो
आजकल महामारी की तरह फैल जाता है
विचार।'' [29]

भौतिक विकास और मनुष्य के लोभ ने पर्यावरण को अपूरणीय क्षति पहुँचा दी है और यह कार्य अनवरत जारी है। कवि की पर्यापरणीय चिन्ता अनेक कविताओं में दिखाई पड़ती है। 'भागीरथी' शीर्षक कविता में वह लिखता है-

''धन पशु है व्यग्र
सारे स्वर्णिम अण्डे को तत्काल निकाल
फोड़ डालने को।'' [30]

व्यथित होकर कवि यहाँ तक कह डालता है कि भगीरथ तुमने क्यों इस गंगा को वसुधा पर उतारा। गंगा की दुर्दशा कवि से देखते नहीं बनती। पीढ़ियों की सोच में परिवर्तन आ गया है। यह पर्यावरण भी प्रभावित हो रहा है। इस भाव को कवि ने 'हक भावी पीढ़ी का' कविता में व्यक्त किया है-

''बाबा ने उगाये बरगद छतनार
पिता ने लगाये पीपल लहरदार
बनायी माँ ने नीम की चउरी दो-चार
कर उनकी उपेक्षा लगाये हमने जगह-जगह
कमाऊँ वृक्ष सदाबहार।'' [31]

प्रेम कविता का अनिवार्य अंग रहा है। यह हर काल के कवियों का प्रिय विषय रहा है। प्राय: हर कवि ने प्रेम पर कुछ न कुछ लिखा है। प्रो० श्रीनिवास की कविता में भी प्रेम अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रिय बनकर उभरा है। 'प्रेम' पर आधारित उनकी अनेक कविताएँ हैं जिनमें 'अधूरा जीवन', 'तुम बिन जीवन', 'प्रेम बिन जीवन', 'तुम्हारी यादों में', 'कस्तूरी प्रेम', 'स्नेह बाती', तेरी-मेरी राह', 'मैं भूल नहीं पाती हूँ', 'प्रेम की दूब', आदि का नाम लिया जा सकता है। 'तुम्हारी यादों में' कविता अपने रूप-विधान के चलते थोड़ी अलग है। कुछ पँक्तियाँ उल्लेखनीय हैं-

''कटा हुआ दिल लिये हाथों में, मैं
तुम्हें पुकारता रहा रात-दिन, दिन-रात
तुम उसे लाल चटक शोख रूमाल समझ
बचातीं रहीं नजर हर पल, हर क्षण

दर्द से थरथराते हुए लाल हाथों को
समझा तुमने गुलाबी रूमालों का हिलना
बहते हुए लाल आँसुओं को तुमने
समझा महज रंगीन खारे पानी का बहना''[32]

'तुम्हारी यादों में' कविता में प्रेम का तेवर अलग है तो 'कस्तूरी प्रेम' कविता में उसका रूपकाभीव्यक्ति अलग। पहली कविता में प्रेम का नूतन जगत है तो 'कस्तूरी प्रेम' में पुरातन अनुभव जगत। कवि को महसूस हो गया है-

''अरे तुम ढूँढ़ने निकले हो प्यार
पर वह तुम्हारे भीतर है।
यदि भीतर ही नहीं है वह
तो बाहरी गंध भी नहीं मिलेगी।'' [33]

'प्रेम की दूब' कवि की अन्य महत्वपूर्ण प्रेम कविता है। इसमें छायावादी रोमानियत है तो प्रगतिवादी स्वाभाविकता और यथार्थपरकता। कुछ पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं-

''तुमने प्रेम की ऐसी दूब उगा दी
जो हर अपमान अवज्ञा पर
नित-नित-नित हरी भरी हो जाती है।'' [34]

कहना न होगा कि इस कविता पर त्रिलोचन की कविता 'परिचय की गाँठ' की छाप परिलक्षित होती है। त्रिलोचन की कविता की पंक्तियाँ देखीए-

''यों ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की वह गाँठ लगा दी''[35]

'वात्सल्य' प्रेम का ही एक रूप है। समकालीन कविता में वात्सल्य पर कविता प्राय: नहीं मिलती। प्रो० श्रीनिवाास ने वात्सल्य भाव पर महत्वपूर्ण कविता लिखी है जिसका शीर्षक है 'अमर वात्सल्य'। यह भाव मनुष्य में ही नहीं जानवरों में भी होता है। भाव संसार ही है जो मनुष्य का मनुष्येतर प्राणियों से भी प्रेम करना सिखाता है। वात्सल्य का यह प्रसरण मनुष्य मात्र में ही नहीं जानवरों में भी है, देखिए'-

''मरे बच्चे को चिपकाये घूमती बन्दरिया
बार-बार चूमती पुचकारती बन्दरिया''[36]

यह कविता नागार्जुन की 'पैने दाँतो वाली' कविता की याद दिला देती है। इस कविता में नागार्जुन की संवेदना मनुष्येतर प्राणी 'सुअर' तक पहुँच गयी है-

''यह भी तो मादरे हिन्द की बेटी है
भरे-पूरे बारह थनों वाली!
लेकिन अभी इस वक्त
छौनों को पिला रही है दूध।'' [37]

इसी तरह प्रो० श्रीनिवास की वात्सल्य केन्द्रित कविता- 'विधाता की नवल सृष्टि' में वर्णित 'तुम्हारी दतुलियों की चमक' अनायास ही नागार्जुन की कविता 'वह दंतुरित मुस्कान' का याद दिला देती है। इस तरह इसमें संदेह नहीं कि कवि की संवेदना का फलक अत्यन्त विस्तृत है। अनेक कविताएँ 'गजलनुमा' लगती हैं। तो कुछ कविताओं की कुछ पंक्तियाँ गजल बनने की क्षमता रखती हैं। ऐसी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

''इक्कीसवीं सदी का चतुर शिकारी
दूर बहुत दूर से जाल लगवाता है
खुद पास आकर नहीं नेपथ्य से
तुमसे ही तुम्हारे बीच चारा फेंकवाता है।'' [38]

x x x x x x

''तुम्हे बेर का स्वाद भा गया है
केले से मन अघा गया है।'' [39]

x x x x x x

''चाहे जुटाओ अपने इर्द-गिर्द मेला
अन्ततः आदमी रहता है निपट अकेला''[40]

x x x x x x

रह सकती है एक म्यान में खड्ग अनेक
इस युग के विकास की है यह नवीन टेक''[41]

x x x x x x

तभी तुम्हारा सुख भी सुख होगा
जब तुम्हें दूसरों का दु:ख दु:ख लगेगा।'' [42]

व्याख्यायित करने की जरूरत नहीं कि कविता की ऐसी पंक्तियों में जीवन-जगत के अनेक अनुभवजन्य यथार्थ छिपे हुए हैं। कवि की संवेदना और विचारधारा स्पष्ट है। वह कहीं भी किसी भी प्रकार की भ्रांति का शिकार नहीं है। उसकी रचना-धर्मिता जितनी इमानदार है, विचारधारा उतनी ही स्पष्ट। एक प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि कवि अपनी कविता का आरंभ करुणा निधान और मंगलकारी राम से करता है लेकिन उसकी कविता का अन्त इस पुकार के साथ होता है कि 'नीलकण्ठ कहाँ हो?' यह सायास है या अनायास? क्या यह केवल काशी-प्रवास का असर है या लोककवि तुलसी के आदर्श समन्वय की विराट चेष्टा का प्रतिफलन। प्रो० श्रीनिवास की कविता में लोककवि तुलसी और आधुनिक कवि अज्ञेय का संयुक्त प्रभाव दिखता है। तुलसी का प्रभाव कवि की समूची दृष्टि में ध्वनित है पर उसे आधुनिक प्रसंगों के अनुकूल गढ़ने में अज्ञेय की दृष्टि महत्वपूर्ण है। यह अनायास नहीं है कि प्रो० श्रीनिवास ने अज्ञेय पर दो कविताएँ लिखी हैं। इस दृष्टि से भी मर्यादापुरूषोत्तम 'राम' से नीलकण्ठ 'शिव' तक की यह यात्रा कवि की वैचारिक यात्रा में

किन्ही परिवर्तनों का संकेत तो नहीं है? यह काशी प्रवास का असर है या युगीन विसंगतियों का दबाव? हमारे जमाने में विष ज्यादा घुल गया है। संभव है कि कवि को लग रहा हो कि अब केवल राम से काम न चलेगा। पहले तो गरलपान करने के लिए, समाज की विषाक्तता को दूर करने के लिए नीलकंठ की तात्कालिक आवश्यकता है। अन्तिम कविता 'नीलकंठ कहाँ हो' मुझे इन कारणों से अत्यंत सांकेतिक, प्रासंगिक और महत्वपूर्ण लगती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. 'शाश्वतपल' श्रीनिवास पाण्डेय, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 2018, पृ०-34
2. वही, पृ०-41
3. वही, पृ०-50
4. वही, पृ०-51
5. वही, पृ०-54
6. वही, पृ०-54
7. वही, पृ०-46
8. वही, पृ०-47
9. वही, पृ०-45
10. वही, पृ०-57
11. छायावदोत्तर' काव्य संग्रह, डॉ. रामनारायण भुवल (सं) संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, 2003, पृ०-05
12. शाश्वतपल ----- पृ०-59
13. वही,-----पृ०-59
14. 'पारस क्षण', श्रीनिवास पाण्डेय, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, 2018, पृ०-23
15. वही, पृ०-16
16. वही, पृ०-18
17. 'शाश्वत पल', पृ०-91
18. 'पारस क्षण', पृ०-27
19. शाश्वतपल,-----पृ०-37
20. 'पारस क्षण', पृ०-101
21. शाश्वतपल,-----पृ०-76
22. वही, पृ०-78
23. पारस क्षण, पृ०-41
24. शाश्वतपल, पृ०-27
25. पारस क्षण, पृ०-66
26. शाश्वतपल,-----पृ०-42
27. पारस क्षण, पृ०-20-21
28. शाश्वतपल,-----पृ०-72
29. छायावादोत्तर, काव्य संग्रह, पृ०-129
30. शाश्वतपल,-----पृ०-22
31. पारस क्षण, पृ०-11
32. वही, पृ०-79
33. वही, पृ०-80
34. वही, पृ०-85
35. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997, पृ०-92
36. पारस क्षण, पृ०-71
37. प्रतिनिधि कविताएँ, नागार्जुन, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 1996, पृ०-80
38. पारस क्षण, पृ०-54
39. वही, पृ०-64
40. वही, पृ०-93
41. वही, पृ०-94
42. शाश्वतपल,-----पृ०-66

●

दीनदयाल हस्तकला संकुल और ब्राण्ड बनारस

डॉ0 सुषमा सिंह एवम् प्रो. मृदुला सिन्हा***

''..... अरे इ का?.....अब्ब?....हमने के अइसे-कइसे फायेदा होई? ....इत्ता दूरे?''[1] माननीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी के संसदीय क्षेत्र वाराणसी में 'बज़रडीहा' बुनकर बहुल क्षेत्रों में से एक है। यह बी0एच0यू0 और डी0एल0डब्ल्यू0[2] मार्ग के लगभग बीचों-बीच 'ब्रिज इन्क्लेव' क्षेत्र के निकट है। प्रधानमंत्री के अक्सर आवाज़ाही के कारण बुनकरों समेत स्थानीय नागरिकों के मध्य यह मार्ग 'पीअऽम रूट' या 'परधानमंतरी क रस्ता' भी कहलाने लगा है। किसी खास परिचित के अनुरोध पर मैं बनारसी साड़ी दिलाने बजरडीहा के ही कुछ परिचित बुनकर-गिरस्ता[3] के घर जाती हूँ। साड़ी लेने के बहाने कई तरह की चर्चा-परिचर्चा सुनाई पड़ जाती है। बुनकर की मेहनत और विविध तरह की परिस्थिति, तंग और फिसलन भरी गली, खुले मेनहोल और उबड़-खबड़ रास्ते, लेकिन आश्चर्य कि अपने ही काम में तल्लीन 'बुनकर' का आम नागरिक का सबसे चुनिंदा मुद्दा 'राजनीति परिचर्चा' पर ही केन्द्रित होती है। ऐसी चर्चा जो बुनकर साथ निरंतर चलायमान 'विविध भारती के फरमाइशी गाने' से भी ज्यादा निर्बाध गति से चलती है। एक तरह की 'अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी' के बाद एक हाथ में लुंगी का टोंका थामे, दूसरे में साड़ी की पेटी दबाए और मुँह में पान घुलाए अपने में व्यस्त और मस्त, सब अपने-अपने काम में सपरिवार जुट जाते हैं।

लेकिन इस बीच लगभग डेढ़-दो साल से एक बात मैंने बार-बार सुनी- बड़ा लालपुर (चांदमारी क्षेत्र) स्थित 'बुनकर व्यापार सुविधा केन्द्र/बुनकर ट्रेड फैसिलिटेशन सेंटर (T.F.C.)' की। मन में आया कि एक बार देख लिया जाय कि आखिर कितनी दूर और कैसा केन्द्र है। चिर-परिचित बनारसी 'ट्रैफिक-जाम' में लगभग डेढ़-पौने दो घंटे का समय लगा। यह वाराणसी कैन्ट से तकरीबन 10कि0मी0 दूर है। लगभग 300 करोड़ की लागत से आठ एकड़ में यह केन्द्र निर्मित हो रहा है। 7 नवम्बर, 2014 को प्रधानमंत्री ने इस केन्द्र का शिलान्यास किया था। 28 नवंबर 2015 को संकुल का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ। 'दीनदयाल हस्तकला संकुल' के नाम से द्वितीय चरण के साथ दिनांक 22 सितम्बर, 2017 को प्रधानमंत्री ने इस केन्द्र का उद्घाटन किया। साथ में उ0प्र0 के राज्यपाल महामहिम श्री रामनाईक, मुख्यमंत्री श्री आदित्यनाथ योगी एवं केन्द्रीय वस्त्र मंत्री माननीया श्रीमती स्मृति इरानी आदि गणमान्य उपस्थित थे। इस अवसर पर केन्द्रीय वस्त्र मंत्री के अनुसार बुनकर और शिल्पी वर्ग की 75 फीसदी मदद केन्द्र सरकार द्वारा वहन की जाएगी। साथ ही कार्य सम्बन्धी मुफ्त टूल-किट वितरण व उपरोक्त वर्ग के बच्चों के लिए ओपन स्कूलिंग आदि योजनाओं की चर्चा की गई।

इस संकुल में कन्वेशन सेंटर (व्यापार सुविधा केन्द्र) के अंतर्गत बेसमेंट, ग्राउंड फ्लोर सहित तीन अतिरिक्त फ्लोर निर्मित किए गए हैं। भूतल पर कार्यालय के अतिरिक्त 11 मार्ट (बाजार), लगभग 200 व्यक्तियों की क्षमता का कन्वेंशन सेंटर, खाने-पीने हेतु फूड कोर्ट, पूछताछ केन्द्र, 14 दूकानें, प्रवेश प्लाजा, लगभग दो हजार लोगों की क्षमता का एम्फी थियेटर, प्रथम तल पर 13 मार्ट, दो एटीएम, दो रेस्तरां, 14 दूकानें, प्रदर्शनी हेतु गैलरियाँ है। द्वितीय तल पर व्यापार केन्द्र, सभागार, व्यापार एवं सूचना का राष्ट्रीय केन्द्र, 4 दूकानें, कार्यालय, पुस्तकालय, रिकार्ड-रूम, चलचित्र हॉल आदि है। तृतीय तल पर 13 कार्यालय तथा व्यापार केन्द्र के अतिरिक्त 18 अतिथिगृह, कॉमन हॉल तथा कार्यालय है। सम्पूर्ण परिसर पूर्णतया वातानुकूलित, लिफ्ट, स्वाचालित सीढ़ियों, पॉवर बैकअप की सुविधा, 100 किलोवॉट क्षमता का सौर ऊर्जा संयंत्र तथा पार्किंग सुविधा से युक्त है।[4] पूरी संरचना निर्माणाधीन है और निरंतर कार्य चल रहे हैं। समय-समय पर यहाँ 'Exhibition-cum-Sale' का भी आयोजन किया जाता है जिसमें विविध शिल्पों के उत्कृष्ट उत्पाद सम्मिलित होते हैं।

उपरोक्त इन सभी में सबसे आकर्षक है- प्रदर्शनी हेतु बनी दीर्घा/गैलरियाँ। भूतल पर एक गैलरी में आकर्षक बनारसी साड़ियाँ प्रदर्शित है जिसमें साड़ियाँ बुने जाने वाले एक करघे के साथ बनारसी साड़ियों के विविध प्रकार जैसे- बनारसी बूटीदार साड़ी, जामदानी, शिकारगाह-जंगला पैटर्नयुक्त साड़ी, स्वर्ण-जरी के काम का चोगा आदि के एक-से-बढ़कर एक नमूनें सुसज्जित है। दीर्घा-पर्यवेक्षक श्री सरजू प्रसाद के अनुसार- ये साड़ियाँ सौ वर्ष से अधिक पुरानी है। भूतल के दूसरी गैलरी में कालीन बुनी जाने वाली एक करघे सहित निर्मित कालीन व दरियाँ प्रदर्शन हेतु रखी गई है। साथ ही गैलरी के छत पर लगे प्रोजेक्टर द्वारा फर्श पर आकर्षक तरीके से कालीन-दरियों की डिजाइन फोकस की जाती है, जो समय-समय पर बदलती रहती है। दरअसल, इस पूरे सेट-अप में एक सेंसर भी लगा है जिससे कि यदि दर्शक फर्श पर प्रोजेक्ट किए डिजाइन पर धीमे कदमों से चले तो उक्त डिजाइन किसी कालीन के समान 'रोल-अप' हो जाती है और उसके स्थान पर दूसरी डिजाइन प्रदर्शित हो जाती है। पहली मंजिल के एक विस्तृत गैलरी में भी

* यू0जी0सी0 पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, टेक्सटाइल डिजाइन प्रभाग-चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** पूर्व संकाय प्रमुख, चित्रकला विभाग, दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बनारसी ब्रोकेड वस्त्र, ग्यासर आदि वस्त्रों के साथ गुलाबी मीनाकारी, लकड़ी के खिलौनें, जरी-जरदोजी, ब्लैक पॉटरी, सॉफ्ट स्टोन अंडरकट कार्विंग, ग्लास बीड्स, चाँदी के बर्तन आदि के एक-से-बढ़कर एक शिल्प के नमूने सुशोभित हैं। इसी गैलरी में संगीत के प्रति समर्पित एक स्थान है जहाँ वाराणसी के प्रसिद्ध संगीत कलाकारों के पोट्रेट-पेंटिंग (व्यक्ति-चित्र) संग वाद्य-यंत्र प्रदर्शित है।

धर्म एवं आध्यात्म का केन्द्र तथा सर्वविद्या की राजधानी वाराणसी मानी जाती है। इसका प्राचीन नाम काशी रहा है जो अब भी प्रचलित है। यह बनारस के नाम से भी जानी जाती है। पुराणों में आनन्दकानन, अविमुक्त, शंकरपुरी, श्रीनगरी, शिवपुरी, मोक्ष-प्रकाशिका, महाश्मशान, आनंदरूपा, तपःस्थली, अपूर्णभावभूमि तथा धर्मक्षेत्र जैसे नामों से भी यह जानी जाती रही है।[5] हथकरघा एवं हस्तशिल्प की प्राचीन परम्परा के कारण काशी क्षेत्र प्राचीन काल से व्यवसायिक केन्द्र के रूप में पूरी दुनिया में विख्यात है। बनारस परिक्षेत्र और आसपास के जिलों की लगभग 15 लाख की आबादी है। इनमें बड़ी संख्या में हथकरघा-हस्तशिल्प की गतिविधियों से महिलाऐं भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई है। यहाँ का लगभग 20 हजार करोड़ का कारोबार है। इन बुनकर-शिल्पियों का अपने हुनर से देश को करोड़ों रू0 विदेशी मुद्रा दिलाने में अहम भूमिका है। ब्राण्ड बनारस के रूप में इन कुल 10 उत्पादों का भौगोलिक स्तर पर जी0आई0 (भौगोलिक संकेतन/Geographical Indication)[6] हो चुका है। इसी के साथ बनारस (और आसपास का क्षेत्र) दुनिया का सर्वाधिक बौद्धिक संपदा अधिकार वाला शहर बन गया है। अभी 1 उत्पाद जी0आई0 के लिए चरणबद्ध है। 10 जी0आई0 वाले उत्पादों के नाम हैं- बनारस ब्रोकेड और साड़ी (G.I. Regd. No. 99), भदोही-मिर्जापुर की कालीन (G.I. Regd. No. 148), वाराणसी ग्लास बीड्स (G.I. Regd. No. 177), गुलाबी मीनाकारी (G.I. Regd. No. 397), मेटल रिपूजी क्राफ्ट (G.I. Regd. No. 398),लकड़ी के खिलौने (G.I. Regd. No. 457),मिर्जापुर की दरी (G.I. Regd. No. 458),निजामाबाद ब्लैक पॉटरी (G.I. Regd. No. 459),गाजीपुर वॉल-हैंगिंग (G.I. Regd. No. 555),तथा सॉफ्ट स्टोन भंडर कटवर्क (G.I. Regd. No. 556). जी.आई. के लिए चरणबद्ध 1 उत्पाद हैं- चुनार बलुआ पत्थर मूर्तिशिल्प।

दरअसल प्राचीन काल से ही हथकरघा-हस्तशिल्प बनारस की बौद्धिक संपदा रही है, वर्तमान में केवल 'उस वैभव-पराकाष्ठा' के प्रति लोगों को जागरूक किया जा रहा है कि लोग अपनी विरासत, उसके महत्व को जानें-अपनाऐं। ये उत्पाद न केवल 'पर्यावरणानुकूल' हैं बल्कि इससे जुड़े शिल्पियों-कारीगरों को आय का साधन मुहैया कराती है। 15वीं शताब्दी में बुनकर और कवि संत कबीरदास की 'श्रम-साधना' ने 'बुनकारी' को एक वैश्विक पहचान दी, मुगलकाल में कला-शिल्प चरम पर रही, वहीं 20वीं शताब्दी में महात्मा गाँधी ने अपने पूर्व के 200-250 वर्षों के समय में नष्ट हुई कला-शिल्प के पुनरूद्धार हेतु अभूतपूर्व-अथाह प्रयत्न किया। इस दिशा में उनके सभी सहयोगियों विशेषकर श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय एवं श्रीमती पुपुल जयकर[7] का महती योगदान रहा।

वैश्विक तौर पर व्यापार के द्वार खुल जाने से भौगोलिक संकेतक आवश्यक माना जा रहा है। इसके अनुसार पंजीकृत देशों के एक देश के उत्पाद का दूसरे देश में आयात-निर्यात सुगम हो गया है। इस पंजीकरण से किसी भी देश/प्रांत/जिले के उत्पाद या बौद्धिक संपदा की पहचान की मौलिकता भी बनी रहती है। इन रजिस्टर्ड जी0आई0 उत्पादों के विवरण संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार से हैं-

1. **हथकरघा हस्तशिल्प-** वाराणसी के सभी जी0आई0 उत्पादों में यह सबसे वृहदतर ढाँचा है। इससे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से 6 लाख लोग संलग्न हैं। बनारसी रेशम-जरी की साड़ी और उससे जुड़ा ब्रोकेड उत्पाद इसके अंतर्गत आता है। वाराणसी के रेशम-जरी के बुने वस्त्र को अंग्रेजी में एवं सामान्य तौर पर 'बनारसी ब्रोकेड' वस्त्र के रूप में जाना जाता है। जैकार्ड[8] मशीन के प्रचलन के पूर्व 'जाला' तकनीक द्वारा डिजाइन बनाई जाती थी, जो काफी जटिल और श्रमसाध्य होती थी। जैकार्ड की तकनीक का इस क्षेत्र के विकास में अहम भूमिका रही है। इस कला के माध्यम से लगभग 1500-2000 करोड़ रूपये का सलाना कारोबार है।[9]

दरअसल ब्रोकेड एक तकनीकी शब्द है जो साधारणतः अतिरिक्त बाना या extra supplementary weft होती है। यह अतिरिक्त बाना ही रंग के ताने-बाने के अलावा एक अलग रंग का रेशम का धागा या जरी भी हो सकती है और वह अमुक वस्त्र किसी भी स्थान विशेष से सम्बन्धित हो सकती है। प्रायः बनारस में सुनहली ज़री का अधिक काम डिजाइन में किया जाता है, अतः ब्रोकेड शब्द को बनारस से जोड़कर 'बनारस ब्रोकेड' शब्द जनसाधारण में प्रचलित है। यह मूलतः लैटिन भाषा का शब्द brocare से बना है जिसका अर्थ है- to prick/चुभोना,[10] जो सुईकारी के काम की ओर संकेत करती है, जिसे loom embroidery भी कहा जाता है। ब्रोकेड के लिए एक पर्सियन शब्द 'किमखाब' है। किम अर्थात् सोना, खाब अर्थात् बुना हुआ, संयुक्त रूप से अर्थ है- सोने से बुना हुआ वस्त्र।[11] हाँलाकि कुछ विद्वानों ने इसे 'कमख्वाब' के रूप में भी परिभाषित किया है- कम अर्थात् थोड़ा, ख्वाब अर्थात् स्वप्न, समग्रतः ऐसा वस्त्र जिसकी तनिक भव्यता की भी कल्पना स्वप्न में भी की न जा सकें।[12]

ऋग्वेद में वर्णन है कि देवगण और मरूतों ने सोने के तार (जरी) से बने वस्त्रों को पहन रखा है और अन्य देवगण अति सुंदर, वैभवशाली आकृतियुक्त हिरण्य वस्त्र/हिरण्यात/हिरण्यद्रापि पहनकर अपने-अपने रथों में बैठकर जा रहे हैं।[13] पाली साहित्य 'त्रिपिटक जातक एवं निकाय ग्रंथों' में काशी के बने वस्त्रों को 'काशीकुत्तम' और कहीं-कहीं 'कासीय' कहा है। काशी के बने वस्त्र इतने प्रसिद्ध थे कि महापरिनिर्वाणसूत्र के टीकाकार 'विहितकप्पास' पर टीका

करते हुए कहते हैं कि बुद्ध के पार्थिव शरीर को बनारस के बने कपड़े से लपेटा गया था। यह इतना महीन और गँठीला बुना गया था कि तेल तक नहीं सोख सकता था।

कढुवा और फेंकुवा[14] तकनीक से निर्मित बूटीदार जाल, जंगला, जामदानी, ग्यासर, तनछुई[15] आदि आधारित साड़ी, सूट-पीस, थान, फर्निशिंग, ऐसेसरीज (पर्स, जूते आदि) हेतु उत्कृष्ट उत्पाद बनारस में बनाए जाते हैं। छाहीं-सारनाथ के श्री बच्चेलाल मौर्य कबीर पुरस्कार प्राप्त बुनकर हैं, जो अपने बुने दुपट्टे में कविता, श्लोक व चित्र बनाने में सिद्धस्त माने जाते हैं। 'झीनी-झीनी-झीनी बिनी चदरिया' लिखा दुपट्टा और 'वैष्णवजन तो तेने कहिए' संग चरखा चलाते गाँधीजी चित्रांकित दुपट्टा इनकी उत्कृष्ट कृति है। पीली कोठी के मो0 शाहिद जुनैद (कढुवा बनारसी बूटीदार साड़ी के लिए) एवं छित्तनपुरा के मो0 मकबूल आलम अंसारी (बनारसी कढुवा जंगला साड़ी के लिए) वर्ष 2015 के राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त बुनकर हैं। द्वितीय राष्ट्रीय हथकरघा दिवस के उपलक्ष्य समारोह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्वतंत्रता भवन सभागार में केन्द्रीय वस्त्र मंत्री द्वारा इन्हें पुरस्कृत किया गया। स्थानीय निवासी एवं बनारस ब्रोकेड के डिजाइनर श्रीभाष सुपकार को वर्ष 2016 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। इसी क्षेत्र में इनके पिता श्री जदुनाथ सुपकार वर्ष 1985 में पद्मश्री से सम्मानित किये गये थे।

2. **भदोही की कालीन-** संत रविदास नगर (भदोही) और मिर्जापुर की हैंडनॉटेड (हाथ की बुनी, जिसमें Knot अर्थात् गाँठ लगाकर बुनाई की जाती हैं) कालीन और दरी बनारसी ब्रोकेड की तरह ही विश्वविख्यात है। मुगलकाल से ही ये दोनों शिल्प लोकप्रिय रहे हैं और पूरी दुनिया में निर्यात की जाती रही है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से लगभग 15 लाख बुनकर इस कला से जुड़े हैं और लगभग 7500 करोड़ रू0 का सालाना कारोबार है।[16] सूती मोटे तागे ताने के रूप में तथा ऊन, काती[17] ऊन और रेशमी धागे बाने के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। ईरान के कालीन की डिजाइनों के अतिरिक्त पोट्रेट (व्यक्ति-चित्र), मंदिर, देवी-देवताओं के चित्र तथा आधुनिक पेंटिंग पर आधारित डिजाइन यहाँ की कालीनों में बुने जाते हैं। मशीननिर्मित कालीनों ने इसके व्यापार पर व्यापक तौर पर नकारात्मक असर डाला है परंतु आधुनिकता के विविध आयाम जैसे-तकनीक, डिजाइन, रंग-केमिकल आदि के बावजूद देश-विदेश में ऐसे कई ग्राहक/संस्थाऐं हैं जो पुरानी डिजाइनों, प्राकृतिक रंगों, हाथ की बुनी कालीनों विशेषकर महिला कारीगरों द्वारा बनी कालीनों को ज्यादा तरज़ीह देते हैं। उनकी ऐसी मान्यता है कि ऐसा करकर वे इस कला-संरक्षण में सहयोग करते हैं, जो एक सराहनीय पहल है। कपसेठी, भदोही के मो0 करीम इस क्षेत्र में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है।

3. **काष्ठ के खिलौनें-** आज सस्ते-महंगे प्लास्टिक के खिलौनों की आसानी से पहुँच हो गई है लेकिन करीब दो दशक पूर्व तक इसका इतना विस्तार ना था जितना कि वर्तमान में बढ़ता ही जा रहा है। इन खिलौनों से पूर्व मिट्टी और लकड़ी के खिलौनें ही प्रसिद्ध थे। पर्यावरणानुकूल, शिक्षाप्रद होने के साथ ही साथ ये छोटे-बड़े आकार के खिलौनें और काष्ठनिर्मित देव प्रतिमाऐं घर में शोभायमान होती थीं। परम्परागत तौर पर ये खिलौनें विशेष प्रकार की जंगली लकड़ी 'कोरेया' से बनती है। कारण- इस लकड़ी को काटकर मनचाहा आकार देने में सुविधा होती है। फिर इन पर विविध रंगों से रंगाई, ततपश्चात् बाह्य रेखांकन कर, फिर पॉलिश की एक तह लगाई जाती है। बनारस में लगभग 3 हजार परिवार इस व्यवसाय से जुड़े हैं। खोजवां, काश्मीरीगंज, बड़ागाँव, लक्सा, दारानगर क्षेत्र इस कार्य हेतु विशेष प्रसिद्ध हैं। अन्य उत्पादों की तरह यह शिल्प भी देश-विदेश में निर्यात की जाती रही है। मूर्तियाँ, खिलौनों के अतिरिक्त यहाँ की निर्मित Wall & Door-Hanging, सिन्दूरा आदि काफी प्रसिद्ध है।

गढ़कर, खरादकर (खराद मशीन पर) और इन दो विधियों का सम्मिश्रण करकर भी बनारस में लकड़ी के खिलौनें बनाई जाती है। गढ़कर अर्थात् लकड़ी को काट-छाँटकर तत्पश्चात् खोदाई कर मनोवांछित आकार गढ़ी जाती हैं। खराद पर प्रायः गोलाकर आकृति वाले सामान/खिलौनें बनाई जाती है। सिन्दूरा, लट्टू, लैम्प शेड इस विधि द्वारा बनाई जाती है। आमतौर पर गढ़ाई वाली कृतियाँ हाथ से रंगे जाने वाले पेन्ट से रंगी जाती है। खरादी कृतियाँ को खराद मशीन पर ही 'लाख/चपड़ा' की छोटी शलाकाओं (sticks) से स्पर्श कराकर रंगी जाती है। मशीन पर गर्म होकर ये लाख पिघलकर अमुक कृति पर लगती चली जाती है। बाद में इन पर चमक हेतु वार्निश की एक लेप लगाई जाती है।

कश्मीरीगंज, खोजवाँ निवासी श्री रामखेलावन सिंह कुंदेर राज्य पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है।

4. **गुलाबी मीनाकारी-** राजा-महाराजाओं के समय से ही छत्र, मुकुट और रत्न-जड़ित आभूषणों को हम सभी विभिन्न संग्रहालयों और चलचित्र आदि के माध्यम से देखते हैं। इन साज-सज्जा के सामग्रियों में एक तथ्य गौर करनेवाली है। वो है- इनमें बड़े करीने से तराशी गयी इन सामग्रियों को रंगना और विभिन्न रत्नों, मणि-माणिक्यों से जड़ना है, जिसमें असीम धैर्य व दक्षता की जरूरत होती है। सोने-चाँदी के आभूषणों के साथ अन्य सजावटी सामानों पर भी गुलाबी रंग चढ़ाया जाता है। बनारस में रंग चढ़ाने की इस खास परम्परा को 'गुलाबी मीनाकारी' के नाम से जाना जाता है। लगभग 300 कारीगर इस परम्परा को सहेजे हुए हैं। वस्तुतः मीना कांच के टुकड़ें होते हैं, जिसके पाउडर का प्रयोग 'मीना भरने' में किया जाता है। सबसे पहले सोने/चांदी के चादर में डिजाइन गढ़ी जाती है, फिर मीना भरी जाती है। भराई के बाद इच्छित रंग/शेड हेतु इन मीना को महीन ब्रश से रंगा जाता है। इस शिल्प-प्रोत्साहन के दिशा में सरकार द्वारा रथायात्रा-बनारस में Indian Institute of Jem & Jwellery (I.I.J.J.) नामक संस्था को आरम्भ करने पर

कार्य किया जा रहा है, जिसमें विद्यार्थी 'गुलाबी मीनाकारी' कला से सम्बन्धित सर्टिफिकेट/डिप्लोमा कोर्स से लाभान्वित होंगे।

गायघाट निवासी श्री कुंजबिहारी सिंह वर्ष 2016 में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है। ब्रह्मघाट स्थित 'वरूण सिल्वर हैंडीक्राफ्ट्स' के श्री बलराम दास 1991-1992 राज्य पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है।

5. मिर्जापुर की पंजा दरी- इस दरी के बुनने में बाने के धागों के ठोंकाई हेतु एक विशेष औजार 'पंजा' का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, अतः यह 'पंजा दरी' के नाम से प्रसिद्ध है। मिर्जापुर के अतिरिक्त बनारस और इसके आसपास के क्षेत्र चंदौली, जौनपुर, सोनभद्र, गाजीपुर, इलाहाबाद, कौशांबी हाथ की पंजा दरी के लिए मुगलकाल से ही मशहूर है। इसका स्थान भदोही एवं मिर्जापुर में बनी कालीनों के पश्चात् आता है। लगभग 60 हजार कारीगर इस कार्य में संलग्न हैं और कालीन के साथ संयुक्त रूप से जुड़कर यह लगभग 100 करोड़ के कारोबार में हिस्सेदारी करती है। मिर्जामुराद के श्री प्यारेलाल जी इस क्षेत्र में राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है।

6. मेटल रिपूजी क्राफ्ट- बनारस में तांबा, पीतल, एल्युमिनियम, जर्मन सिल्वर आदि धातुओं में मूर्तियाँ, खिलौनें, गृहोपयोगी व सजावटी वस्तुऐं बनाई जाती हैं। जी0आई0 विशेषज्ञ और H.W.A. (Human Walfare Association) सारनाथ, वाराणसी के अध्यक्ष डॉ0 रजनीकांत के अनुसार-''श्रीकाशी विश्वनाथ दरबार से लेकर स्वर्ण मंदिर और पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर एवं श्रवणबेलागोला में जैन मंदिर का शिखर बनारस की इस खास कला से सजाया-संवारा गया है। पिछले महाकुंभ में संतों के छत्र, सिंहासन, त्रिशूल, हौदें और रथ भी इस कला से सजाए गए। काशीपुरा, नीचीबाग, ठठेरी बाजार, रामघाट, विन्ध्यांचल गली, दशाश्वमेध, सोनारपुरा, हृदयपुर के लगभग 1500 लोग तांबे, पीतल और सोने-चाँदी की सज्जा कार्य से जुड़े हुए हैं। खालने/उभारने की इस कला को ब्रिटिश काल में Repousee Craft नाम दिया गया।'' स्थानीय तौर पर जिस प्रकार बुनकर 'जुलहा (जुलाहा)' के नाम से जाने जाते हैं, इन शिल्पियों को 'कसेरा, ठठेरा' कहा जाता है।

नीचीबाग, वाराणसी के श्री अनिल कसेरा राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है। जनवरी 2018 में इन्हें मुख्यमंत्री-उ0प्र0 द्वारा सम्मानित किया गया।

7. निजामाबाद की ब्लैक पॉटरी- आजमगढ़ के निजामाबाद क्षेत्र की बनी ब्लैक पॉटरी मुगलकाल से ही दुनिया में प्रसिद्ध रही है और वर्तमान में लगभग 500 लोग इस कला के जुड़े हैं। भदोही एवं मिर्जापुर की भांति वाराणसी और आसपास के क्षेत्र के अंतर्गत निजामाबाद की ब्लैक पॉटरी भी आती है। स्थानीय तौर पर इन शिल्पियों को 'कोहार (कुम्हार)' कहा जाता है। शिल्पी कई आकार में पात्र/बर्तन, खिलौनें, देवी-देवताओं की मूर्तियाँ आदि चाक पर बनाते हैं। सुराहीदार लम्बी गर्दन, गोलाकार बड़ी पेंदी, नक्काशी डिजाइन आदि इसकी विशिष्ट पहचान है जो ईरानी शैली से साम्य रखते हैं। यही की स्थानीय मिट्टी एवं दक्षतापूर्वक की गई कारीगरी द्वारा उत्पाद बनायी जाती है। कई चरण में इन कृतियों को विभिन्न तापक्रम पर परंपरागत तरीके की भट्ठी में पकाया जाता है। तकनीकी कुशलता के आधार पर कृतियाँ मूलतः चमकदार सतह वाली काले रंग की होती है। यह चमक इस कार्य में प्रयुक्त होने वाली 'काबिज़' के लेप के कारण होती है। काबिज़ बनाने में प्रयुक्त होनेवाली सामग्रियाँ जैसे चिकनी, बलुई और धान के खेत की मिट्टी, आम के पेड़ की छाल, आडू और बाँस की पत्ती, छोटे आकार के गोल पत्थर, सीप, पानी आदि हैं। आगे की प्रक्रिया हेतु कुछ अन्य सामान जैसे बकरी का मल, उपलें, सरसों तेल, मिट्टी छानने हेतु सूती कपड़ा, रांगा, पारा, शीशा आदि होते हैं। प्रयुक्त होने वाले प्रमुख उपकरण हैं- पारम्परिक एवं विद्युतचालित चाक, पटरा, फावड़ा, पात्रों को ट्रिमिंग/साफ करने हेतु सामान्य उपकरण, लोहे की तार और तीली आदि।

पात्रों को कई चरणों में पकाया जाता है। इन चरणों के बीच सूती कपड़े में सरसों का तेल लगाकर सतह को कपड़े और छोटे गोल पत्थर द्वारा खूब घिसाई कर चिकना और चमकदार बनाया जाता है। फिर इन पात्रों पर नक्काशी का काम किया जाता है। नक्काशी के स्थान को भरने हेतु 2:3 के अनुपात में शीशा और जस्ता लेकर उच्च तापमान पर पकाया जाता है। ठंडा होने पर इस घोल से मिठाइयों पर लगने वाले चाँदी के वर्क जैसा चादर पीटकर बनाया जाता है। फिर इसके साथ बराबर मात्रा में पारा मिलाई जाती है। इस मिश्रण का प्रयोग नक्काशी की भराई के लिए की जाती है। पुनः साफ कर, घिसाई कर, फिर इन पात्रों को पकाया जाता है, जिससे पात्रों पर अद्भुत चमक आ जाती है।[18] देश से ज्यादा विदेश में यहाँ की लगभग 80 प्रतिशत उत्पाद निर्यात हो जाती है। श्री सोहित कुमार प्रजापति, निजामाबाद-आजमगढ़ के राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी है।

8. ग्लास बीड्स- इससे अधिकांशतः फैंसी मोती की माला बनाई जाती है। यह मुख्यतः शीशे की मोती बनाने का काम है। देश के महानगरों, फैशन जगत और विदेश में यह अच्छा-खासा प्रसिद्ध है। इस शिल्प से लगभग 20 हजार लोग जुड़े हुए हैं। कच्चे माल के रूप में शीशे के ब्लॉक्स फिरोजाबाद और आसपास के क्षेत्रों से मंगायी जाती है। फिर इन्हें उच्च तापमान पर पिघला कर, वांछित रंग मिलाकर, पेंसिलनुमा मोटाई में और एक फुट लम्बाई के छड़ के आकार में ढाला जाता है। ऑर्डर के अनुरूप इन छड़ों को कारीगर वांछित आकार के मोती की साइज में छोटे-छोटे ब्लॉक्स में कटिंग कर, निश्चित आकार के सांचे में रख, पुनः भट्ठी में डालकर ढालते व पकाते हैं। इसी दौरान इन पिघले द्रव्य में मांग के अनुरूप और रंग मिलाई जाती है। ठंडा होने के पूर्व इन मोतियों को सांचें के अनुरूप बारीक तारों के समूह के सेट से छेद की जाती

है। तत्पश्चात् इन मोतियों को ग्राइडिंग मशीन में सल्फर पाउडर डालकर पॉलिश की जाती है। सूखने पर पैकिंग की जाती है। अब ये सभी कार्य मशीन आधारित है।

औद्योगिक क्षेत्र-चांदपुर में 'बनारस बीड्स लिमिटेड' इस कार्य हेतु एक प्रसिद्ध फर्म है। यहाँ विविध धातु, लकड़ी, रूद्राक्ष, स्फटिक, मिट्टी आदि की भी अनेक आकार में मोतियाँ बनाई जाती है।

पंजीकरण हेतु तीन कतारबद्ध उत्पाद-

1. **सॉफ्टस्टोन अंडर कटवर्क-** साज-सज्जा हेतु इस शिल्प की विदेश में बहुत मांग है। 'सॉफ्टस्टोन अंडर कटवर्क' से यहाँ अभिप्राय कोमल पत्थर (जैसे-सेलम, जिप्सम, इटली का स्टोन/अलावास्टर आदि) की महीन एवं धैर्यपूर्वक की गई नक्काशी है।[19] 'हाथी के अंदर हाथी, के अंदर हाथी' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। मुगलकालीन पच्चीकारी/नक्काशी से यह कला प्रभावित है, जिसे 'जाली का काम' भी कहा जाता है। सबसे पहले निश्चित आकार (जितनी बड़ी वस्तु बनानी हो) के पत्थर के ब्लॉक में चारकोल/पेंसिल से रेखांकन कर रफ़ कटिंग की जाती है। फिर इन ब्लॉक्स पर कई चरण में महीन कारीगरी कर वांछित आकार को गढ़ा जाता है। अन्य शिल्पों की ही भांति यह समय एवं श्रमसाध्य शिल्प है लेकिन साथ ही इस शिल्प के शिल्पियों को फेफड़े की बीमारी की भी आशंका रहती है क्योंकि महीन नक्काशी के समय पत्थर कटाई से निकलने वाले धूल में पत्थर के बारीक कण भी समावेशित हो जाते हैं।

माना जाता है कि महाराजा बनारस परिवार ने इस कला को प्रोत्साहन दिया। वर्तमान में 'बनारस हैंडीक्राफ्ट स्टोन समिति' इस दिशा में अग्रणी संस्था है। यहाँ के शिल्पी श्री शिवपूजन जायसवाल को 2001 में राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत किया जा चुका है। श्री बच्चे लाल, रामनगर इस क्षेत्र में राज्यस्तरीय पुरस्कार प्राप्त शिल्पी हैं। वर्तमान में इस उत्पाद का जी. आई. हो चुका है।

2. **चुनार बलुआ पत्थर मूर्तिशिल्प-** सॉफ्ट-स्टोन के कार्य की भांति यह कार्य भी जोखिम भरा है। चुनार में लाल बलुआ पत्थर से बनने वाले बड़े-छोटे आकार की देवी-देवताओं, महापुरूषों की मूतियाँ तथा रसोई के उपयोग में आने वाले सामान जैसे- बट्टा, चौका, दरैती (आटा-चक्की) आदि बनाए जाते हैं। सॉफ्ट स्टोन वर्क की भांति निश्चित आकार के पत्थर के ब्लॉक में रफ़ कटिंग की जाती है, फिर वांछित आकार को गढ़ा जाता है। तत्पश्चात भली-भांति साफ कर पॉलिश और कदाचित् विशेष प्रभाव देने हेतु किसी खास जगह जैसे- आँख, ओंठ आदि पर रंगाई भी की जाती है। प्रायः गढ़ाई का काम पुरूष कारीगर तथा सफाई-पॉलिश-रंगाई का काम महिलाऐं करती हैं। हथौड़ी, कई आकार की छेनियाँ, पॉलिश हेतु पत्थर की छोटी बट्टियां, माप लेने हेतु इंच टेप एवं 'प्रकार (Divider)' आदि इस कार्य में काम आने वाले प्रमुख औजार हैं। इस क्षेत्र में घुरहूपुर, सारनाथ के श्री बबलू राजभर एक अग्रणी शिल्पी हैं।

3. **गाजीपुर वॉल हैंगिग-** DIC गाजीपुर[20] के अनुसार करीब 556 परिवार इस कार्य से जुड़े हैं। इनके द्वारा जूट, सुतली और रंगीन रेशमी धागे व दफ्ती से छोटे-बड़े आकार के वॉल हैंगिंग बनाए जाते हैं। जूट, सुतली से जहाँ एक तरफ कैलेंडरनुमा कृतियाँ, शो-पीस बनाई जाती है, वहीं दूसरी तरफ कालीन की भांति छोटे-छोटे हैंगिंग, पावदान आदि भी निर्मित की जाती है। सैदपुर, गाजीपुर स्थित 'मो. इजयारल हैंडीक्राफ्ट्स' इस दिशा में एक अग्रणी संस्था है। वर्तमान में इस उत्पाद का जी. आई. हो चुका है।

उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य शिल्प निम्नलिखित हैं, जिनके लिए भी खासतौर पर बनारस जाना जाता है और कई हजार परिवारों का इन कला-शिल्प द्वारा निर्वाहन होता है-

1. **हैंड प्रिंटिग एवं पेंटिंग-** हैंड प्रिंटिंग में लकड़ी के बने ठप्पों पर इच्छित रंग का गाढ़ा घोल लगाकर छपाई की जाती है, जिसे आमतौर पर 'ब्लॉक प्रिंटिंग' के नाम से जाना जाता है। ब्लॉकमेकर चांदपुर, वाराणसी के श्री राजेश कुमार के अनुसार- ये ठप्पें सागौन या टीक की लकड़ी से बनाए जाते हैं। इन लकड़ियों को कारखाने पर विशेष ऑर्डर देने पर ही चौड़ाई में, बड़े 'गिट्टक' के रूप में काटी जाती है क्योंकि जरूरत के अनुसार चौड़ाई वाले इन टुकड़ों पर 1X1'' से लेकर 6X6'' तक के डिजाइन की नक्काशी की जाती है। इससे बड़ी ब्लॉक का चलन प्रायः नहीं है क्योंकि 6X6 भी भारी ब्लॉक होती है और पूरे वस्त्र में उस अमुक पैटर्न को छापने में अधिक श्रम लगता है। किसी खास ऑर्डर पर ही इससे बड़ी ब्लॉक काटी जाती है। ब्लॉक की कटाई के दौरान 'ब्लॉक मेकर्स' इन ब्लॉक की सादे कागज पर छाप लेता रहता है कि ब्लॉक ठीक से कटी है या नहीं। डिजाइन में वांछित एक से अधिक रंग हेतु अलग-अलग ब्लॉक बनाई जाती है। वर्तमान में 6X6'' ब्लॉक की कीमत 600-650/- है। दो रंग का सेट होने पर कीमत 1100/- के आसपास होती है। कीमत में डिजाइन की अहम भूमिका होती है।

ब्लॉक के प्रयोग करने हेतु उसमें मूठिया लगाई जाती है। नया ब्लॉक प्रयोग करने से पूर्व ब्लॉक्स सरसों/अलसी के तेल में एक-दो दिन के लिए डूबोकर रखना पड़ता है जिससे कि कई महीनों बाद भी लकड़ी फैल या सिकुड़ ना सकें, जिससे कि डिजाइन प्रभावित न हो। केवल डिजाइन वाले हिस्से से एक इंच ऊपर तक डुबा रहना पर्याप्त है। छापने के हर स्तर के पूर्व भली-भांति धो-पोंछकर ये ब्लॉक काम में लाए जाते हैं।

सुंदरपुर निवासी श्री महेश कुमार 'सुमन' शिल्प गुरू प्राप्त कलाकार हैं।

2. **जरी-जरदोजी का काम-** पारसी शब्द 'जर' अर्थात् सोना और 'दोज़ी' अर्थात् कढ़ाई का काम होता है। संयुक्त रूप से इन

दोनों शब्दों से 'जरदोज़ी' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ।[21] इसके तहत 'Awl' या क्रोशिया कढ़ाई जैसी सुई से सुनहले-रूपहले (जिन्हें सोना-रूपा कहा जाता है) जरी के धागों से बेल-बूटे, पशु-पक्षी आदि काढ़े जाते है। धागे के अतिरिक्त विभिन्न आकार की मोतियाँ, सलमा-सितारें, चमकदार पत्थर आदि टाँके जाते हैं। यह काम हमेशा से रेशम और वेलवेट के कपड़े पर अधिक किया जाता है। इसके दो प्रकार हैं- भारी काम जरदोज़ी कहलाती है और हल्का काम 'कामदानी' कहलाती है। जिस कपड़े पर कार्य करना हो उसको लकड़ी के फ्रेम पर सुई-धागे से कसी जाती है। यह फ्रेम 'अड्डा' कहलाता है। वांछित डिजाइन को ट्रेसिंग पेपर पर बनाकर सुई से छिद्र की जाती है। फिर इस पेपर को नील और मिट्टी की तेल की सहायता से जिस कपड़े पर डिजाइन काढ़नी हो, उस पर छाप ली जाती है।

साड़ी, लहंगा, वॉल-हैंगिंग आदि के अतिरिक्त ये ज़रदोज शिल्पी देवी-देवताओं के लिए बनने वाले मुकुटों, कोट पर लगाई जाने वाली ब्रूच (Brooch), स्कूल-कंपनी के चिह्न (Logo) भी बनाते हैं, जो प्रायः सूती वस्त्र पर बनाई जाती है।

मछोदरी स्थित 'रजा हैंडीक्राफ्ट्स' इस दिशा में एक अग्रणी संस्था है।

3. **मूंज-बाँस एवं जूट-क्राफ्ट-** बनारस एवं आसपास के क्षेत्र जैसे सैदपुर, भदोही, मिर्जापुर के गाँवों में यह कला विकसित है। लगभग 3 हजार परिवार इस शिल्प से जुड़े हैं जिनमें महिलाओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ बेना (पंखा), टोकरें, डलिया, सूप, मोढ़ा आदि बनायी जाती है। विशेषकर तीज-त्यौहार, शादी-विवाह के अवसर पर गाँवों में बनने वाली इस कला की भी पहुँच विदेशों तक है। इस शिल्प द्वारा निर्मित 'वॉल-हैंगिंग' एक अलग ही प्रभाव देती है। इसके अतिरिक्त ये कारीगर शादी-विवाह के अवसर पर उपयोग में लाए जाने वाले कुछ विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण भी करते हैं जैसे- लकड़ी का पीढ़ा, ओखल-मूसल तथा सजावटी साफा, मउवर आदि। जूट-क्राफ्ट के क्षेत्र में पहाड़पुर, गाजीपुर के मो0 कैसर जहाँ राज्य पुरस्कार से सम्मानित शिल्पकार हैं।

इन सभी शिल्पों में शिल्पकारों की अथाह मेहनत और तकनीकी दक्षता जुड़ी है। एक तरफ ये शिल्पकार-कारीगर देश की धरोहर-परम्परा को सहेजे हुए हैं, पहचान बनाए हुए हैं, वहीं दूसरी तरफ धनाभाव की समस्या हमेशा इनके आड़े आती हैं। यह किसी क्षेत्र विशेष की समस्या नहीं है बल्कि पूरे देश के बुनकर-शिल्पियों की समस्या है। बुनकर-शिल्पकार की संतान स्वेच्छा से अपने पेशे से जुड़े या नहीं, यह प्रश्न हमेशा अमुक परिवार के सामने आती है। जहाँ तक बनारस की बात है, प्रत्येक वर्ष देश-विदेशों से सैकड़ों-हजारों पर्यटक एवं व्यापारी यहाँ आते हैं। बेशक जी0आई0 प्रावधान एक स्वागतयोग्य कदम है और जी0आई0 संरक्षण के तहत कानून व नियमावलियाँ और उल्लंघन पर सजा का प्रावधान है परंतु तस्वीर का दूसरा रूख यह भी है कि कड़ाई से अनुपालन न हो पाने से जिस अर्थ और प्रयास से यह नियम बनी और जारी हुई परंतु 'उचित क्रियान्वयन के अभाव' से 'जनसाधारण' में इसका कोई अर्थ नहीं है। जनसाधारण की दृष्टि से कहा जाय तो उन्हें ये वस्तुऐं आकर्षित करती हैं और वे जानते हैं कि कई दृष्टि जैसे- सामाजिक-पर्यावरण की दृष्टि से हितकर है परंतु आर्थिक दृष्टि से वे क्रय नहीं करते। हाथ से बनी या मानवीय श्रम पर आधारित होने के कारण 'मूल्य-सापेक्ष प्रश्न' सदैव विद्यमान रहता है (हालांकि कुछ मशीनों का प्रयोग किया जाता है लेकिन केवल 'सहायक के रूप में')। तुलनात्मक रूप से हर कोई 'कम दाम में अधिक' की लालसा रखता है। ये वस्तुयें वहीं व्यक्ति खरीद सकते हैं जो कलाप्रेमी होने के साथ आर्थिक रूप से सुदृढ़ भी हो।

तस्वीर का सबसे बड़ा एक पक्ष यह भी है कि मशीन-निर्मित उत्पाद को हस्तनिर्मित कह बेचा जाना। इस एक गतिविधि पर पुनः 'उचित क्रियान्वयन के अभाव' से इन असल शिल्पी-कारीगरों को बहुत बड़ा आघात पहुँचता है, नहीं तो अनेक राज्यकाल में श्रेष्ठ पद पानेवाले शिल्पी उपेक्षित नहीं होते। वर्ष 2006 से हथकरघा निर्मित उत्पादों के संरक्षण के लिए 'हैंडलूम मार्क' आरम्भ की गई परंतु बाजार-व्यवस्था/कार्य-क्षेत्र पर इसका कोई खास फर्क नगण्य है। मशीन-निर्मित और चीन के नकली-डुप्लीकेट सामान 'असली बनारसी उत्पाद' कहकर बेचे जाते हैं। इस तरह के नुकसान में एक बड़ी भूमिका उन बिचौलियों की भी होती है जो असल मूल्य के लागत के कई गुना अधिक में 'अमुक उत्पाद' को बेचते हैं। व्यापार में लाभ अपनी जगह है परंतु ऐसे में असल मूल्य गौण हो जाती है और उस उत्पाद से जुड़े शिल्पी-कारीगर को वो वाजिब दाम नहीं मिलता जिसका वह हकदार होता है। दूसरी तरफ चीन आयातित डुप्लीकेट सस्ते शिल्प आघात पहुँचाते है। इस स्थिति में किसी एकल को दोष नहीं दिया जा सकता है, प्रत्येक स्तर पर सुधार की गुंजाइश है। ऐसे विषम परिस्थिति में पलायन कर जाने से दिनों-दिन शिल्पकार परिवार कम होते जा रहे हैं।

इसी तरह एक तरफ हैंडलूम/हथकरघा के शिल्पी-कारीगर यह मांग करते हैं कि उन्हें विद्युतचालित/पावरलूम सेक्टर की भांति बिजली और अन्य सुविधाऐं दी जाय। दूसरी तरफ हैंडीक्राफ्ट/हस्तशिल्प सेक्टर के शिल्पी-कारीगर मांग करते हैं कि उन्हें भी बुनकरों विशेषकर हथकरघा क्षेत्र की भांति बुनकर कार्ड, कच्चा माल, सब्सिडी आदि दी जाय। कुल मिलाकर हथकरघा-हस्तशिल्प से जुड़े शिल्पी-कारीगर की मांग है कि उन्हें कम ब्याज पर ऋण, कच्चा माल और डिजाइन बैंक, सस्ती और व्यापक आधार पर बिजली, अमुक क्षेत्र में निर्यात और पर्यटन को बढ़ावा, शिल्पी-कारीगर के बच्चों के लिए समुचित शिक्षा, प्रशिक्षण और छात्रवृत्ति, महिलाओं एवं बालिकाओं हेतु विशेष प्रशिक्षण, उत्पादों का सरकारी विभागों तथा निजी कंपनियों द्वारा खरीदने की अपील व खरीद सम्बन्धित बाध्यता आदि सुविधा मुहैया की जाय।

यह संकुल वर्तमान में कई बड़े आयोजनों का साक्षी बन चुका है, चाहे वो राष्ट्रपति श्री रामनाथ कोविंद द्वारा श्री रामनाईक, राज्यपाल-उत्तर प्रदेश द्वारा लिखित पुस्तक 'चरैवति-चरैवति' का लोकार्पण (दिनांक-26.3.218) का अवसर रहा हो या प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी संग फ्रांस के राष्ट्रपति श्री इमामैनुअल मैक्रां का काशी-दर्शन (दिनांक- 12.3.2018) का अवसर .....

पूर्ण विश्वास है कि आने वाले समय में ब्राण्ड बनारस के प्रति समर्पित 'दीनदयाल हस्तकला संकुल' शिल्पी-कारीगरों के साथ-साथ अनेक कलाप्रेमियों की उम्मीदों पर खरा उतरेगा। आशा है, यह ऐसा 'अवसर' उपलब्ध करायेगा जो शिल्पियों और पर्यटकों दोनों के लिए मुफ़ीद होगी और जहाँ आशा व उम्मीद हो, वहाँ किसी तरह की, कुछ भी दूरियाँ मायने नहीं रखती।

संदर्भ सूची

1. "....अरे ये क्या? .... अब? .... हम लोगों को ऐसे-कैसे फायदा होगा? .... इतना दूर?
2. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी और डीजल लोकोमाटिव वर्क्स, वाराणसी।
3. संस्कृत शब्द 'गृहस्थ' से उद्भव, अंग्रेजी में householder or head of the family, बुनकर की भाषा में एक बुनकर परिवार का मुखिया, जिसके अंतर्गत कुछ बुनकर काम करते हैं, Agrawal, Yashodhara, Silk Brocades, 2004, Roli Books, New Delhi, p.55.
4. अमर उजाला, हिन्दी दैनिक समाचार-पत्र, शनिवार, 23 सितम्बर 2017, वाराणसी, पृ0 6
5. चन्द्रमौली, के0 आनंद कानन काशी, 2012, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, पृ0 39
6. जी0आई0 'बौद्धिक संपदा' या एक प्रकार का संकेतक होता है, जो किसी क्षेत्र/शहर/देश विशेष में निर्मित होनेवाले उत्पादों की पहचान को संरक्षित करती है। संबंधित उत्पादों पर अमुक शिल्प से जुड़े रजिस्टर्ड शिल्पी इन संकेतक का प्रयोग अपने उत्पाद पर लगा सकते हैं। यह संकेतक/चिन्ह विश्व व्यापार संगठन द्वारा जारी किया जाता है, जिसका भारत सदस्य है। यह रजिस्ट्रेशन एण्ड प्रोटेक्शन एक्ट 1999 के अंतर्गत एक कानून है, जो 15 सितम्बर 2003 से प्रभावी हुई। इसके अनुसार- किसी क्षेत्र/शहर/देश विशेष के हुनर को किसी दूसरे क्षेत्र/शहर/देश से उसी स्थान विशेष के नाम से बेचा जाना अपराध है, उदाहरणार्थ- बनारसी साड़ी बनारस की पहचान है। अगर किसी अन्य शहर से उस नाम का दुरूपयोग कर व्यापार किया जा रहा है तो वह गैरकानूनी है और इस पर दो वर्ष की सजा और दो लाख के जुर्माने का प्रावधान है। इस लेख को लिखे जाने तक देश से कुल 295 और बनारस एवं आसपास के परिक्षेत्र (जिसका पंजीकरण बनारस क्षेत्र के अंतर्गत ही किया जाता है) से कुल 10 उत्पाद जी0आई0 रजिस्टर्ड हैं। देश से दार्जिलिंग चाय और बनारस से 'बनारसी साड़ी' पहली जी0 आई0 रजिस्टर्ड उत्पाद है,
   https://en.wikipedia.org/wiki/listofgeographicalindicationinIndia.
7. कमलादेवी चट्टोपाध्याय (3 अप्रैल 1903-29 अक्टूबर 1988), मंगलौर, कर्नाटक; श्रीमती पुपुल जयकर (11 सितम्बर 1915-29 मार्च 1997), इटावा, उ0प्र0।
8. फ्रांस के Mr. Joseph Marie Jaquard द्वारा सन् 1801 में आविष्कृत, जो पेशे से बुनकर और व्यापारी थे। इनके नाम पर मशीन का नामकरण हुआ।
9. 'सबरंग', दैनिक जागरण, हिन्दी दैनिक समाचार-पत्र, सोमवार, 28 अगस्त, 2017 वाराणसी, पृ0 15.
10. Agrawal, Yashodhara, Silk Brocades, 2004, Roli Books, New Delhi, P. 55
11. अग्रवाल, भानु, लेख वाराणसी के हस्तशिल्प उद्योग, स्मारिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कौस्तुभ जयंती वर्ष, फरवरी 1991, पृ06.
12. Agrawal, Yashodhara, Silk Brocades, 2004, Roli Books, New Delhi, p. 26.
13. अग्रवाल, भानु, लेख वाराणसी के हस्तशिल्प उद्योग, स्मारिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, कौस्तुभ जयंती वर्ष, फरवरी 1991, पृ06.
14. वर्तमान में हथकरघे में बुनाई के दौरान जैकार्ड मशीन के द्वारा डिजाइन के धागों को उठाया जाता है। प्रायः बनारसी साड़ी में बुनाई के दौरान नमूनें, धागा भरी ढरकी फेंककर बुनी जाती है। यह फेंकुवा विधि कहलाती है। यदि समस्त तानों की चौड़ाई में 10 बूटियाँ है तो अमुक कपड़े के उल्टी तरफ सभी बूटियों के मध्य फेंके गए बानों के Floats बनते हैं। एक बार ग्राहक द्वारा उस वस्त्र को खरीदे जाने पर उन Floats को कैंची द्वारा काटकर साफ किया जाता है ताकि पहनने में सुविधाजनक हो। वहीं दूसरी तरफ यदि उन 10 बूटियों में से केवल 5 alternative बूटियाँ बुनी जाती है या वस्त्र के दोनों तरफ केवल बॉर्डर ही बुनी जाती है तो बुनकर के द्वारा पतली, एक तरफ से नुकीली डंडी जैसी 'सिरकी' पर लपेटे गए उस अमुक वस्त्र की पृष्ठभूमि से अलग रंग की धागे/जरी द्वारा डिजाइन बुनी जाती है। यह प्रक्रिया बुनकर की भाषा में डिजाइन 'काढ़ना' कहलाती है। कढुवा विधि की अपेक्षा यह विधि श्रम तथा समयसाध्य होती है। तुलनात्मक रूप में समान डिजाइन तथा रंग किंतु विधि परिवर्तन से फेंकुवा विधि से बुने वस्त्र काफी महंगे होते हैं। स्पष्ट है, इससे बुने वस्त्र की उल्टी तरफ Floats नहीं बनते, अतः ऐसे वस्त्र दोनों तरफ से लगभग समान दिखते हैं।
15. जाल, जंगला, जामदानी, ग्यासर, तनछुई आदि बनारस में बनने वाले विभिन्न तकनीक और डिजाइन आधारित वस्त्रों के नाम है। छोटी डिजाइनों को 'बूटी' और बड़ी डिजाइनों को 'बूटा' कहा जाता है। जाल के अंदर बूटियों को सेट कर की गई डिजाइनिंग 'बूटीदार जाल' कहलाती है। विभिन्न छोटी-बड़ी झाड़ीनुमा आकृति से संयोजित कर बनाई गई डिजाइन 'जंगला' कहलाती है। 'जामदानी' सूती ताने पर अपेक्षाकृत मोटी सूत के बाने द्वारा कढुवा विधि से बुना गया वस्त्र है। यह ढाका, प0 बंगाल की परंपरागत वस्त्र है। 'ग्यासर' सुनहले पृष्ठभूमि में रेशमी धागों से बुना वस्त्र है जो बौद्ध धर्म के लोगों के लिए बनाई जाती है। यह बौद्ध मंदिरों में पूजा स्थल में सजावट के रूप में प्रयोग की जाती है। 'तनछुई' साटिन बुनाई तकनीक पर आधारित वस्त्र है जिसमें तकनीकी रूप से बाने का प्रयोग किया जाता है। एक बाना पृष्ठभूमि को और एक डिजाइन को निर्मित करती है (बाने का रंग दो से अधिक रंग का हो सकता है)। साटिन की विशेष बुनावट के कारण वस्त्र का एक तरफ कम चिकना और दूसरी तरफ अधिक चिकना होता है। नामकरण के पीछे एक तकनीकी आधारित अवधारणा है- साटिन की अलग बुनावट से बुने वस्त्र की उल्टी सतह तन को छूती है, अतः इसका नाम 'तनछुई' हुआ। दूसरी धारणा है (दृश्य कला संकाय, बी0एच0यू0 के प्रो0 अंजन चक्रवर्ती के अनुसार)- चीन से 'Choi'

परिवार के तीन बुनकर भाई रेशम व्यापार हेतु बनारस आए थे, जिनमें से एक का नाम 'Tran Choi' था। परवर्ती समय में अप्रभंश से ऐसे वस्त्रों से 'तनछुई' शब्द प्रचलित हुआ, Jaitly, Jaya, Woven Textiles of Varanasi, Niyogi Books, New delhi, p. 104-106

16. 'सबरंग', दैनिक जागरण, हिन्दी दैनिक समाचार-पत्र, सोमवार, 28 अगस्त, 2017 वाराणसी, पृ0 15.

17. बचे हुए अनेक प्रकार के धागे को धुन कर प्राप्त रेशे को ऊन के रेशे के साथ मिश्रित कर कातकर बनाया गया धागा। बिना मिश्रित किए भी ऊनी काती धागे बुनाई में इस्तेमाल किए जाते हैं।

18. ब्रह्मस्वरूप, निजामाबाद के मृण्मय पात्रों की तकनीकी एवं प्रकार, शाश्वत, वर्ष 3, अंक 2, अप्रैल-जून 2016, लुमिनस् बुक्स, वाराणसी, पृ0 81-84.

19. अनम, प्रताप, सॉफ्ट स्टोन शिल्पकला, 2015, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पृ0 51-52.

20. www.dcmsme.gov.in/dips/DIP of Ghazipur 2209x.pdf district Industrial Profile of Ghazipur District, MSME, page 8.

21. Lari, Fatima Tarannum, Textiles of Banaras, 2010, Indica Books, Varanasi, page 53.

●

उत्तर भारतीय संगीत के विकास में पखावज का योगदान

*डॉ0 भीमसेन सरल**

जब हम उत्तर भारतीय संगीत की बात करते हैं तो सर्वप्रथम ध्रुवपद-धमार और उसके हमसफर पखावज की तस्वीर हमारे समक्ष उभरकर आती है। मध्ययुग में ध्रुवपद-धमार जैसी गान-शैलियों का विकास दो रूपों में हुआ, एक राज-दरबार में और दूसरा देवालयों में। इन दोनों ही स्थलों पर पखावज ध्रुवपद-धमार के एक आदर्श हमसफर के रूप में उनके साथ-साथ चलते हुए उनके विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान निभाता रहा है।

मध्यकाल से पूर्व प्रचलित शास्त्रीय संगीत की धारा में प्रबन्ध गान का विशिष्ट स्थान था जिसके आधार पर मध्ययुग में ध्रुवपद-धमार शैलियों का विकास हुआ। उस युग में एक ओर जहाँ राजदरबारों में इन गान-शैलियों का प्रयोग संगीतज्ञों द्वारा राजाओं-नवाबों के मनोरंजन विशेष हेतु हो रहा था तो वहीं दूसरी ओर ब्रज के भू-भाग में अवस्थित देवालयों में ध्रुवपद-धमार को ही भक्तिपरक गीतों तथा कीर्तन आदि के लिए विशिष्ट संगीतात्मक माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा था। गोस्वामी विट्ठल नाथ जी, अष्टछाप के भक्त श्री हरिदास जी महाराज, श्री हित हरिवंश जी, श्री हरिराम व्यास, श्री ध्रुवदास, श्री हरिव्यास, चाचा वृन्दावन दास, श्री नरोत्तमदास आदि अनेकानेक ऐसे भक्त संगीतज्ञ हुए जिनकी दिवावाणी तथा वाणी में निहित रचनाओं की काव्यात्मकता से यह स्पष्ट होता है कि ईश्वर की आराधना हेतु उन्होंने जिन पदों की रचना की उनमें से अधिकांश ध्रुवपद-धमार शैली के लिए वांछित काव्यात्मक छन्दों एवं तद्नुरूप पदात्मक व्यवस्था से युक्त थे।[1]

मध्ययुग में विदेशी आक्रमणों से कुण्ठित जनमानस में भगवद्भक्ति का संचार भरने तथा उनका नैतिक उत्थान करने हेतु वैष्णवाचार्यों ने देवालयों में नित्य अष्टयाम सेवा तथा नैमित्तिक सेवाओं के अवसर पर किये जाने वाले पदगायन में संगीत का ही सहारा लिया। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में भक्ति, संगीत तथा धर्म सदैव एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध रहे हैं। सामगान से प्रवाहित होती हुई परिष्कृत संगीत की धारा ही विशेष रूप से ब्रज के देवालयों में प्रयुक्त भक्ति संगीत का आधार बनी। हमारा शास्त्रीय संगीत अपने आरम्भिक चरणों में देवालयों में ही पल्लवित, पुष्पित और विकसित हुआ। अनेक सन्तों और उनके अनुयाइयों ने अपने प्रभु, अपने इष्ट को पाने के लिए संगीत का ही मार्ग चुना। वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन्होंने मन्दिरों में संगीत को विकसित किया। राजस्थान का श्रीनाथ मन्दिर एक ऐसा प्रमुख केन्द्र है, जहाँ गायन के साथ-साथ पखावज-वादन की भी एक समृद्ध परम्परा विकसित हुई।

ध्रुवपद-धमार में विभिन्न देवी-देवताओं के आराधना के स्वर सन्निहित थे। आदि वाद्य मृदंग की संगत इस गायन-शैली के प्रभाव को शुरू से ही द्विगुणित करती रही है। अयोध्या, मथुरा एवं काशी जैसे धार्मिक केन्द्रों एवं क्षेत्रों में मृदंग से भगवत् कीर्तन, रामलीला एवं रासलीला की संगत प्रदान की जाती रही है।

ध्रुवपद-धमार के आश्रय व विकास स्थल के रूप में प्रसिद्ध ब्रज के देवालयों में पखावज का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भगवत् भक्ति के लिए रचे गये संत-संगीतज्ञ-कवियों के पदों में अनेक स्थलों पर पखावज, मृदंग, मुरज, मर्दल आदि अवनद्ध वाद्यों, इन वाद्यों के पाटाक्षरों, ध्वनि, इनमें बजने वाले अनेक तालों व इनके प्रभावों की चर्चा हमें प्राप्त होती है। वाद्यों के प्रभाव व महत्व को देखते हुए विट्ठलनाथ जी द्वारा कीर्तन में कुछ वाद्य-यन्त्रों का समावेश किया गया था, जैसे- मृदंग, सारंगी, पखावज, वीणा, मंजीरा, झाँझ, डफ आदि।

ब्रज के देवालयों में गाये जाने वाले विभिन्न पदों में मृदंग (पखावज) का उल्लेख इन शब्दों में प्राप्त होता है-

''ताल *मृदंग* बजावत हैं, कीर्तन होत है।''

-'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', पृ॰ 227

इसी प्रकार अन्य पदों में मृदंग और पखावज का उल्लेख कुछ इस तरह प्राप्त होता है-

''परस्पर राग झम्यौ समेत किन्नरी *मृदंग* सुर ताल
तीन हूँ सुरन के तान बंधान, धुर-धुरपद अपार॥''

-'केलिमाल वाणी' पद, 67

मृदंग और मृदंग में बजने वाले विभिन्न बोलों का भी सुन्दर रूप में कुछ पदों में प्रयोग किया गया है, जैसे-

''ग्रि ग्रिदा ग्रिग्रिदा ग्रि ददद्द ददद ददद दद''

-'महावाणी' पद, 139

''बजत मृदंग ताक थुं ग्रदां थुं ग्रदां थ थ''

-वही, पद, 160

---

* पी.जी.टी.-तबला, माउण्ट लिट्रा जी स्कूल, वाराणसी

ब्रज के देवालयों में पल्लवित 'कीर्तन' तथा 'समाजगान' पद्धतियों के अन्तर्गत पदों का गायन परम्परागत रागों में अधिकतर किया जाता है। इन रागों के स्वरूप में किन्चित् परिवर्तन करना धार्मिक दृष्टि से अपराध माना जाता है। जो देवालय संगीत की सुरक्षा हेतु वैष्णव संगीताचार्यों की महत्वपूर्ण देन है। रागों की भाँति मन्दिर संगीत में प्रयुक्त गेय पदों के साथ बजने वाली कुछ तालों का भी प्राचीन स्वरूप आज तक सुरक्षित है, यथा- आड़ा-चौताल (सात मात्रा) तथा सूलताल (पाँच मात्रा) इत्यादि। इन तालों के अतिरिक्त मूलताल, धमार, रूपक, दीपचन्दी, तीनताल आदि तालों का भी प्रयोग किया जाता है। समाजगान तथा कीर्तन पद्धति में संगत करने वाले वाद्यों के अन्तर्गत तानपूरा, वीणा, मृदंग, सारंगी, झाँझ, मंजीरा आदि प्रधान वाद्यों की संगत के साथ-साथ नित्य एवं नैमित्तिक अवसरों पर आवश्यकतानुसार डफ, खड़ताल, खंजरी, डमरू, दुन्दुभि आदि वाद्यों का भी समावेश हो जाता है।[2]

वल्लभ सम्प्रदाय में कीर्तन-गान की परम्परा विलम्बित लय में करने की रही है परन्तु आधुनिक समय में किन्हीं कारणों से मध्यलय का ही प्रयोग अधिक किया जाने लगा। ध्रुवपदों में विभिन्न लयकारियों का भी प्रयोग किया जाता है। कीर्तन में अधिकतर चारताल, आड़ाचौताल, सूलताल, झूमरा, चर्चरी, त्रिवट, रूपक, झंपा, तीनताल और मूलताल का प्रयोग किया जाता है।[3]

श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय में ध्रुवपद की अपेक्षा धमार गेय विद्या को प्रधानता दी गयी है। इस सम्प्रदाय के देवालयों में अधिकतर विलम्बित लय में ही पदों का गान किया जाता है, परन्तु कुछ पदों में इस लय को अन्त तक न ले जाकर छन्दानुसार किसी अन्य ताल में परिवर्तित करने की भी प्रथा है। पदगान अधिकतर धमारताल, मूलताल, धीमा तिताला, रूपक तथा दीपचन्दी ताल में निबद्ध होता है।[4]

हरिदासी सम्प्रदाय सम्बद्ध समाजगान में ध्रुवपद गायकी की प्रधानता है। यहाँ सम्पूर्ण पद को विलम्बित लय में गायन करने के पश्चात् अन्त में अधिकतर द्रुत लय में समाप्त किया जाता है। निम्बार्क सम्प्रदाय तथा गौड़ीय सम्प्रदाय में सर्वप्रथम पदगान विलम्बित लय से प्रारम्भ कर द्रुत लय में ले जाते हैं तत्पश्चात् पुनः विलम्बित लय के माध्यम से पद का समापन किया जाता है। निम्बार्क में धीमा तिताला, रूपक, दीपचन्दी तथा चारताल प्रमुख ताले हैं। गौड़ीय सम्प्रदाय के पदावली कीर्तन में भी एक रचना में एक से अधिक तालों का समावेश होता है। तालों के अन्तर्गत सोमताल, बड़ादाशकुशी, मध्यम दाशकुशी, छोटा दाशकुशी, लोपा, दासप्रिया, झपताल, खेमटा, कन्दर्प आदि प्रमुख तालें हैं जो कीर्तन में प्रयुक्त की जाती हैं। स्पष्ट है कि इन देवालयों में विलम्बित, मध्य तथा द्रुत तीनों प्रकार की लयों का समावेश है।[5]

देवालयों में परम्परागत रूप से गुरूमुख से शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा मौखिक रूप से संगीत को कण्ठस्थ करने की परिपाटी रही है जिससे प्राचीन रागों तथा तालों का वास्तविक स्वरूप देवालयों की निजी धरोहर के रूप में सुरक्षित है।

ब्रज के देवालयों में कालान्तर से पल्लवित रासलीला का भी महत्वपूर्ण स्थान है। श्री राधाकृष्ण तथा गोपियों की रसात्मक लीलाओं का चित्रण संगीत के माध्यम से किया जाता है। वैष्णवों ने रासलीला विषयक सामग्री का आधारस्तम्भ 'श्रीमद्भागवत्' नामक ग्रन्थ (पुराण) तथा जयदेवकृत 'गीतगोविन्द' गीति-काव्य को बनाया। इसके अतिरिक्त कविराज गोस्वामीकृत 'गोविन्द लीलामृत' नामक ग्रन्थ रास परम्परा के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें संगीत के सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में रागों के साथ-साथ विभिन्न वाद्यों जैसे- मुरली, वंशी, करताल, मृदंग, वीणा आदि तथा तालों का भी समावेश है। तालों के अन्तर्गत 34 तालों का वर्णन किया है- चंचपुट, गजलीला, प्रतिमण्ठ, रूपक, सिंहनन्दन, कन्दर्प, त्रिभंगी, एकताल, निप्सारी, अडड़क, षट्पितापुत्रक, चञ्चरत, झम्प, त्रिपुट, यदिनलकूबर, पार्वतीलोचन, बारविक्रम, नुदघट्ट, कुड्दक, कक्लाख, उपाट्ट, राजचूड़ा, दर्पण, रतिलील, राजकोलाकल, शचीप्रिय, रंगविद्याधर, मणिजयप्रिय, बादक, अनुकूल, कंकण, श्रीरंग।[6]

शास्त्रीय संगीत की विशिष्ट गेय विधा ध्रुवपद-धमार शैली का रासलीला में विशेष स्थान है। इसी प्रकार मुरली, डमरू, मृदंग, करताल, सारंगी, वीणा, झाँझ, मंजीरा तथा स्वरमण्डल आदि अनेक वाद्यों का यथा समय प्रयोग किया जाता है। इन रासलीलाओं में संगीत की प्राचीन परिपाटी आज भी जीवित है।

भारतीय संगीत के मूल तत्वों को संरक्षण प्रदान करने में ब्रज के देवालयों का विशेष योगदान रहा है जिसकी आधारशिला है ब्रज के भक्त संगीतज्ञ तथा वे महान् संगीताचार्य जिन्होंने काल परिवर्तन से समय-समय पर शास्त्रीय संगीत पर आधारित वाणियों का गान करके न केवल भक्ति भावना को प्रधानता दी वरन् शास्त्रीय संगीत के विकास तथा प्रचार व प्रसार में भी अपूर्व सहयोग दिया। इन वाणियों में शास्त्रीय संगीत के तीनों अंगों (गायन, वादन, नर्तन), सांगीतिक शब्दावली एवं विभिन्न रागों तथा तालों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है।

उस समय रागों व तालों के शास्त्रीय नियम में बँधकर अपने इष्ट की आराधना की जाती थी। भक्ति-कीर्तन, भजन आदि में राग एवं ताल का बराबर महत्व बना रहता था। यद्यपि विभिन्न वाद्यों की चर्चा इन पदों में प्राप्त होती है तथापि ताल-वाद्य के रूप में प्रमुख प्रतिष्ठा पखावज (मृदंग) की ही रही है। अतः इन भक्त पदों के गायन का प्रचार-प्रसार करते हुए संगीत के विकास में पखावज ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पखावज का यह अपना प्रभाव व योगदान ही है जिसके कारण विभिन्न सन्त कवियों व संगीतज्ञों के पदों में उसका व उस पर बजने वाले मन्त्रमुग्ध पाटाक्षरों तथा ध्वनियों का भूरिशः उल्लेख हुआ है। विभिन्न सन्त कवियों के पदों

में पखावज (मृदंग, मुरज) का उल्लेख व महत्व निम्न रूपों में प्राप्त होता है-

सूरदास के पदों में-

''मुरली नाद *मृदंग* मृदंगी अधर बजावन हारे''

- 'सूरसागर', पद-2384

''डिमडिम पटह ढोल डफ बीना *मृदंग* चंग अरु तार''

-वही, पद-3524

परमानन्ददास के पदों में-

''बाजत ताल *मृदंग* झाँझ डफ मुरली *मुरज* अपंग''

कुम्भनदास के पदों में-

''ताल त्रिवट ततकार चांचर खेल मचाइए
झाँझ बीन *पखावज* किन्नरी डफ *मृदंग* बजहिये''

कृष्णदास के पदों में विभिन्न वाद्यों के उल्लेख के अतिरिक्त मृदंग, तबला आदि के विभिन्न बोलो- ''द्रं द्रं, द्रण णा, धिधिकट, तितिकत, गिडिगिडि, धिधि'' आदि का प्रयोग हुआ है।

नन्ददास के पदों में मृदंग का उल्लेख इस प्रकार हुआ है-

''गावत फाग धमार हरखि भरि हलधर सो सब ग्वाल
मुरली ताल कान्हरौ गावत.....
बाजत बैनु विषान बाँसुरी डफ *मृदंग* अठताल''

छीतस्वामी के पदों में-

''बजत घंटा ताल झालरि संख धुनि
***मृदंग* मुरली विविध नाद सुखकारी''**

गोविन्दस्वामी के पदों में-

''बाजत ताल *पखावज* मुरली दुन्दुभी महुवरि सब्द सुहाई''

आचार्य श्री हितहरवंशजी के पदों में-

''ताल *मृदंग* उपंग *मुरज* डफ मिलि रस सिन्धु बढ़ायौ''
''ताल रबाव *मुरज* डफ बाजत मधुर *मृदंग*''

श्री दामोदरदास (सेवक जी) के पद में-

''रुंज *मृदंग* उपंग धुन्ज डफ झाँझ ताल सुनि''

श्री हरिराम व्यास जी के पदों में-

''ताल रबाव *मुरज* डफ बाजत.....''
बाजत ताल *पखावज* आवज डफ ताल दुन्दुभि ढोल''

ध्रुवदास जी के पद में-

''कोऊ बीना कोऊ सारंगी, कोऊ लिए हुड़क *मृदंग*
एक लिए किन्नरी *मुरज*, एकतार कठतार''

स्वामी हरिदास जी महाराज के समयकाल में कतिपय संगीतज्ञों द्वारा पम्परागत भारतीय वाद्यों में कुछ परिवर्तन किये जा रहे थे परन्तु स्वामी जी ने मृदंग जैसे प्राचीन भारतीय वाद्यों को ही पूर्ण रूप से अपनाया और उनके महत्व का उल्लेख अपने पदों में किया। यथा-

''काहु के हाथ अघौटी, काहु के *मृदंग*, कोऊ गहे तार''

श्री हरिव्यास देवाचार्य निम्बार्क सम्प्रदाय के तेजस्वी आचार्य थे। 'श्री महावाणी' ग्रन्थ इनकी कृति है जिसमें चर्चरी ताल में निबद्ध मृदंग पर बजने वाले कठिन बोलों का उल्लेख प्राप्त होता है, जो इनके कुशल वादक होने का भी परिचायक है, यथा-

''*झीमा जीमां द्रीमां द्रीमां मृदंग* धरैं
चलत *चर्चरी ताल* में घटि बढ़ि होत न रंच''

सूरदास मदनमोहन जिनके स्फुट पद प्राप्त होते हैं। उनके समस्त पद राग-ताल बद्ध मिलते हैं और उनके पदों में मृदंग का भूरिशः उल्लेख प्राप्त होता है, जैसे-

''अतीत अनागत संगीत सुघर
सुर नीके औघट तान मिलावैं
लघु गुरु जाति पुलक भेद *मृदंग* बजावै''

''ताल *मृदंग* उपंग बजावत, डफ आवज सुर एक सजावत''

देवालयों में गाये जाने वाले भक्तगीतों में प्रयुक्त ताल के सम्बन्ध में एक उल्लेख ऐसा भी प्राप्त होता है- ''ताल, अतीत, अनागत व सम के भेद से विहित होते हैं। इन तालों को ग्रह-सहित, समा, गोपुच्छिका व श्रोतोवहा नामक तीन यतियों-सहित एवं निःशब्द व सशब्द दो भेदों-सहित गोपियों ने बजाया। उन्होंने इन्हें वर्धमान तथा हीयमान दोनों आवर्त और मान-सहित बजाया।''[7]

ब्रज के देवालयों में प्रचलित रासलीला के विभिन्न पदों में भी मृदंग (पखावज) के महत्व को स्वीकार करते हुए वर्णन किया गया है, जैसे- श्रीकृष्ण नाचना-गाना सीखना चाहते हैं। सखाओं में तोष नामक गोप संगीत में निपुण है। वह श्रीकृष्ण को गाना सिखाता है-

''सारंगी और बीन *पखावज*, सबहीं मिलाय सुनाबौ॥''

-'गोचारण लीला'

इसी प्रकार,

''ताल धरैं बनिता *मृदंग* चन्द्रा-गति घात बजै थोरी-थोरी।''

-'श्री केलिमाल', पद-105, स्वामी हरिदास

सुन्दर रास-समाज की व्यवस्था के लिए विभिन्न सखियों द्वारा वाद्य विशेष की सेवा का भी इस वर्णन में स्पष्ट संकेत उपलब्ध है-

''बीन बिसाखाजू गहै, चित्रा चित्र *मृदंग*।
साज सितार सुदेबिजू, तुम ललिते मुहचंग।।''

मयूर नृत्य की ही भाँति एक आकर्षक नृत्य दण्डा-वादन-नृत्य के सामूहिक प्रदर्शन के अवसर पर राग भीमपलासी त्रिताल में गेय एक रचना में पखावज के बोल प्रयुक्त हुए हैं, जो इस प्रकार है-

''नाचत मिलि ब्रजबाल लाल संग,
छोम छोम छोम छोम छ न न न न न,
धाकिट धुमकिट तकिट तकाकिट,
कट धुम किट धुम किटतक धा धा,
लेत अलापन प्यारी री।
सुन्दर श्याम निहारौ री।।''

- 'श्री राधाकृष्णलीला प्रसंग', पृ॰24-25

रासनृत्य से सम्बन्धित वल्लभ-सम्प्रदाय में गोविन्दस्वामी का एक पद दर्शनीय है, जिसमें मृदंग बजाने, उसके बोल व झपताल का सुन्दर वर्णन है-

''गिड़ि-गिड़ थुंग-थुंग तिट-किट थुंग,
एक तरन कर सौं भलें *मृदंग* बजावैं।
दूसरे कर चरन सौं कठताल झं झं झं,
***झपताल* में अवधर गति उपजावैं।।''**

गौड़ीय सम्प्रदाय के सूरदास मदनमोहन के लीला-साहित्य में मृदंग का वर्णन इस प्रकार हुआ है-

''सब सखि मिलि नाचत-गावति,
ताल *मृदंग* मिलि बजावति।''

नन्ददास के लीला-साहित्य के पदों में भी मृदंग, मुरज का वर्णन प्राप्त होता है-

''ताल-*मृदंग*-उपंग-रंग एकै सुर जुरली।।
मृदुल *मुरज*-टंकार, तार-झंकार मिली धुनि।''

- 'रासपंचाध्यायी' : पद-21 तथा दोहा 92 नन्ददास

संगीत रत्नाकर आदि ग्रन्थों में मृदंग को मुरज नाम से सम्बोधित किया गया है।

रास-साहित्य में कतिपय ऐसे ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी हुआ है, जिनके निर्माण में वाद्ययन्त्रों की ध्वनन-क्रिया अथवा नृत्य की थिरकन को आधार रूप में स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में झपताल राग देस में गेय श्रीकृष्णदासजी की एक रास-रचना उद्धृत है, जिसमें नृत्य-गति एवं मृदंग की ध्वनि के अनुकरण पर निर्मित शब्दों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है-

''बाजत *मृदंग*, उघटत सुधंग, तक्कु जिन, कु कु जिन
दुमुकिटता, दुमुकिटि दुमुकिटि, धिलांग तक।
द्रग ना द्रग ना ना, द्रगना, दुमुकि
जन जग रट, *तक तक धिन्न दुम दुम दुम।''*

इसी प्रकार श्री हरिवंश जी का एक रास-पद दृष्टव्य है, जिसमें मृदंग-नूपुर की विभिन्न गुंजायमान ध्वनियाँ प्रतिभासित हैं-

''हरि रास रच्यौ चलु देखि री।
बाजत *मृदंग* नृत्तत थ्रिं थ्रिं थ्रिं दिघिन दिघिन ऊनन
ननन नूपुर धुनि बाजै।।
उघटत मुख मोहन *तक थुंङ्त थुंङ्त दिमतदिम*
***दिम दिम तक तक तक* सुन्दर गति राजै।।''**

अनुकरणात्मक शब्दों के आधार पर नृत्यरत 'नवललाल' की विभिन्न मनःस्थितियों, उनके क्रिया-व्यापारों एवं ललिता आदि के उद्बोधनात्मक सन्दर्भों एवं मृदंग के आकर्षक बोलों व श्याम पखावजी द्वारा पखावज बजाये जाने का एक शब्द-चित्र गोस्वामी हितरूपलालजी की वाणी में इस प्रकार मुखरित हुआ है-

''आज नचत नवल लाल साजि साजि झिन्ना।
धिकि धिलाम धिकि धिलाम* बाजत *तकि तकि तकि धिलाम,
नाचत नयनाभिराम धकिट धकिट धिन्ना।।
लचकि लचकि गतिन लेत ठुमुकि ठुमुकि चरन देत,
कर की करताल दैत बदत ठेम ठिन्ना।।
ललिता बदति भूले *श्याम धी धी तकि धी धिलाम,*
प्यारी हित रूपलाल नच्यौ छनन छिन्ना।।''

प्रस्तुत पद में ध्वनि-साम्य के आधार पर अनुकरणात्मक शब्दों के माध्यम से मृदंग एवं नृत्य के बोलों को रूपायित किया गया है। इस प्रकार यह पद भी संगीत के विकास में मृदंग के बहुमूल्य योगदान का जीता-जागता प्रमाण है।

इसी प्रकार श्री गदाधर भट्ट की वाणी (पद 48, प्रकाशक राधे श्याम गुप्ता, वृन्दावन) में रासलीला के अनुरूप बजने वाले मृदंग के बोल व नाद का उल्लेख यहाँ उद्धृत है-

''बजत अनुसार *द्रिम द्रिम मृदंगनि नाद,''*

मीराबाई ने भी अनहद नाद को सुनने के बाद पखावज के महत्व (नादात्मकता) का वर्णन इन शब्दों में किया है-

''बिन कर ताल पखावज बाजे अनहद की झनकार''

भारतीय संगीत के स्वरूप का विकास देवालयों तथा राजदरबारों में होता रहा है और इन दोनों स्थलों पर ध्रुवपद-गान शैली को ही प्रमुखता प्रदान की गयी है। देवालयों एवं राजदरबारों दोनों ही स्थलों में विकसित होने वाले संगीत में पखावज का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। पखावज की गूँज पूरे वातावरण को संगीतमय बनाती है और उसके पाटाक्षर ध्रुवपद-धमार या भक्ति संगीत के साथ घुलमिल कर संगीत को आनन्दमय बनाते हैं। संगीत के पूरे स्वरूप में पखावज अनिवार्य अंग की तरह प्रयुक्त होता रहा है। पखावज के बोल (पाटाक्षर), उसकी वादन-साहित्य और उसकी अनुरणनात्मक गूँज ने संगीतकारों एवं भक्त कवियों को इतना

प्रभावित किया है कि उन्होंने पखावज की ध्वनि और पाटों को लेकर अनेक पदों की रचना तक कर डाली। पखावज द्वारा प्रयुक्त ताल-संगत पूरे संगीत को जीवन्त बनाती है। विभिन्न गेय पदों में मृदंग के पाटाक्षरों से युक्त सुन्दर बोलों का गायन और मृदंग की संगत संगीत के विकास में उसके योगदान को प्रमाणित करता है।

सांगीतिक व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि मृदंग का वादन उच्च ध्वनि के साथ होता रहा है। नृत्य, गीत एवं वाद्यों के साथ मृदंग की संगत उच्च ध्वनि से किये जाने का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि इसकी उच्च ध्वनि नृत्य, गीत तथा वाद्यों को एक सुमधुर वातावरण देती है। इसकी ध्वनि वायुमण्डल की दूषित नाद कोलाहल को निष्क्रिय कर संगीतमय वातावरण स्थापित करती है। इसी कारण मृदंग की ध्वनि को मेघ ध्वनि के अतिशय साम्य माना गया है।[8]

मृदंग की उपयोगिता लोकजीवन में भी बहुमुखी है, इसलिए इस शब्द का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। मृदंग एक छंद का नाम भी पड़ा। कटहल का दूसरा नाम मृदंगफल पड़ा। कहावत भी बनी 'गाल बजाकर मृदंग की होड़ न करें।'[9]

'संगीत पारिजात' में मृदंग की प्रशंसा में कहा गया है- ''मृदंग के मध्य भाग में सर्वदा ब्रह्मा अवस्थान करते हैं, जिस प्रकार देवगण ब्रह्मलोक में निवास करते हैं उसी प्रकार इस स्थल में भी देवगण का वास है। मृदंग सर्वदेवमय होने के कारण सर्वमंगल वाद्य है।''[10]

वादन-संगीत में भी मृदंग (पखावज) का प्रभाव परिलक्षित होता है। न सिर्फ़ गायन और नृत्य वरन् वादन-संगीत के विकास में भी पखावज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वीणा पहले संगत का वाद्य था, गायन की संगत वीणा एवं मृदंग से की जाती थी। शनैः-शनैः जब वीणा का स्वतन्त्र-वादन प्रचलित हुआ तो मृदंग से वीणा की संगत आरम्भ हुई। विद्वान् संगीतज्ञों ने आपस में संगत का आदान-प्रदान भी आरम्भ किया, जिसका प्रमाण वीणा पर बजाये गये प्रसिद्ध 'तार परन' हैं। ये 'तार परन' पखावज की परने ही हैं, जिसे तत वाद्य वीणा की तार पर बजाया गया। अतः इसे 'तार परन' की संज्ञा दी गयी।[11]

वीणा पर उस परन को ठोंके (आघात) से जो मिज़राब कटा उसको 'बोल' कहा गया, यहीं से बोलों की सृष्टि होती है, जैसे-

''धिन धिन तेटे तेटे । घेघे तेटे घेघे दिन।''

परन के इन बोलों में मिज़राब ठोंकने से ये बोल बने-

''ड़ा ड़ा डिड़ डिड़ । डिड़ डिड़ डिड़ डिड़''

परन के दूसरे बोल इस प्रकार हैं –

''धेत् धेत् क्रधान धा धा'' में ''डाऽड़ डड़ाऽ डा डा'' मिज़राब से काटा गया। इसी तरह अनेक तार परन हैं, जिनसे बोल बने।[12]

उपरोक्त पखावज की परन के बोलों और मिज़राब से उनके समकक्ष वीणा पर ठोंकने से जो बोल बने, उनसे बोलों की सृष्टि प्रारम्भ होती है। इन्हीं बोलों को सितार में भी प्रयुक्त किया जाता है। इन्हीं बोलों के मिश्रण से अनेक प्रकार के छन्दों का निर्माण समय-समय पर सितार-वादकों ने किया। सितार के लगभग सभी बोल वीणा के ही प्रयोग किये जाते हैं। सितार के बोल 'दा दिर दाऽर द्रा' हैं।[13]

ध्रुवा-गान तथा ध्रुवा-नर्तन दोनों में ही मृदंग की प्रभावशाली संगत की जाती थी। यह ध्रुवा-गान एवं ध्रुवा-नर्तन भगवतोपासना की प्राप्ति के लिए सशक्त माध्यम था। ध्रुवा-गान तथा नर्तन दोनों ही भगवान् कृष्ण तथा देवी-देवताओं की लीलाओं के गुणगान पर आधारित होते थे। ध्रुवा-नर्तन को रासलीला का एक अंग मानना भी अतिशयोक्ति न होगा। रासलीला में गेय पदों के साथ मृदंग के पाटाक्षरों के सुमधुर बोलों का गायन भी होता था एवं मृदंग की संगत इसे सुन्दर तथा साकार रूप प्रदान करती थी। इन्हीं मृदंग के बोलों को तबले पर बजाया जाने लगा एवं मृदंग के स्थान पर ध्रुवा-गायन तथा ध्रुवा-नर्तन में तबले की संगत आधुनिक युग में आरम्भ हुई। खुले एवं बन्द बोलों को समान रूप से उत्पत्ति करने योग्य वाद्य 'तबले' ने इसे नया रूप और जीवन दिया, जो कथक नृत्य प्रदर्शन में व्यवहृत हो रहा है।[14]

कथक नृत्य के विकास में भी पखावज के बोलों, उसकी ध्वनि, वादन-साहित्य व लय-ताल संगत का समुन्नत प्रभाव दृष्टिगत होता है। कथक नृत्य में प्रयुक्त अधिकांश बोल, बन्दिश व साहित्य का प्रमुख आधार पखावज ही है। रासलीला और कथक नृत्य के मजबूती से जुड़े होने के कारण आरम्भ में कथक नृत्य के मूल विषय-वस्तु धार्मिक आख्यान ही थे। अतः कीर्तन एवं ध्रुवपद तथा होरी गायन जैसी रचनाओं पर नृत्य होता था। बाद में अभिनय प्रस्तुति के लिए ठुमरियों को भी अपनाया गया। एकल कथक नृत्य का प्रदर्शन आरम्भ होने के साथ ही ठाठ और आमद के लगभग तुरन्त बाद नर्तक या नर्तकी स्वयं को पखावज-तबला के बोलों पर केन्द्रित कर लेते हैं। कथक में परमेलु जैसी रचनाओं में पखावज-तबला और नृत्य के बोलों का मणिकांचन प्रयोग होता है।[15] किसी-किसी कलाकार का अस्सी प्रतिशत तक नृत्य पखावज-तबले पर ही केन्द्रित रहता है, उस पर भी पखावज-तबले के सभी बोलों का अपने नृत्य में वे प्रयोग नहीं कर पाते। ये कुछ गिने-चुने बोल ही नाचते हैं। पखावज के वर्ण- ''थुंथुं, धेलांग, तकधुम किटितक, थुंगा'' आदि गम्भीर व ज़ोरदार होते हैं, जो कथक जैसी नर्तन शैलियों के अनुकूल रसों का संचार करते हैं।

कथक नृत्य के अन्तर्गत नृत्त, नृत्य और नाट्य तीनों अंगों का प्रस्तुतीकरण सन्तुलित रूप से किया जाता है। नृत्त पक्ष के अन्तर्गत अभिनय नहीं होता। ताल-लय के आधार पर ही अंग-संचालन किया जाता है, कथक के टुकड़े, तोड़े-परन आदि का प्रदर्शन इसमें होता है। नृत्त बोलों के विभिन्न छन्दों को ताल-लय

बद्ध कर प्रस्तुत किया जाता है। ताल-लय रूपी नृत्य में मृदंग एवं तबला वाद्यों की सूझबूझ का प्रदर्शन होता है। कथक के इस पक्ष में पखावज बराबरी के साथ संगत करते हुए चलता है और इसमें अधिकांश बोल पखावज के ही होते हैं।

'तुहफ़त उल हिन्द' जो कि 17वीं शताब्दी का एकमात्र ग्रन्थ है, उसमें तत्कालीन नृत्य के एक प्रकार में मृदंग के उपयोग (संगत) का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है- ''मृदंगी, गोयन्दा, तालधारी तथा रक्क़ास इन चार लोगों का सम्मिलित प्रदर्शन जिसमें मृदंग ताल गायक के नग़में के सुरों पर रक्क़ास द्वारा विभिन्न प्रकार के अंगों का प्रदर्शन करते हुए जब नृत्य किया जाता था तो उसको पिल्लामिरु कहा जाता था।''

अयोध्या में दादरा को 'दर्पण ताल' कहरवा को 'पटताल' कहा जाता रहा है। इन तालों के प्रदर्शन में चाँटी के बोलों का प्रयोग मधुरता की उत्पत्ति के लिए किया जाता रहा है। मथुरा, वृन्दावन, ब्रज क्षेत्र की रासलीला की संगत में भी मृदंग-वादक चाँटी के बोलों को अधिक बजाते रहे हैं, जो श्रृंगार रस की उत्पत्ति करने में उपयोगी रहा है और श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करने में भी। अतः मृदंग (पखावज) के चाँटी, लव और स्याही तीनों भागों एवं बायें भाग में बजने वाले तमाम तरह के बोलों और ध्वनियों का प्रयोग देवालयों में प्रचलित भक्ति संगीत, रासलीला, कथक नृत्य व वीणा आदि के वादन के विकास में उपयोगी रहा है।

इसी प्रकार आधुनिक युग में प्रचलित गान तराने में प्रयुक्त शब्द-समूह 'नोम, तोम, तदीम.....' आदि निरर्थक होते हैं, किन्तु इनके गठन, छन्द, लय, माधुर्य, सौन्दर्यपूर्ण होते हैं। इनके साथ पखावज की संगत अत्यन्त रोचकता से की जाती है। इसके मध्य में अनेक आकर्षक पखावज-तबले के टुकड़े, तिहाइयों का समन्वय होता है, जो श्रवण रंजकता और हृदयग्राही होता है। जब गायक-कलाकार ध्रुवपद, ख्याल आदि प्रस्तुत करते हैं तो अन्त में तराना गाकर कार्यक्रम की समाप्ति करते हैं। इसके कारण हैं- तराने में चमत्कारिक लय। तरानों से स्रोताओं का अति मनोरंजन होता है, विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। कुछ गायक तो तरानों की प्रस्तुति करके ही प्रसिद्धि पाते हैं, जबकि इसके शब्द निरर्थक होते हैं, पर चंचल गति की द्रुत ठेकों का प्रयोग करके ही मृदंग-तबला के बोल मन को उद्वेलित कर देते हैं। गायन में ही त्रिवट और चतुरंग जैसी रचनाएँ हैं जिनमें पखावज-तबले के बोल गुँथे होते हैं।

अतः उपरोक्त विभिन्न प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर भारतीय संगीत के समस्त स्वरूपों व विधाओं चाहे गायन हो, वादन हो या नर्तन कला हो उनके विकास में तमाम तरह के अवनद्ध वाद्यों और उनमें विशेषकर पखावज (मृदंग) ने संगीत के लिए आवश्यक लय-ताल संगत, अपने गूँज व बोलों की विशेषताओं से युक्त वादन और अपनी ध्वनि व बोलों के आकर्षक उपलब्धता (प्रयोग) से अपना अद्भुत, अकल्पनीय व अतुलनीय योगदान दिया है। अवनद्ध वाद्यों और पखावज के अभाव में संगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ये संगीत में प्राण फूँकने का कार्य करते हैं।

उत्तर भारतीय संगीत के विकास में पखावज के योगदान के सम्बन्ध में किराना घराना के प्रसिद्ध गायक-कलाकार डॉ॰ कुमार अम्बरीष चन्चल जी का यह विचार दृष्टव्य है- ''संगीत जगत् में पखावज रहेगा तो भी नहीं रहेगा तो भी पखावज का कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन यदि पखावज नहीं रहेगा तो हमारा (यानी संगीत का) ज़रूर बिगड़ जायेगा। पखावज बहुत प्राचीन वाद्य है, इसको हटाकर उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की कल्पना करना मुश्किल है।''[16]

सन्दर्भ

1. सक्सेना, डॉ॰ राकेश बाला- 'ब्रज के देवालयों में संगीत परम्परा', संगीत कार्यालय, हाथरस (उ॰प्र॰), प्राक्कथन, पृ॰ 9
2. वही, पृ॰ 59
3. वही, पृ॰ 60
4. वही, पृ॰ 60
5. वही, पृ॰ 61
6. वही, पृ॰ 68-69
7. गर्ग, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण- 'ब्रज-संस्कृति और लोकसंगीत', संगीत कार्यालय, हाथरस, प्रथम संस्करण, नवम्बर, 2009, पृ॰ 50
8. कर्ण, डॉ॰ नागेश्वर लाल- 'कथक नृत्य के साथ तबला संगति', कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन्-2001, पृ॰ 55-56
9. वही, पृ॰ 56
10. वही, पृ॰ 77
11. वही, पृ॰ 110
12. वही, पृ॰ 110
13. वही, पृ॰ 110
14. वही, पृ॰ 183
15. मिश्र, विजयशंकर- 'मनके : भाव, सुर, लय के', प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2011, पृ॰ 32
16. साक्षात्कार के दौरान प्राप्त

●

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या

शुभंकर बाबू एवम् डॉ0 शिल्पा सिंह***

ॐभद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳस सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥[1]

भारतीय संस्कृति के मूलाधार वेद हैं। ये अपौरुषेय माने गये हैं। श्रुतिपरम्परा से प्राप्त वैदिक ज्ञान को हमारे ऋषिमुनियों ने अपनी प्रतिभा से विकसित किया। ये ऋषिगण मंत्रद्रष्टा थे- ऋषयःमन्त्रद्रष्टारः। सुविस्तृत वैदिक वाङ्मय में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांग (शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष) आते हैं। ऋग्वेदादि सभी संहिताओं के अंतिम भाग में ज्ञानकाण्ड का वर्णन प्राप्त होता है। यही ज्ञानकाण्ड लोक में वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। 'वेदान्त' का मुख्य अर्थ उपनिषद् है। उपनिषदों के अर्थबोध के अनुकूल शारीरक सूत्रादि तथा उपनिषदों के अर्थ संग्राहक श्रीमद्भगवद्गीता आदि 'वेदान्त' शब्द के गौण अर्थ हैं-

''वेदान्तो नामोत्पनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च''[2]

उपनिषदों में मुण्डकोपनिषद् का विशिष्टस्थान है। यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकी शाखा में है। यह मुण्डित अर्थात् सन्यासियों के लिए विरचित हुई हैं। इसमें 3 मुण्डक हैं और प्रत्येक दो खण्डों में विभक्त है। ब्रह्माजीने इस उपनिषद् में सर्वश्रेष्ठविद्या 'ब्रह्मविद्या' का अपने ज्येष्ठपुत्र अर्थवा को उपदेश दिया है।

जिस विद्या से ब्रह्मके पर-अपर दोनों स्वरूपों का पूर्णतया ज्ञान हो उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं, यह सम्पूर्ण विद्याओं की आश्रय है ऋग्वेदादि वेद वेदाङ्ग अपर विद्या हैं एवं ब्रह्मविद्या ही परा विद्या है। जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है-

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।[3]

ब्रह्म को जानने वाले महर्षियों का कहना है कि मनुष्य के लिये जानने योग्य दो विद्याएँ हैं एक तो परा दूसरी अपरा। जगदात्मा परमेश्वर समस्त भक्तों के परमकारण हैं सम्पूर्ण जगत् उन्हीं से उत्पन्न है यह कैसे ज्ञात होता है इस जिज्ञासा के उपशमन के लिये मुण्डक श्रुति कहती है-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथासतः पुरुषात्केश लोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥[4]

इस मन्त्र में तीन दृष्टान्तों द्वारा यह बात समझायी गयी है कि परमब्रह्म परमेश्वर ही इस जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् के निमित्त और उपादान कारण हैं।

प्रथम दृष्टान्त के द्वारा समझाया जा रहा है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने पेट में स्थित जाल को बाहर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है उसी प्रकार परमब्रह्म परमेश्वर अपने अंदर सूक्ष्म रूप से लीन हुए जड़ चेतन रूप जगत् को सृष्टि के आरम्भ में नाना प्रकार से उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलय काल में उसे अपने में लीन कर लेते हैं -

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥[5]

द्वितीय दृष्टान्त से यह समझाया जा रहा है कि जिस प्रकार पृथ्वी में जैसे जैसे अन्नतृण वृक्षलता आदि औषधियों के बीज पड़ते हैं उसी प्रकार की भिन्न भेदों वाली उत्पन्न होतीं हैं - उसमें पृथ्वी का कोई पक्षपात नहीं है उसी प्रकार जीवों के विभिन्न क्रमरूप बीजों के अनुसार ही भगवान् उनकों भिन्न भिन्न योनियों में उत्पन्न करते हैं अतः उनमें किसी प्रकार की विषमता और निर्दयता दोष नहीं है।

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।[6]

तृतीय दृष्टान्त से आशय है कि जिस प्रकार मनुष्य के जीवित शरीर से विलक्षण केश, रोएं और नख अपने आप उत्पन्न होते हैं और बढ़ते रहते हैं उसके लिये उसको कोई कार्य नहीं करना पड़ता है उसी प्रकार परमब्रह्म परमेश्वर से यह जगत् स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाता है और विस्तार को प्राप्त होता है, इसके लिये भगवान् को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता इस सम्बन्ध में गीता का यह कथन समीचीन है -

चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥[7]
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥[8]

इस मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड में समझाया गया है कि सांसारिक भोगों में वैराग्य की और परम आनन्द स्वरूप परमेश्वर को पाने की अभिलाषा करने वालों के लिये

* शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वर्गलोक के साधन रूप यज्ञादि कर्म को हीन बतलाया गया है एवं ब्रह्मविद्या को ही सर्वश्रेष्ठविद्या की उपाधि दी गई है।

प्लावा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषुकर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥[9]

निश्चय ही ये यज्ञरूप अठारह नौकाएँ अस्थिर हैं जिनमें नीची श्रेणी का उपासना रहित सकामकर्म बतलाया गया है। जो मूर्ख हैं उनके लिये यही मार्ग कल्याणकारी है ऐसा प्रशंसा करते हुए मर्त्यलोक में जीवन मरण के चक्र को बारंबार प्राप्त करते रहते हैं।

परमआनन्दस्वरूप परब्रह्म के स्वरूप की विशेषता का बखान मुण्डक श्रुति इस मन्त्र के द्वारा करती है-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥[10]

जिन परब्रह्म अविनाशी पुरुषोत्तम से यह जगत् उत्पन्न होकर पुनः उन्हीं में विलीन हो जाता है, वे परब्रह्म निःसन्देह आकार रहित और समस्त जगत् के बाहर एवं भीतर भी परिपूर्ण हैं । वे जन्मादि विकारों से रहित सर्वथा विशुद्ध हैं क्योकि उनके न तो प्राण हैं ओर न ही मन है वे इन सबके बिना ही सब कुछ करने में समर्थ हैं इसीलिए वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अविनाशी जीवात्मा से अत्यन्त श्रेष्ठ एवं सर्वथा उत्तम हैं।

सुअवसर के प्राप्ति पर मुण्डक श्रुति अधोलिखित मन्त्र के साथ उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्म के स्थान स्वरूप और उनकी महिमा की प्रशंसा करते हुए कहती है-

हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[11]

अर्थात्- वे निर्मल-निर्विकार और अवयव रहित अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परमधाम में विराजमान हैं वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों के भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी महात्माजन ही जानते हैं ।

उन स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्य के प्रकट होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है वैसे ही सूर्य का तेज उस परमब्रह्म परमात्मा के समीप लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण एवं बिजली भी वहाँ नहीं चमकते फिर इस लौकिक अग्नि की बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत् मे ंजो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील है सब उन परब्रह्म परमेश्वर की प्रकाश शक्ति के अंश को ग्रहण करके ही प्रकाशित हैं । वे अपने प्रकाश को उन परब्रह्म परमात्मा के समीप कैसे फैला सकते हैं। सारांशतः सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तम के प्रकाश से अथवा उस प्रकाश के क्षुद्रतम अंश से ही प्रकाशित होते हैं।

तृतीय मुण्डक के प्रथम खण्ड में भी परमात्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार से प्राप्त होता है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥[12]

जिस प्रकार गीता में जगत् का अश्वत्थ वृक्ष के रूप में वर्णन किया गया है उसी प्रकार इस प्रथमोक्त मंत्र में शरीर को पीपल के वृक्ष का और जीवात्मा तथा परमात्मा को पक्षियों का रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का वर्णन कठोपनिषद् में भी गुहा में प्रविष्ट छाया और धूप के नाम से आया है। भाव दोनों जगह प्रायः एक ही हैं। मंत्र का सारांश यह है कि यह मनुष्य शरीर मानों एक वृक्ष हैं। ईश्वर और जीव ये सदा साथ रहने वाले दो मित्र पक्षी हैं ये इस शरीर रूपी वृक्ष में एक साथ ही हृदयरूपी घोंसले में निवास करते हैं इन दोनों में एक जीवात्मा तो उस वृक्ष के फलरूप अपने कर्मफलों को अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःख को आसक्ति एवं द्वेषपूर्वक भोगता है और दूसरा ईश्वर उन कर्मफलों से किसी प्रकार का किंञ्चित् भी सम्बन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है। जब कभी जीवात्मा भगवान् की निर्हैतुकी दया से अपने से भिन्न नित्य अपने ही समीप रहने वाले परमसुहृद परमप्रिय और भक्तों द्वारा सेवित ईश्वर को और उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट हो रही है, प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह तत्काल ही सर्वथा शोक रहित हो जाता है।

उपर्युक्त महिमादि के वर्णन के अनुसार हमारे जीवन का परमलक्ष्य ब्रह्मकी प्राप्ति होनी चाहिए। इस लक्ष्य ब्रह्म का वर्णन यह मुण्डक श्रुति एक रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करती है-

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥[13]

यहाँ मन्त्र में प्रयुक्त रूपक के द्वारा परमेश्वर का वाचक प्रणव ही मानों धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं तत्परता से उनकी उपासना करने वाले प्रमाद रहित

साधक द्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है अथवा तन्मय हुआ जा सकता है।

परमानन्द स्वरूप, परमशक्तिमान् उस परब्रह्म की प्राप्ति के लिये सत्य व तप का पालन करना चाहिए। इसके समर्थन में स्वयं मुण्डक श्रुति कहती है कि-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥[14]

सभी प्राणियों के भीतर हृदय में विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय,ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा जिनको सब प्रकार के दोषों से रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकते हैं वे परमात्मा सदैव सत्य भाषण तपश्चर्या संयम और स्वार्थ त्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इनसे रहित होकर वे भोगों में आसक्त रहते हैं भोगों की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के मिथ्याभाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थ परायण अविवेकी मनुष्य उन परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं।

इस साधनमें सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए मुण्डक श्रुति कहती है-

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥[15]

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं । यहाँ अभिप्राय यह है कि परमात्मा सत्यस्वरूप हैं अतः उनकी प्राप्ति के लिये सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। परमात्मा के प्राप्ति के लिए तो सत्य अनिवार्य साधन है ही जगत् में दूसरे सब कार्यों में भी अन्ततः सत्य की विजय होती है, झूठ की नहीं। जो लोग मिथ्या-भाषण, दम्भ ओर कपट से उन्नति की आशा रखते हैं, वे अन्त में बुरी तरह से निराश होते हैं। मिथ्या-भाषण और मिथ्या-आचरण में भी जो सत्य का आभास है, जिसके कारण दूसरे लोग उसे किसी अंश में सत्य मान लेते हैं, उसी से कुछ क्षणिक लाभ सा हो जाता है। परन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता।

उपरोक्त वर्णन का निहितार्थ यह है कि सभी विद्याओं में ब्रह्मविद्या ही सर्वश्रेष्ठ विद्या है। मनुष्यों को इस विद्याा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि यही विद्या हमें जन्म-मरण रूपी संसार से मुक्ति प्रदान कर सकती है।

सन्दर्भ सूची

1- मुण्डक उपनिषद् मंगलाचरण गीताप्रेस, गोरखपुर।
2- वेदान्तसार पृ. 4 चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।
3- मुण्डक उपनिषद्- 1/1/4 गीताप्रेस, गोरखपुर
4- मुण्डक उपनिषद्- 1/1/7 गीताप्रेस, गोरखपुर
5- श्रीमद्भगवद्गीता -9/7-8 गीताप्रेस, गोरखपुर
6- ब्रह्मसूत्र - 2/1/34 चौखम्बा संस्कृत संस्थान, दिल्ली ।
7- श्रीमद्भगवद्गीता -4/13 गीताप्रेस, गोरखपुर
8- श्रीमद्भगवद्गीता -9/9 गीताप्रेस, गोरखपुर
9- मुण्डक उपनिषद्- 1/2/7 गीताप्रेस, गोरखपुर
10- मुण्डक उपनिषद्- 2/1/2 गीताप्रेस, गोरखपुर
11- मुण्डक उपनिषद्- 2/2/9-10 गीताप्रेस, गोरखपुर
12- मुण्डक उपनिषद्-3/1/1-2 गीताप्रेस, गोरखपुर
13 मुण्डक उपनिषद्- 2/2/3-4 गीताप्रेस, गोरखपुर
14- मुण्डक उपनिषद्- 3/1/5 गीताप्रेस, गोरखपुर
15- मुण्डक उपनिषद्- 3/1/6 गीताप्रेस, गोरखपुर

●

हिन्दी कविता में जनजातीय जीवन

दीपेश मिश्र एवम् प्रो. चम्पा सिंह***

किसी समाज की जब अस्मिता जगायी जाती है, तब उसमें कृतित्व एवं नव निर्माण की प्रचण्ड ऊर्जा उभरकर आती है। मार्ग पर सदियों से खड़े अवरोध इसी ऊर्जा से ध्वस्त हो जाते हैं। अगर किसी समाज में अस्तित्व एवं अस्मिता की चेतना जगानी है तो उसे इतिहास के दर्पण दिखाओ। उसके मन में तुरन्त इतिहास और वर्तमान का तुलनात्मक विचार दौड़ने लगेगा, विचारों की चिन्गारी उठने लगेगी।

डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर ने दलित, आदिवासी जनजातीय समाज की अस्मिता जगाई- 'तुम गुलाम नहीं, स्वतंत्र, सक्षम और प्रजावान मनुष्य हो'' उन्होंने स्वतंत्रता, समता, बंधुत्व व न्याय के लिए संघर्ष की राह दिखायी।[1]

आज दुनिया का हर सातवाँ व्यक्ति भारतीय है और भारत की जनसंख्या में जनजातियाँ लगभग सात प्रतिशत हैं। सभ्यता की दौड़ में पिछड़े और किन्हीं कारणों से पर्वतों, वनों में सीमित संकुचित रहकर जीवन यापन करने वाली जातियों को अंग्रेजी के 'ट्राइब' शब्द के पर्यायवाची रूप में 'जनजाति' नाम दिया गया। डॉ0 श्यामचरण दुबे लिखते हैं- 'भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने पर पता चलता है कि ब्रितानी शासन ने जहाँ-जहाँ प्रवेश किया, वहाँ के निवासियों को अपने से अलग करने हेतु उन्हें नेटिव या ट्राइब की संज्ञा दे डाली।'[2]

भारतीय जनजाति एक विस्तृत भू-भाग में बसे हुए हैं। उसमें विभिन्न जलवायु, प्राकृतिक सौंदर्य, उर्वर-अनुर्वर क्षेत्र, वनस्पति, वृक्ष, वन, उपवन तथा पशु-पक्षी पाए जाते हैं। इसमें रहने वाले लोग इनका रहन-सहन और उनकी बोलियाँ भी भिन्न है, किन्तु इन समस्त बाह्य विभेदों के रहते हुए भी सम्पूर्ण जनजाति एक गहरी व्यापक एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। इसका प्रधान कारण जनजातियों का जीवन और प्रकृति के विविध रूपों में व्याप्त आन्तरिक एकता की अनुभूति ही है। इस प्राकृतिक परिवेश की विविधता में अन्तर्निहित एकता जनजातीय सांस्कृतिक एकता की उद्भावना और सर्जनात्मक सक्रियता के संघटन में बड़ा महत्त्व रखती है। प्रकृति की बाह्य विविधता और भिन्नता में आन्तरिक एकता का बोध जनजातीय संस्कृति का मूल उत्स है।[3]

मनुष्य जीवन की स्थिति, विकास और संस्कृति के उत्थान के लिए उसके चारों तरफ व्याप्त प्रकृति, उसके पैरों के नीचे की धरती और उसके ऊपर के असीम विस्तार आकाश से कितना सहयोग और सौहार्द्र मिलता है यह हम सब जानते हैं। जनजातियों ने अपने जीवन-विकास में इस धरती और प्रकृति से आत्मीय सहयोग प्राप्त किया है। देश के हरित वनों की शीतल-स्निग्ध छाया में ही उन्होंने अपने घर बनाये और बहुत श्रम से ही प्राप्त आहार पर शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन से उन्हें अपने जीवन की सभी सुविधाएँ मिली और उसी के सम्पर्क-सहयोग से जनजातियों का जीवन विकसित होता गया। इस अनुभव से उन्होंने (जनजातियों ने) यह परिणाम निकाला कि जीवन संवर्द्धना ही नहीं, वरन् सबके साथ आत्मीय भाव से विकसित तथा विस्तीर्ण होना है।

स्वतंत्रता पश्चात् भारत में बनायी गयी सरकारी नयी नीति जनजातियों के प्रति संवेदनशील थी। उसके अन्तर्गत यह कोशिश की गयी कि जहाँ तक हो सके, जनजातीय परम्पराओं को छेड़ा न जाए और जनजातीय क्षेत्रों को अति सम्मान के दोष से मुक्त रखा जाए, यह प्रयत्न था कि जन जातियों पर अनावश्यक सुधार थोपे न जाएँ। प्रतिपूरक विभेदीकरण की नीति विकसित की गयी, जिसके अन्तर्गत जनजातियों को विधायी संस्थाओं, सार्वजनिक सेवाओं और शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण दिया गया। राष्ट्रीय बजट में जनजातियों को विकास के लिए विशेष प्रावधान किया गया। यह नीति सत् उद्देश्य से प्रेरित थी किन्तु उसका क्रियान्वयन जिस तरह से किया गया उसके परिणाम संतोषजनक सिद्ध नहीं हुए। कुछ जनजातीय समूहों और क्षेत्रों में जातीय भावना से प्रेरित आंदोलनों ने हिंसात्मक रूख अपनाया, ऐसे समय में श्रीमती गाँधी नए विचारों और नीतियों की प्रेरणास्रोत बनी।

जनजातीय विकास की एक नयी रणनीति बनायी गयी। विचारों के धरातल पर योजना अच्छी थी किन्तु राज्यों की राजनैतिक अस्थिरता, राज्य स्तर पर हस्तक्षेप ओर नौकरशाही के अदूरदर्शी रवैये ने नीति के सफल कार्यान्वयन में बाधा डाली। नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, अरूणाचल प्रदेश और त्रिपुरा आदि में स्थिति बिगड़ी और वह आज भी चिन्ताजनक है।

आज भी महाराष्ट्र के जनजातीय क्षेत्रों में जो क्रांतिकारी आन्दोलन हो रहे हैं, उन्हें जनजातियों का पूर्ण समर्थन प्राप्त है। हिन्दी कवियों ने इस सभी गतिविधियों को अपनी आँखों से देखा है और ज्ञानात्मक संवेदना के स्तर पर उसे गहराई से अनुभव किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कवियों ने बड़े स्तर पर जनजातियों के सांस्कृतिक

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
** शोध निर्देशिका, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जीवन का वर्णन अपनी कविताओं में किया है। भवानी प्रसाद मिश्र ने जनजातीय माँ का वर्णन करते हुए लिखा है-

एक माँ
चल रही है सड़क पर
अपनी बच्चों को छाती से चिपकाए हुए
और आश्वस्त है वह
कि प्रलयकाल तक
ले जाएगी उसे निकालकर
चारों तरफ से
उमड़कर आ रही आफतों से।[4]

जनजातीय संस्कृति के प्रति सम्मान और आत्मीयता की भावना हिन्दी के कवियों में पायी जाती है। हिन्दी कवि सांस्कृतिक एकरूपता सम्बन्धी दुराग्रह नहीं पालते। जनजातीय संस्कृति, विभिन्न क्षेत्रों और स्तरों की संस्कृतियों के बीच वे सेतु निर्माण करना चाहते हैं। हिन्दी कवि अर्थहीन अनुकरण, संस्कृतियों, विसंगतियों और विकृतियों पर जनमत जागृत करता है। सांस्कृतिक मूलक बीज प्रश्नों को हर प्रकार के भ्रम, उन्माद और वितण्डावाद से बचना उसका जीवन धर्म है। वह कहता है-

तोड़ो/रूढ़ विगत के घेरे/किन्तु बुझाओ मत/उसकी विभा/उसे तो लाओ/ओट देकर अपने प्राणों की/वर्तमान तक/अनागत के स्वागत में/दीप्त नहीं होंगे इसके बिना दीपक।[5]

यहाँ कवि अतीत की सांस्कृतिक विभा को वर्तमान की सापेक्षता में अर्थवत्ता देता है। अनागत जो संभावना है, उसके दीपक इस सांस्कृतिक विभा द्वारा ही दीप्त होंगे।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवि भवानी प्रसाद मिश्र अपने काव्य की अधिकांश प्रेरणाएँ जनजातीय अंचल से ही लिया है। उनकी जीवन स्थितियों को चित्रित करना उनका विषय क्षेत्र रहा है। वे उनके मंगल के आकांक्षी रहे हैं। जनजातीय जीवन का यथार्थ चित्रण करते हुए वह लिखते हैं-

गाँव इसमें झोपड़ी है, घर नहीं है
झोपड़ियों के फटकियाँ हैं, दर नहीं है
धूल उड़ती है, धुएँ से दम घुटा है
मानवों के हाथ से मानव लुटा है
सो रहा शिशु कि माँ चक्की लिये है
पेट पापी के लिए पक्की किये है।[6]

तुलसी ने राम की शील, शक्ति, सौंदर्य को मानस का काव्यादर्श बनाया है। आचार्य रामचन्द्र शुल्क के अनुसार यही तुलसी का लोकधर्म है, धर्म समाज के मंगल के लिए है, जो तुलसी का परम लक्ष्य है। हिन्दी कवियों का 'राम' उनका वह आदमी है, जो भावों में, मैदानों में, गिरि पर्वत पर, घाटियों में, जंगलों में, आदिवासी जनजाति या शोषित श्रमिक का जीवन व्यतीत कर रहा है।

भारतीय आदिवासी समाज का पुरानतम तत्त्व आधुनिक काल की कतिपय ऐसी छोटी-छोटी जनजातियों के अवशिष्ट हैं जो खाद्य संकलन तथा शिकार आदि से अपना जीवन यापन करती हैं। इस प्रकार के आर्थिक संगठन वाली जनजातियों की संख्या अधिक नहीं है।

बिहार के बिरहोर और खाड़िया, आसाम के कूकी, कोन्यक आदि बस्तर के पर्वतीय मड़िया गोड़, उत्कल के कतिपय जुआंग समूह, हैदराबाद के चेंचू, दक्षिण भारत के कांडर तथा त्रावणकोर के मालापान्तारम आदि की गणना ही उपर्युक्त वर्ग के अन्तर्गत की जा सकती है। नागार्जुन ने माड़िया जनजातियों के विषय में लिखा है-

अपन इसके साथ दो रोज रहे पाते।
काश! झोपड़ियों वाली इसकी बस्ती तक
पहुँच पाते अपन
रातों वाली अड्डेबाजी में साथ देते इसका
साखू के पत्तों वाले दोने में साथ-साथ पीते सल्फी
चखते भुना हुआ गोश्त, सुअर का साथ-साथ
फिर शायद खुलकर बातें करता यह हमसे.....।[7]

मध्य प्रदेश, पूर्वी भारत तथा दक्षिण भारत के स्थिर एवं स्थायी कृषि करने वाले गोड़, मुण्डा, उराँव, कोया आदि जनजातियों की संस्कृतियाँ अपेक्षाकृत विकसित हैं। इस वर्ग की जनजातियाँ बहुसंख्यक हैं। उनके आर्थिक जीवन एवं संगठन में सामूहिक अधिकार तथा सामूहिक कार्य का स्थान अत्यन्त सीमित है। आर्थिक दृष्टि से उनका जीवनक्रम ग्रामीण भारत के शेष अंश से अधिक विकसित नहीं है, किन्तु उनकी ग्रामीण संस्कृति निःसंदेह वैशिष्ट्यपूर्ण है। छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश की जनजातियों के सांस्कृतिक जीवन की तरफ संकेत करते हुए कवि नागार्जुन ने लिखा है-

लगाते हैं छलांग छोकरे
बहते पानी के अन्दर!
डूबोकर पैर बैठी रहती हैं
देर-देर तक छोकरियाँ तट की शिलाओं पर!
सुनती हैं कहानियाँ
अलापती हैं कड़ियाँ लोकगीत की
डरता नहीं है कोई इस नदी से
प्यार ही प्यार मिलता है इसको।[8]

मानव के जीवन और संस्कृति के प्रायः प्रत्येक पक्ष में प्रकृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज-विज्ञान, समाज दर्शन तथा प्रकृति विज्ञान के अध्येताओं का तो यह निश्चित मत है कि प्रकृति का सार्वभौम प्रभाव मनुष्य के जीवन की पूर्ण रूपरेखा ही निश्चित कर देती है, और विभिन्न मानव समुदायों में पायी जाने वाली सांस्कृतिक तथा मानसिक भिन्नताएँ इनकी भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थिति के अन्तर के अध्ययन से भली-भांति समझी जा सकती है। अंगद सिंह बिसेन ने इस तरफ संकेत करते हुए 'संन्त सबरी' कविता में लिखते हैं-

स्वच्छ सरोवर, कमल, केतकी विहग वृक्ष पर चहकें।

तोता, मैना, बुलबुल, कोयल, श्यामा कलरव करते।।

सुमन गंध, शीतल-समीर, जीव-जन्तु क्रीड़ा करते।

व्यवहार नीति का अनुराग भरा जीवन जीते।।[9]

जनजातियों में स्त्री नैसर्गिक दायित्व वहन करती है। पुरुष पृथ्वी की छाती चीर कर अन्न उपजाता है। कोई किसी पर भार नहीं है। प्रकृति पुरुष के नियम समान हैं। इनके समाज में नारी मुक्त है, स्वतंत्र है, समाज में समानता और आदर की अधिकारिणी है। इसमें ईर्ष्या, द्वेष, लोभ रंचमात्र भी नहीं है। चित्रकला के प्रेमी, हस्तकला में प्रवीण ये जनजातीय लोग अपने जीवन में जीओ और जीने दो का सिद्धान्त पालन करते हैं। ये पढ़े-लिखे नहीं हैं। गीता, रामायण और वेद पुराण का इन्होंने नाम भी नहीं सुना है। मगर इनकी आराध्या दन्तेश्वरी में विश्वास है और स्वचरित्र में आस्था-

पढ़ा नहीं गीता, रामायण, न वेद-पुराण का नाम सुना।

निज चरित्र में आस्था अपनी, दन्तेश्वरी में विश्वास महा।

लघु शरीर, वस्त्रहीन तन, आदिम जीवन की मजबूरी।

साधनहीन, विद्याहीन, जनजातियों की आदिम है मजबूरी।[10]

हिन्दी कवियों ने जनजातीय जीवन से जुड़े हुए प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन बड़ी सरल एवं सहज भाषा में किया है। पशु-पक्षी, कीट-पतंगे, जुगनू, पहाड़, घाटियाँ, घने जंगल, प्रकृति के कोमल कठोर रूपों का बड़ा सजीव वर्णन किया है। वृक्षों में महुआ, आम, पीपल, बरगद, पलाश का वर्णन तो देखने लायक है। कपिलदेव सिंह चौहान ने जनजातीय परिवेश में **'फूले हुए पलाश'** वर्णन ग्रीष्म की जलन-तपन का बड़ा ही मर्मान्तक वर्णन किया है-

जल रहे पलाश वन/धधक रही दिशाएँ/आतप को साथ लिए/दौड़ती हवाएँ/प्यासे हिमवान के/माथे पसीना/ढूंढ रही छाया/जेठ का महीना/फटी हृदय धरती/सूखी नदी की/बढ़ती व्यथाएँ....।[11]

जनजातीय परिवेश में सुधार के नाम पर हम आज उनकी आँखों में धूल झोक रहे हैं। इसी से उनका सरल-सहज रस-राग विरस हो रहा है। सब खेल बिगड़ रहा है। डॉ0 आद्या प्रसाद सिंह ने अपने गीत में वसन्त ऋतु के आह्लादक रूप के साथ-साथ आज की विद्रूपता पर भी प्रकाश डाला है-

तितली के पंख और महुआ के फूल

लगते हैं हाय आज राह के बबूल।

चुभती है नयनों में बौरी अमराई।

भँवरों की गुन-गुन और पिक की तरूणाई।

झरते पराग कण, बेधते हैं मन

मधु और माधव आज काढ़ते हैं फन।

किससे और कैसे कहाँ हुई कैसी भूल।।[12]

हिन्दी कवियों ने जनजातीय जीवन का वर्णन करते समय बड़ी आस्था दिखाई है। वास्तविकताओं को उजागर करने में वे अपने स्वरों को न कहीं क्षीण होने देते हैं, न निराशा का स्पर्श करने देते हैं। जनजातियों को जगाने वाले गायक है, उसे कहीं बेखबर या सोया नहीं रहने देना चाहते। प्रकृति की सारी शक्तियाँ उनमें समाहित हैं। मराठी के समर्थ कवि दामोदर मोरे लिखते हैं-

सुबह हो गयी/मगर ये रास्ते/अभी तक क्यों सोये हुए हैं?/यह बीमार सा-जनजातीय पेड़,/अपने आप में,/क्यों/खोया-खोया सा है?

हिन्दी के ये कवि भले जनजातीय न हों, लेकिन इनके दिल और दिमाग में इन्सानियत का ही झरना बहता है। आदिवासी जनजातियों का दर्द इन्हें अपना दर्द लगता है। उनकी ये मान्यता है कि जनजातियों के दुःख-दर्द को शहरी या ग्रामीण भारत की निगाह से न देखकर आदिवासी जनजातीय निगाहों से देखना चाहिए। कवि दामोदर मोरे लिखते हैं-

झुग्गियों को शूल बनकर

कौन चुभो रहा है?

जनजातीय कलियों को

पैरों तले कौन रौंद रहा है?

यह हवा क्यों

फूट-फूट कर रो रही है?

ये राहें....

क्यों सूनी और उदास हैं?

आदिवासियों, जनजातियों के दुख का कारण उनके पूर्वजन्म का फल नहीं, बल्कि वर्तमान व्यवस्था है, जहाँ देश पूरी तरह कुछ खूँखार हाथों के गिरफ्त में आ गया है और ये हाथ निर्माण की जगह विनाश का खेल खेल रहे हैं। जनजातियों की वेदना का कारण यही विनाशकारी खेल है। ये धरती पुत्र इस भारत भूमि के सच्चे उत्तराधिकारी हैं, लेकिन ये शोषक-शासित वर्ग उनके आदिपन के 'आइडेंटिटी' को नष्ट करने पर तुले हैं। सुधार के नाम पर उनका स्वत्व छीना जा रहा है। हिन्दी कवि जनजातियों की तरफ से खड़ा होकर कहता है-

आशीष मत दो/मत रूँधो मेरे संकल्पों का मार्ग/जाने कितनी बार बिछल चुका हूँ/इस काई ढके शिलाखण्ड से/खण्डित हो गयी हैं/ कितनी ही अभिलाषित यात्राएँ/दिग्भ्रम ही हुआ है/मुस्कानों के शरदोत्सव में/ मन नहीं होता कि/श्रद्धा के मूल्य पर अँगूठा कटवा दूँ/स्नेह शरों के बिंध/उत्तरायण की प्रतीक्षा करूँ।[13]

जनजातियों के सामाजिक शोषण, अन्याय, विषमता एवं विद्रूपता को देखकर कुछ युवक आगे आकर उन्हें कष्टों से निजात दिलाना चाहते हैं। सरकार इन्हें अपना दुश्मन मानती है और शान्ति के नाम पर एनकाउण्टर करा देती है। ये लोग हथियार बन्द नहीं है। रूढ़ियों का खण्डन और नव निर्माण इनका नारा है। इसका वर्णन करते हुए कवि लिखता है-

ये पढ़े लिखे लोग गाते बजाते हैं/जो मिलता खा लेते हैं/लेकिन पुलिस प्रशासन द्वारा/हर स्तर पर/यह धारणा बनाई जाती है/कि लूटेरे और हत्यारे हैं/इसी से पुलिस को साहस मिलता है/शौर्य दिखाने का/ आतंक जमाने का।[14]

युगधर्मी रचनाकार अपने काल का अभिशप्त व्यक्ति होता है, क्योंकि आँखे खुलते ही उसके सामने का दृश्य उसे अन्तः से उद्विग्न और बेचैन करता है। अनियमितता उसे क्षुब्ध करती है। अनाचार-अत्याचार, सामाजिक-वैयक्तिक सड़न उसमें क्रोध और वितृष्णा पैदा करती है। कवि एक ओर जहाँ इस परिवेश के लिए दोषी लोगों के प्रति कठोर होता है, वहीं ममता भरे हाथों से उपचार के लिए सन्नद्ध भी है। उसकी लेखनी में मात्र विद्रूपताओं एवं विसंगतियों को उजागर करने का आग्रह ही नहीं रहता, बल्कि एक वेदना-कातर प्रयास भी रहता है कि वह जनजातीय समाज को स्वस्थ स्वरूप दे। कवि व्यंग्यात्मक शब्दों में लिखता है-

मैं असभ्य हूँ क्योंकि खुले नंगे पाँवों चलता हूँ।

मैं असभ्य हूँ क्योंकि धूल की गोदी में पलता हूँ।।

मैं असभ्य हूँ क्योंकि चीरकर धरती धान उगाता हूँ।

मैं असभ्य हूँ क्योंकि ढोल पर बहुत जोर से गाता हूँ।।[15]

जनजातियाँ अपनी आत्मछवि और पहचान के अनुरूप जीवन शैली और संस्कृति को बनाए रखने के लिए निरन्तर प्रयत्न करती रही हैं। आर्य प्रजाति के लोग चाहे शहरी हो या ग्रामीण अहम् भाव से पीड़ित हैं और देश में पुराने उत्तराधिकारियों को अपने से बहुत कम समझते हैं। उनका उल्लेख वे अनादर के साथ करते हैं। कवि इस मानसिकता का विरोध करता हुआ लिखता है-

कहते हैं अच्छा नहीं है वह आदमी

और सबूत में उसकी बुराई के

कहते हैं बहुत सी बाते

ठीक ही कहते हैं

कि अलग बैठता है वह

हम सबों में कई बातों में।[16]

जनजीवन में सत्ता का बढ़ता वर्चस्व अनेक आशंकाओं को जन्म देता है। हिन्दी कवि सांस्कृतिक सामन्तवाद का विरोध करते हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि कहीं ये लोग जनजातीय जीवन की संस्कृति को भी अपसंस्कृति में न बदल दें। वह लिखता है-

नगाड़े/और नाच/और रात/कब से नहीं/सुने, देखे/देखना सुनना हो/तो कहाँ जायें/अब कहाँ है/जंगल में मंगल।[17]

आज के भारत की मूलभूत समस्याओं की जड़ शिक्षा की विकृतियों में है- यह तथ्य स्वीकार तो सरलता से कर लिया जाता है, परन्तु नीति निर्धारण में प्रतिफलित नहीं होता। जनजातीय परिवेश में परम्परा का राजनीतिकरण संभव और सरल है, क्योंकि शिक्षा ने जातियों को सच्चा इतिहास बोध नहीं दिया और न उसमें सांस्कृतिक विवेक उत्पन्न किया। समस्याओं को हल करने की दिशा में शिक्षा का योगदान नगण्य रहा है। व्यवस्था में न प्रतिबद्धता है, न विराट कल्पना। वैकल्पित भविष्य के बारे में उसमें एक विचित्र अनिवार्य की स्थिति और समझ में न आने वाली उदासीनता है-

घुन खाए शहतीरों पर की, बाराखड़ी, विधाता बांचे।

फटी भीत है छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे।

बरसाकर बेबस बच्चों पर, मिनट-मिनट में पाँच तमाचे

दुखरन मास्टर गढ़ते हैं, किसी तरह आदम के बच्चे।[18]

शिक्षा के स्तर पर समानता लाने का लक्ष्य समाज के सभी कमजोर वर्गों विशेष रूप से जनजातियों के लिए अपनाया गया। आजादी के 70 वर्ष बीत जाने पर भी परिणाम निराशाजनक ही है। समान अवसर आज भी एक सुदूर और अप्राप्त आदर्श बना हुआ है, जिसके कारण जनजातियों का विकास नहीं हो पा रहा है।

जनजातीय परिसर में शिक्षा की स्थिति का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है-

मदरसे में

खण्डहरों-बीच

दरके हुए चेहरे का मास्टर

पढ़ाता कौआ और गधा....।[19]

निम्नलिखित 'चरवाटे' कविता में आदिवासियों की दैनिक जीवन से जुड़ी संस्कृति का बड़ा ही सजीव वर्णन हुआ है-

दुनिया बेखबर/मस्त है ये अपनेपन में/कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़कर जेबें भर ली हैं/साँझ पड़ी हैं भेड़े सब एकत्रित कर ली हैं/पहुँच ठिकाने, अमियाँ की चटनी बनवाएँगे/बड़े चाव से उससे ही फिर रोटी खाएँगे/कितनी सीमित जरूरते हैं/इनके जीवन में/नाममात्र के कपड़े लत्ते है इनके तन पर/किन्तु तनिक भी बोझ नहीं है भोलों के मन पर/नोन, मिर्च, हल्दी, धनिया कुछ तेल जुटाएँगें/मक्के की रोटी खाकर त्यौहार मनाएँगे/इतनी सी खुशी बड़ी है/इनके आँगन में/जूँते कहाँ नसीब पैर में फटी बिवाई है/लाचारी आकण्ठ नियति की मात्र दुहाई है/घोर अभावों में रहकर भी संतोषी ऐसे/मठ-मन्दिर में कहाँ मिलेगे साधु-सन्त ऐसे/पशुओं के संग जीवन क्षण-क्षण/बीत रहा है वन में।[20]

और अब अन्त में जनजातियों के हृदय में कितनी करूणा व वेदना है, इसको आप लोगों के समक्ष रखने का प्रयास करूँगा-

सुन रहे हो/बिरसा मुण्डा!/बाबूरा सेडमाके।/सिद्ध-कान्हु संथाल/तॅट्या भील,/उमेड़ बसावा! सुन रहे हो/शंकर शहा, रघुनाथ शहा/मेरे वीर शिरोमणि/स्वतंत्रता आन्दोलन के शूर शिलेदारो!/सुन रहे हो इनकी बात/ये जनजातियों के इतिहास को/क्रांतिकारी स्वर्णिम अध्याय को/जान-बूझकर नजर अंदाज कर रहे हैं/ये तुम्हारी सन्तति को-/दैत्य असुर, राक्षस, पिशाच के नाम से अभिहित करते रहे/उपेक्षित करते रहे/समझा नहीं मनुष्य उन्हें/दुःख दर्द जाना नहीं/माँगते रहे अँगूठा/जिस्मदान या/राह पूछते रहे शबरी से/तुम्हारी सन्तति घायल आज भी।/क्षत विक्षत कराह रही है/ये शूल बनकर चूभ रहे हैं/रौंद रहे हैं/कलियों को पैरो तले।[21]

सम्रगता से यदि विचार किया जाये तो जनजातीय जीवन आज भी अपने समूहों में ईमानदारी, एकता एवं प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा है। हिन्दी कविता में जनजातीय जीवन की सच्चाई और सुख-दुःख आदि का सजीवता से वर्णन किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अम्बेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित आदिवसी जनजातीय विमर्श, डॉ0 विनय कुमार पाठक, पृ0सं0 फ्लैप से, संस्करण-2006, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली।
2. जनजातीय विमर्श, डॉ0 ज्योति मिश्र, भूमिका से- पृ0सं0 2, प्रकाशन संस्थान, संस्करण 2003।
3. अम्बेडकरवादी सौंदर्यशास्त्र और दलित आदिवासी जनजातीय विमर्श, डॉ0 विनय कुमार पाठक, पृ0सं0 615, संस्करण-2006, नीरज बुक सेंटर, दिल्ली।
4. भवानी प्रसाद मिश्र, डॉ0 विजय बहादुर सिंह, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, संस्करण-1992, पृ0सं0 61।
5. समकालीन सृजन, भवानी प्रसाद मिश्र के आयाम, सं0 शम्भूनाथ, अंक-16, पृ0सं0 177, बालमुकुन्द मक्कर रोड, कलकत्ता, संस्करण 1995।
6. वही, पृ0सं0 249।
7. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ-2, संपादक- शोभाकान्त मिश्र, पृ0सं0 200, प्रकाशक-वाणी प्रकाशन, संस्करण 1989।
8. वही, पृ0सं0 171
9. चन्दन वन या कण्टक वन, अंगदा सिंह बिसेन, पृ0सं0 17, संस्करण-1997, उर्मिला प्रकाशन, मुम्बई।
10. चन्दन वन या कण्टक वन, अंगदा सिंह बिसेन, पृ0सं0 26, संस्करण-1997, उर्मिला प्रकाशन, मुम्बई।
11. फूल और पंखुडिवा-2001, सं0 इन्द्रबहादुर सिंह, पृ0सं0 220, प्रकाशक भारतीय जनभाषा प्रचार समिति, ठाणे, संस्करण 2001।
12. वही, पृ0स0 31
13. काई ढके शिलाखण्ड, डॉ0 रविनाथ सिंह, आवृत्ति प्रथम, पृ0सं0 9, प्रकाशक- पत्रकारिता एवं कहानी संस्थान, प्राचीन रामनगर, वाराणसी।
14. आईना टूटा है मन का, डॉ0 इन्द्र बहादुर सिंह, पृ0 63-64, प्रकाशक- स्वर्णाक्षरी प्रकाशक, मुम्बई, संस्करण-1986
15. भवानी प्रसाद मिश्र, सं0 विजय बहादुर सिंह, पृ0सं0 26, संस्करण 1992, प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
16. भवानी प्रसाद मिश्र, सं0 विजय बहादुर सिंह, पृ0सं0 118, संस्करण 1992, प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
17. भवानी प्रसाद मिश्र, सं0 विजय बहादुर सिंह, पृ0सं0 126, संस्करण 1992, प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
18. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ-2, संपादक-शोभाकान्त मिश्र, पृ0सं0 98, प्रकाशक-वाणी प्रकाशन, संस्करण 1989।
19. इतिहास का नया पथ, डॉ0 इन्द्रबहादुर सिंह, पृ0सं0 158, उर्मिला प्रकाशन, मुम्बई, संस्करण-1993।
20. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में जनजातीय संस्कृति स्मारिका, संपादक डॉ0 कमल कुमार बोस, मुकुट सक्सेना की कविता, पृ0 16, प्रकाशक- हिन्दी विभाग, सन्त ज़ेवियर कॉलेज, राँची, प्रथम आवृत्ति-2001।
21. पलाशवन, डॉ0 इन्द्रबहादुर सिंह, पृ0सं0 88, सम्पादक डॉ0 अजीत कुमार राय, सरस्वती प्रकाशन, मुम्बई, संस्करण-2002।

धूमपान, तम्बाकू सेवन एवं गुलमंजन के भयावह परिणाम

*डॉ0 श्रीधर द्विवेदी**

(1) 'उसने कहा था' के लहना सिंह का जमाना – आज के चिकित्सकीय परिप्रेक्ष्य में

हिंदी के स्वनामधन्य कहानीकार पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी की एक कहानी 'उसने कहा था' पचास के दशक में अत्यंत लोकप्रिय कहानियों में से एक थी। उसका मुख्य पात्र सिक्ख सैनिक लहना सिंह है। वह विश्व युद्ध में ब्रिटेन की तरफ से जर्मनी की सेनाओं से लड़ाई लड़ रहा था। इसी दौरान एक जर्मन भेदिया युद्ध में आ गया और मित्रता बढ़ाने के उद्देश्य से उसे सिगरेट देते हुए बोला कि पूर्व में मैंने अपने अधीनस्थ भारतीय सिखों के साथ सिगरेट का खूब आनंद लिया है। बुद्धिमान लहना सिंह तुरंत ताड़ गया कि यह ब्रिटिश पल्टन में आया कोई जासूस जर्मन सैनिक है जिसे भारत के सिक्खों के सिगरेट न पीने के विषय में कुछ अता-पता नहीं है। उसने आव देखा न ताव उस जर्मन जासूस की वहीं कपाल क्रिया कर दी। यह कहानी जब लिखी गयी तब यह शत प्रतिशत सच था कि सिक्ख युवक या युवती सिगरेट धूम्रपान कत्तई नहीं करते। तम्बाकू हाथ नहीं लगाते थे। अलबत्ता सिक्ख फौजी या ट्रक उद्योग में लगे लोग शराब तब भी चोरी छिपे पी लेते थे। परन्तु तेजी से बदलते आज के समाज में क्या हम ये बात दृढ़ता कह सकते हैं कि सौ प्रतिशत सिक्ख सिगरेट नहीं पीते? तम्बाकू नहीं खाते? शायद 99% सिक्ख विशेषतः सरदारनी महिलायें धूम्रपान अभी भी नहीं करती हैं। इस तथ्य को ध्यान में रख कर हम अपने चिकित्सा विद्यार्थियों को हमेशा यह बताते हैं कि सिक्ख पंथ के लोगों से धूम्रपान या सिगरेट के विषय में पूछते समय बहुत सावधानी बरतें जिससे उनकी धार्मिक भावना आहत न हो। क्या आप धूम्रपान करते हैं या तम्बाकू खाते हैं? उन लोगों से यह सीधे सीधे पूछने की गलती कभी नहीं करना चाहिए।

आज के समय में जब हृदयघात (दिल का दौरा), ब्लड प्रेशर और डायबिटीज की महामारी हमारे चारों तरफ विकराल रूप में फैली हुई है और हर चौथा-पांचवां आदमी इनमें से किसी एक का रोगी है तथा इन सब बीमारियों का एक प्रमुख कारण तम्बाकू और धूम्रपान है। हमें कभी कभी कुछ ऐसे उदाहरण सिक्ख मरीजों के मिल जाते हैं जो उस पक्की लकीर के अपवाद होते हैं कि सिक्ख धूम्रपान नहीं करतें हैं। इसलिए हर चिकित्सक का इस अपवाद का ध्यान अपने मन-मस्तिष्क में, विशेषतः उस समय जब उसे किसी अनसुलझी समस्या से सामना करना पड़े, जरूर रखना चाहिये। प्रस्तुत है मानव मन के इसी पहलू को दर्शाती हुई दो घटनाओं का संक्षिप्त वृतांतः

एक छत्तीस वर्षीय संभ्रांत सिक्ख परिवार की महिला को घर पर रात में अचानक चक्कर आता है। चक्कर के साथ साथ छाती में दर्द की शिकायत होती है। घर वाले उसे निकट के अस्पताल में ले आते है। ई सी जी की जाँच होती है। ई सी जी में दिल में गड़बड़ी के कुछ संदेहास्पद चिन्ह मिलते है। ईको टेस्ट किया जाता है उससे भी कुछ असामान्य बातें मिलती है। पर खून के टेस्ट में हृदयाघात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उसने इसके पूर्व किसी अन्य दिल की बीमारी, ब्लड प्रेशर या डायबिटीज होने से इंकार किया। किसी प्रकार की गर्भ निरोधक गोलियों के सेवन की बात पूछने पर उसने बताया कि वह ऐसी कोई गोली नहीं लेती अलबत्ता थायरॉयड के लिए विगत पांच वर्षों से नियमित औषधि लेती है। किसी अन्य प्रकार की औषधि या गोली से उसने पूर्णतः इंकार कर दिया। धूम्रपान के विषय में पूछने पर भी उसने प्रथम दृष्टया मना कर दिया। सीने में दर्द, ई सी जी व ईको में गड़बड़ी का ध्यान में रखते हुए उसे गहन चिकित्सा कक्ष में रखने का निर्णय लिया गया परन्तु वह मानी नहीं और अपनी मर्जी से घर चली गयी। घर पर उसे फिर सीने में अत्यंत तीव्र दर्द उठता है और वह अर्ध रात्रि में अस्पताल लायी जाती है। पुनः ई सी जी किया गया। इस ई सी जी में तीव्र हृदयाघात के चिन्ह साफ साफ उभर आते हैं। विज्ञान सम्मत प्रोटोकॉल के अनुसार हृदय धमनी का एंजियोग्राफी करने का निर्णय किया गया। एंजियोग्राफी के बाद पता चला कि उसकी बांयी हृदय धमनी की मुख्य शाखा में पूर्ण अवरोध था। कैथिटर द्वारा अवरोध हटाया गया। नस पूर्ण रूप से अवरोधमुक्त की गयी। फलस्वरूप हृदय नलिका में पूर्ण रक्त प्रवाह पुनः लौट आया। उसके अंदर औषधियुक्त छल्ला भी लगाया लगा जिससे भविष्य में उस नलिका में फिर अवरोध न हो सकें। परन्तु एक बात चिकित्सकों को परेशान कर रही थी कि आखिर इस इकहरे बदन की चुस्त-दुरूस्त महिला को हार्ट अटैक क्यों पड़ा? कहीं न कहीं दाल में कुछ काला अवश्य है? हम लोग किसी महत्वपूर्ण जोखिम तत्व को पकड़ नहीं पा रहें हैं।

उन्होंने दूसरे दिन सबेरे उससे फिर पूछा क्या आप किसी प्रकार की गोली या तम्बाकू आदि का सेवन करती हैं? सिक्ख महिला सकपका गई। बोली आप इतना पूछ रहें हैं तो बता रही हूं।

---

* वरिष्ठ हृदय रोग विशेषज्ञ, नेशनल हार्ट इंस्टिट्यूट विशिष्ट संकाय, दिपसरू, नई दिल्ली एवं संयुक्त प्रोफेसर, जामिया हमदर्द मेडिकल इंस्टिट्यूट

मैं क्लब में जाकर धूम्रपान करती हूं। सिगरेट के अलावा गांजा भी पीती हूं। शराब से भी परहेज नहीं करती। परन्तु आप यें बातें मेरे परिवार को कत्तई न बतायें। अब तस्वीर साफ थी। उस महिला का इस कम उम्र में सिगरेट और गांजा पीने के कारण इतना तीव्र हृदयघात पड़ा। इसमें थोड़ा बहुत योगदान अल्कोहल का भी रहा होगा।

इस घटना ने मुझे कुछ वर्षों पूर्व गहन चिकित्सा कक्ष में भर्ती उस सिक्ख युवक की याद दिला दी जिसे सीने में बहुत तेज दर्द के कारण उसके परिवार वाले अस्पताल लाये थे। देखने में वह नौजवान अत्यंत दुबला-पतला था परन्तु उसके सर और दाढ़ी के अधिकांश बाल सफ़ेद थे। ई सी जी में हार्ट अटैक के चिन्ह थे। उसकी शुगर भी बढ़ी हुई थी। ध्यान से देखने पर उसके दांतों और मसूढ़ों में तम्बाकू जैसी चीज खाने-चबाने के निशान थे। पूछने पर उसने स्वीकार किया कि वह काफी दिनों से सुर्ती खैनी खाता है। विधवा माँ ने छाती पीट पीट कर मत्था ठोंक कर कहा यही तो रोना है डाक्टर साहेब कि यह सुर्ती खाता है। अब यह स्पष्ट था कि इस नौजवान सिक्ख को भरी जवानी में दिल का दौरा क्यों पड़ा-संभवतः इस दौरे के पीछे उसकी सुर्ती-खैनी तथा डायबिटीज जिम्मेदार थी।

सिक्खों के धूम्रपान न करने की लक्ष्मण रेखा को लांघने वाले ये दोनों प्रकरण हमें यह सोचने के लिए बाध्य अवश्य करतें हैं कि हम इस बात का ध्यान मरीज से बात करते समय और उनका परीक्षण करते समय विशेषतः मुँह के अंदर धूम्रपान या तम्बाकू का निशान मिलने पर हम उनसे बड़ी संजीदगी से एक बार उनकी धूम्रपान या तम्बाकू की आदत के विषय में जरूर पूंछ लें। आज का समय 'उसने कहा था' के लहना सिंह का जमाना नहीं रहा।

(2) गुल न करें-इससे दिल की बत्ती गुल हो सकती है

मेरे एक वरिष्ठ हृदय रोग विशेषज्ञ साथी मुझे कल का अपना निजी अनुभव बता रहे थे। उनके पास एक पच्चीस वर्षीय बिहार निवासी महिला आयी। उसके साथ छह वर्षीय बेटी और पति महोदय थे। बोली जी बहुत घबराता है। पसीना होता है। धड़कन होती है। चिकित्सा महोदय ने बड़े मनोयोग से उसकी परीक्षा की। शरीर में कोई विशेष कहरबी नहीं दिखी। थोड़े परेशां थे आखिर इसे हुआ क्या? कुछ न कुछ तो परेशानी जरूर है। वे इस विषय में विचार कर ही रहे थे कि उसकी छह वर्षीय पुत्री पिता के कान में जाकर कहा 'पापा मम्मी ने 'गुल' के विषय में डाक्टर अंकल को कुछ बताया ही नहीं'। अब विशेषज्ञ मित्र को निदान के विषय में कुछ आशा की किरण दिखाई दी। उन्होंने साथ आये पति से पूछा बच्ची क्या कह रही है? पति महोदय ने बताया की उनकी पत्नी दिन भर में करीब 7-8 बार गुल करती है। चिकित्सक महोदय का माथा ठनका। जिज्ञासावश उन्होंने गुल दिखाने का आग्रह किया। पति ने गुल का डिब्बा बाहर निकाला। चिकित्सा महोदय ने उत्सुकतावश गुल की कुछ मात्रा अपने मुख में डाली। अरे यह क्या हुआ? गुल को मुंह में डालते ही उसकी तीक्ष्ण महक व् स्वाद के चलते कुछ क्षणों के लिए उनका सर घूम गया। भयंकर घबराहट हुई। गुल बाहर थूकना पड़ा। कुल्ला करना पड़ा। ऐसा होता है गुल का शरीर और हृदय पर असर। अब उनकी समझ में आ गया क्यों उस युवती को घबराहट और पसीने के दौरे पड़ते थे। उन्होंने उसे तुरंत गुल बंद करने की सलाह दी। बोले तुम्हारी बीमारी तुम्हारे हाथों में है।

- ऊपर का प्रकरण सुनते ही मुझे एक अन्य युवा महिला चिकित्सा की याद आ गयी जो गर्भवस्था के दौरान नित्यप्रति गुल करती थी। उसे प्रसवकाल के कुछ दिनों पूर्व सीने में भयंकर दर्द हुआ। पहले तो तीव्र हृदयघात का संदेह हुआ। परन्तु सी टी एंजियो से पता चला की उसे ऐसा दर्द पल्मोनरी थ्रॉम्बोसिस के कारण हुआ है। तमाम परीक्षणों के पश्चात यह पता चला कि उसे अत्यधिक 'गुल' के प्रयोग से ऐसा हुआ है। ऐसी हो सकती है गुल करने की चरम परिणति। इसीलिए कहा गया है कि गुल न करें-इससे दिल की बत्ती गुल हो सकती है।

- एक साधारण प्रश्न हर आम आदमी के मन में उठता है आखिर गुल में ऐसा क्या है जो इसके प्रयोग से दिल घबराता है। मन अजीब हो उठता है। गुल तम्बाकू का एक प्रकार है। इसमें निकोटिन नामक तीक्ष्ण रसायन होता है। निकोटिन के कारण हृदय गति तेज हो जाती है। उसमे कम्पन होने लगता है। पसीना आने की सम्भावना बढ़ जाती है। दांत और मसूढ़े क्षतिग्रस्त होने लगते हैं। कैंसर की संभावना बढ़ जाती है। गुल के अंदर कुछ अन्य पदार्थ रक्त नलिकाओं के अंदर थ्रॉम्बोसिस का बढ़ावा देने की प्रवृत्ति पैदा कर सकते हैं। लोग बाग गुल की नाना प्रकार की विषमय दुष्प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ रहते है और अनजाने में इसे लेते रहते हैं।

निष्कर्ष- इसका निष्कर्ष यह है कि धूमपान, तम्बाकू सेवन एवं दाँतों के लिए गुल मंजन का प्रयोग मनुष्य जीवन के लिए अत्यन्त हानिकारक है, जिसका अत्यन्त भयावह परिणाम उसके जीवन को नष्ट कर सकता है। अतः इनके प्रयोग से स्वयं को और आत्मीयजनों को बचाना चाहिए।

●

अभिज्ञानशाकुन्तले प्रणय विमर्शः

डॉ0 पवनकुमार शास्त्री[*]

प्रणयः परस्परं प्राप्यते। काञ्चिन्नारीं विलोक्य पुरुषहृदये, पुरुषं विलोक्य च स्त्रीहृदये वा प्रणयः क्रमश ृअंकुरति, पल्लवति, विकसति, फलति च। एतस्य प्रणयस्य साफल्यार्थं सन्देशप्रेषणं, प्रेमपत्रादिलेखनं, प्रत्यक्षवार्तालापाः, प्रणयप्रस्तावा इत्यादयो भवन्ति। सैव प्रणयः प्रशंसनीयो भवति यत्सदाचारसमर्थितो भवति। यच्च पितृपितामहैः, सदाचारिभिः, संरक्षकैरभिभावकैश्चानुमोदितो भवति। यदि प्रणयः सदाचारसम्प्लुतो भवति तदा कदाचिद्वियोगोऽपि जायते, किन्तु कश्चित्कालानन्तरे एव तत्र पुनर्मेलनमपि भवति। अस्माकं नाट्यसाहित्यस्य गौरवभूते 'अभिज्ञानशाकुन्तलमि'ति नामधेये नाटके महाकविना कालिदासेन अस्यैव प्रणयस्य प्रकर्षः समुपस्थापितः।

अत्र दुष्यन्तः शकुन्तलां प्रेक्ष्य आदौ सदाचारविषये एव विमृश्यते-'शकुन्तलेयं कुलपतेः कण्वस्यौरसकन्या (ऋषिकन्या) अस्ति? अथवा असवर्णक्षेत्रसम्भवा अस्ति? इयञ्च परिग्रहयोग्या अस्ति न वेति? दुष्यन्तः विस्तरेण अनुसन्दधाति-

दुष्यन्तो भणति- कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला? (शाकु.1)

अथवा.....अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा भवेत्?

अथवा कृतं सन्देहेन -

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

तथापि तत्वत एवैनामुपलप्स्ये। (शाकु.1)

अत्र प्रेयस्याः प्रथमदृष्ट्यावलोकितेनोत्पन्नोऽनुरागः दुष्यन्तहृदि 'इयं पत्नीत्वेन ग्राह्या न वे' ति विमर्शरूपं धृत्वा विकासमधिगच्छति। सः सदाचारी अस्ति। सः स्वस्यान्तःकरणप्रवृत्तेः निर्मलत्वं जानाति। सः तस्यामन्तःकरणप्रवृत्तौ विश्वसिति च, तथापि यावत्सः शकुन्तलायाः परिचयं विस्तरेण न जानाति तावत्सः तस्यामनुरक्तो न भवति।[1] अत्र संवादे स्थितः श्लोको दर्शनीयः।

अनेन भारतीयाया आचारपरम्पराया उत्कर्षो ध्वन्यते। शकुन्तला दुष्यन्तं विलोक्य निजमनसि उद्भूतमनुरागं प्रत्याश्चर्यमनुभवति। सा भणति यत् 'कथमिदं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'[2] अत्र द्रष्टव्यमस्तीति यच्छकुन्तला एका कुमारिका, अननुभूता कामदशा चास्ति। अतस्तया 'कामवशीभूतास्मी' त्यादि स्फुटवाक्यं न प्रयुक्तम्। महाकवेः कालिदासस्य सूक्ष्मदृष्टिः शकुन्तलायाः कौमार्यावस्थां पश्यति। अतस्तेन 'तपोवनविरोधिनो' इति वाक्यखण्डं प्रयुक्तम्।[3] अनेन शकुन्तलायाः शिष्टत्वं सम्पादितम्।

प्रथमदर्शनानन्तरे यदा प्रियतमः, प्रियतमा च प्रस्थानं कुरुतः तदा द्वावेव वियोगदुःखमनुभवतः। अभिज्ञानशाकुन्तले शकुन्तलादुष्यन्तयोर्दुःखानुभूतिस्तयोच्छीलादिभिः सम्प्लुता अस्ति यथा-

शकुन्तला-नैतं जनं पर्यहरिष्यम्, यद्यात्मनः प्राभविष्यम्।

(शाकु. 1)

दुष्यन्तः- शकुन्तलादर्शनादेव मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति। न खलु शक्तोऽस्मि शकुन्तलादर्शनव्यापारादात्मानं निवर्त्तयितुम् । मम हि-

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।

चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥ (शाकु. 1)

अत्र शकुन्तलाहृदये दुष्यन्तं प्रत्यङ्कुरितस्यानुरागस्य सुकोमलं परिचयं प्राप्यते। यदाच दुष्यन्तः शकुन्तलायामनुरक्तस्य चित्तस्य निवर्त्तनमशक्यमनुभवति। द्वावेव प्रियवियोगे कष्टानुभूतिं कुरुतः किन्तु तौ प्रणयिनमवरुद्ध्यर्थं किमप्याङ्गिकं, वाचिकं वा चेष्टा न कुरुतः।[1] अतः परं कालिदासो वर्णयति यथैका नवाङ्कुरिता लता अग्रे प्ररोहार्थं कश्चिदवलम्बो वाञ्छति तथैव प्रथमदर्शनेनाङ्कुरितः प्रणयोऽपि अग्रे पल्लवनार्थं कस्यचित्साहाय्यमपेक्षते। अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तः विदूषकेण स्पष्टतया साहाय्यं याचते। स भणति-

दुष्यन्तः-विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्। (शाकु अंक 2)

इत शकुन्तला लोकलज्जावशीभूता तूष्णीत्वमेव धारयति। सखीभ्यामनेकशः पृष्टा सा आदौ मौनं धारयति। ततः महता क्लेशेन निजप्रणयं प्रकटीकरोति। सकलसंलापा एवंविधास्सन्ति -

अनसूया पृच्छति -सखि! प्रष्टव्याऽसि किमपि। बलीयान् खलु ते अङ्गानां सन्तापः।...

हला शकुन्तले! अलब्धान्तरा वयं ते मनोगतस्य वृत्तान्तस्य, किन्तु यादृशी इतिहासकथानुबन्धेषु कामिजना-नामवस्था श्रूयते, तादृशी तवेति तर्कयामि। तत्कथय किन्निमित्तं ते अयं आयास इति? विकारं परमार्थतोऽज्ञात्वा अनारम्भः किल प्रतीकारस्य।

प्रियंवदा भणति - सुष्ठु खल्वेषा भणति। कमेतमात्मानं उपद्रवं निगूहसि? अनुदिवसं खलु परिहीयसे। अङ्गेषु लावण्यमयी छाया केवलं त्वां न मुञ्चति। (शाकु अंक 3)

---

* लेखक साहित्य-विद्या- वारिधि एवं वरिष्ठ साहित्यकार हैं। अध्यक्ष-साहित्य संगीत परिषद्, काशी।

शकुन्तला- (निःश्वस्य प्रत्युत्तरं ददाति) **कस्य वा अन्यस्य कथयिष्यामि, किन्तु आयासहेतुका वो भविष्यामि।**

उभे भणतः -सखि! अतएव निर्बन्धः। स्निग्धजनसंविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति।

शकुन्तला भणति-यतः प्रभृति तपोवनरक्षिता स राजर्षिर्ममदर्शनपथं गतः...

उभे - कथयतु, कथयतु प्रियसखी।

शकुन्तला- ततः प्रभृति तद्गतेन अभिलाषेण एतावदवस्थास्मि संवृत्ता।

उभे- दिष्ट्या खलु ते अनुरूपे वरे अभिलाषः। अथवा सागरमुज्झित्वा कस्मिन् महानद्या प्रवेष्टव्यम्?

(शाकु. अंक 3)

शकुन्तला -..तद् यदि वामनुमतम्, ततस्तथा प्रवर्त्तितव्यम् यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामीति। अन्यथा स्मरतं माम्।

(शाकु. अंक 3)

प्रियंवदानुसूयेति सख्यौ शकुन्तलायाः प्रणयं समर्थयतः।ते तस्याः प्रणयस्य साफल्यार्थं तस्यै प्रेमपत्रलेखनार्थमुत्साहितं कुरुतः। शकुन्तला नलिनीपत्रे निजमनोदशां लिखति वाचयति च-

शकुन्तला-(यथोक्तं रूपयित्वा) **हला! शृणुतं तावत् सङ्गतार्था न वेति-**

तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवाऽपि रात्रिमपि।

निष्कृप! तापयति बलीयस्तव हस्तगतमनोरथानि अङ्गानि।। **(शाकु.अं.3)**

अत्र प्रियतममुद्दिश्य शकुन्तलया गीतिर्नामछन्दसा विरचितं मदनलेखं समुपस्थापितमस्ति। श्लोकेऽस्मिन् मदनतापमसहमाना शकुन्तला सोपालम्भं निजदशां निवेदयन्ती प्रार्थयते। अत्र प्रयुक्ताः शब्दाः गूढार्थान् व्यञ्जयन्ति। यथा- 'निष्कृप' इत्यनेन सम्बोधनपदेन 'राज्ञा लोकसन्तापापनोदनस्य कर्त्तव्यत्वादत्र तु सम्राजा त्वया मम सन्तापं जानताऽपि प्रतिकाराप्रतिविधानादिति भावो निःसरति। 'हृदयमि' ति विशेषोपादानेन स्वस्योत्कण्टातिशयस्तस्य तु तदभाव इति द्योत्यते। ननु तथासति स्वहृदयनिवेदनमनुचितम्, अनुचितत्वेऽपि तत्करोमीत्याशयेनाह-'ममेति'। 'तव हस्ते मनोरथः'-यथा अन्यो जनः करस्थितं वस्तु स्वेच्छामात्रेण अन्यथाकर्त्तुं शक्नोति तद्वत्त्वमपि ममाभिलाषं पूरयितुमपूरयितुं वा शक्नोषीति भावः। तापयति, व्यथयति लटा तापावसानं न दृश्यत इति सूच्यते। अत्र प्रणयप्रलेखस्य रचनाकार्ये त्रीणि आधारभूतानि सूत्राणि प्राप्यन्ते। यथा—

1—आत्मनः प्रणयस्य, मदनतापजनिताया दुरवस्थायाश्च निवेदनम्।

2—प्रियतमस्य उपेक्षाव्यवहारं दर्शयित्वा तस्य उपालम्भनम्।

3—आत्मनोऽभिलाषं पूरयितुमामन्त्रणम्। इति।

अत्र प्रेमपत्रेऽस्मिन् शब्देषु तीक्ष्णत्वेन सह माधुर्यं, शिष्टत्वञ्चाप्यस्ति। अत्र प्रयुक्ताः शब्दाः मदनलेखलेखने सहायका भवितुमर्हन्ति। अत्र प्रयुक्ताः शब्दाः, मनोभावाश्च मदनलेखलेखने मानका इव तिष्ठन्ति। दुष्यन्तोऽअत्र लताव्यवहितः (गोपितसर्वावयवः) तिष्ठति। संगमोत्सुकः सः नायिकायास्तादृशाधिगतामवस्थामवलोक्य तथाविधां गीतिकां च श्रवणसुधीकृत्य पत्रोत्तरदातुं स्वयमेवात्मानं प्रकटयति, वक्तिच-

दुष्यन्तः- तपति तनुगात्रि! मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।

ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमुद्वती दिवसः।।

(शाकु.अं.3/श्लो.20)

अभिज्ञानशाकुन्तले प्रणयप्रस्तावस्योपस्थापनं, प्रेयसी-प्रियतमयोर्मध्ये प्रत्यक्षवार्त्तालापश्च प्रणयव्यवहारस्य मानकौ स्तः। भूतवर्त्तमानभविष्यदिति कालत्रयाणां सम्यक्प्रकारेणानुशीलनं कृत्वा विशेषतः भविष्यकाले कन्यायाः विवाहोत्तरजीवनेऽपि सुखमेव भविष्यतीति विनिश्चित्य सुमधुरैः शब्दैः विवाहप्रस्तावः कर्त्तव्यो भवति। यत्र विवाहोपरान्ते कस्यापि दुःखस्य सम्भावना भवति तत्र तस्याः सम्भावनायाः निराकरणमपेक्षितं भवति। अनेनैव प्रकारेण प्रणयार्थमपि यत्र प्रणयस्य विवाहरूपसाफल्यं निश्चितं भवति तत्रैव प्रणयप्रस्तावः शोभते अन्यथा द्वितीयेन पक्षेन निरादृतः सः प्रस्तावः शोकास्पद अपमानकरश्चैव भवति। अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्ताग्रे प्रियंवदानसूयाभ्यां समुपस्थापितः प्रस्तावः विमर्शयोग्योऽनुकरणीयश्चास्ति। यथा-

प्रियंवदा-महाभाग! द्वयोरपि युवयोः अन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः, सखीस्नेहः पुनर्मां पुनरुक्तवादिनीं करोति।

दुष्यन्तः - भद्रे! नैतत् परिहार्यम्। विवक्षितं ह्यनुक्तमनुतापं जनयति।.....

प्रियंवदा-आश्रमवासिनो जनस्य राज्ञा आर्त्तिहरेण भवितव्यमिति। नन्वेषधर्मः।

दुष्यन्तः- अस्मत्परं किं तत्।....

प्रियंवदा - तेन हि इयं नः प्रियसखी त्वामेव उद्दिश्य भगवता मदनेन इदमवस्थान्तरं प्रापिता।

तदर्हसि अभ्युपपत्या जीवितमस्या अवलम्बयितुम्।

दुष्यन्तः - भद्रे! साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि।

शकुन्तला - (अनसूयामवलोक्य) **हला! अलं वाम् अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन।**

अनसूया - बहुवल्लभाः खलु राजानः श्रूयन्ते। तद्यथा इयं नः प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा करिष्यति।

(शाकु. अंक 3)

प्रणय-प्रस्तावस्यास्योत्तराण्यपि श्लाघनीयानि सन्ति-

क-दुष्यन्तः- भद्रे! साधारणोऽयं प्रणयः। सर्वथाऽनुगृहीतोऽस्मि ।.....

ख-दुष्यन्तः- इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिते हृदयं मम ।

यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे! मदनवाणहतोऽपि हतः पुनः॥

ग-दुष्यन्तः-भद्रे! किं बहुना?

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ (शाकु. अंक 3)

अतः परं प्रणयियुगलमध्ये प्रत्यक्षवार्त्तालापाः प्रस्तूयते। अभिज्ञानशाकुन्तले प्रणय-वर्द्धका प्रत्यक्षवार्त्तालापाश्चापि मननीयास्सन्ति। यथा-

शकुन्तला -अर्हति खलु महाराज! इमं विषोढुम् । परोक्षं वा न किं को मन्त्रयति ?

दुष्यन्तः - (सस्मितम्) **अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु! तवाङ्गसङ्गमृष्टे।**

कुसुमास्तरणे क्लमापहेऽत्र स्वजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्॥
(शाकु. अंक 3)

अत्र शकुन्तलया 'महाराज'इति साभिप्रायं भणितमस्ति। महाराजेति पदं क्षमायोग्यत्वं सूचयति। विषोढुं प्रमार्ष्टुमिति। यथा महानुभावाः केनचित् साधारणजनेन कृतमपरोक्षमपवादं हेयत्वबुद्ध्या सहन्ते, न तत्रात्मानमवसादयन्ति तथा भवानपि मयि साधारणप्रजाजनत्वबुद्ध्या मत्कृतापराधं नावसादयितुमर्हतीति तात्पर्यम्, किन्तु दुष्यन्त अभिधास्यमानवाक्यस्य कौतुकयुक्तत्वात्प्रथमं स्मितं करोति। ततः सः सामोदं सकौतुकञ्चात्मनो रतिप्रार्थनां प्रस्तौति। दुष्यन्तवचनेन तस्य प्रणयव्यवहारकौशलं सूचयति। शकुन्तलायाः क्षमापनप्रार्थनायास्तेन महताकौशलेन आत्मनो लाभार्थं विनियोगः कृतः।

शकुन्तला-कथं गते एव प्रिय सख्यौ?

दुष्यन्तः - सुन्दरि! अलमावेगेन, नन्वयमाराधयिता जनस्ते सखीभूमौ वर्त्तते। तदुच्यताम्–

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं, सञ्चालयामि नलिनीदलतालवृन्तम्।

अङ्के निधाय चरणावुतपद्मताम्रौ, संवाहयामि करभोरु! यथा सुखं ते (अभिज्ञान शाकुन्तलम्- अंक 3)

अत्रैकदा पुनरुपर्युक्तमिवाचरितं दुष्यन्तेन। सखीविषये चिन्तितायाः शकुन्तलायाः शान्त्यर्थं दुष्यन्तोऽत्र सखीवृत्तिमनुसर्तुमपि समुत्सुको दृश्यते। प्रियतमाया लज्जापनोदयितुं प्रियतमेन कृतः प्रयासोऽत्र दर्शनीयः।

शकुन्तला - मुञ्च, मुञ्च माम्; न खलु आत्मनः प्रभवामि; अथवा सखीमात्रशरणा किमिदानीमत्र करिष्यामि?
(शाकु. अंक 3)

अत्र शकुन्तलायाः प्रथमसमागमजन्यं लज्जाप्रदर्शनमाह्लादयति। राज्ञा बलात्परिग्रहेण लज्जाद्याकुलया तया ससम्भ्रमेण सविनयेन च भणितं 'मुञ्च' इति। 'मुञ्च मुञ्च'इति सम्भ्रमे द्विरुक्तिः।

दुष्यन्तः - न कथमात्मनः प्रियं करिष्ये ? (उपसृत्य पटान्तमवलम्बते)

शकुन्तला - पौरव! रक्ष, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः सञ्चरन्ति। (शाकु. अंक 3)

अत्र दुष्यन्त आत्मानं पृच्छति-'न कथमि'ति। सुखस्य सर्वजनेप्सितत्वाद् यथाऽवसरमुपादेयत्वाच्च 'अयमुपस्थितोऽवसरः'इति 'किञ्चिद् बाधाभावाद् बलाद्रमणकर्मानुष्ठास्याम्येवे'ति राज्ञोऽभिप्रायः।शकुन्तलोक्तौ 'पौरव' इति पदं राजानं तस्य वंशख्यातिं स्मारयति। 'तादृश' महावंशप्रभावाणां नेदृशोऽविनयः श्रुतपूर्वस्तस्मात् सर्वथैव तवेदृशोऽविनयोऽनुचित' इति।'विनयं सौजन्यं वंशपरम्परयाऽयातशिष्टाचारमित्यर्थः।

दुष्यन्तः - सुन्दरि! अलं गुरुजनाद्भयेन, न ते विदितधर्मा तत्र भवान् कण्वः खेदमुपयास्यति। यतः –

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयोऽथ मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥
(शाकु. अंक 3)

अत्र शकुन्तलाया धर्मभीरुता तथा गुरुजनाद्भीतिमालोचयञ्शास्त्रानुमति-प्रदर्शनेन तदीयामाशङ्कामपनेतुं भणितमस्ति 'विदितधर्मा'इति पदं कण्वस्य श्रुतिस्मृतिलोकाचारेति सर्वधर्मरहस्यज्ञत्वं सूचयति, गन्धर्वविवाहस्य च शास्त्रसम्मतत्त्वं प्रतिपादयति। अत्र दुष्यन्तस्य कन्यानुवृत्तिचातुर्यमुपदर्शितमस्ति। संवादेऽस्मिन् 'श्रूयन्ते' इति पदमितिहासपुराणादिषु वर्णितान् प्रणयप्रसङ्गान् स्मारयति। पुनश्च 'पितृभिश्चानुमोदिताः'इति श्लोकांशो न केवलं शकुन्तलाया भयमपनोदत्यपितु तस्या उत्साहोऽपि वर्द्धयति। क्षत्रियाणां पक्षे गान्धर्वस्य मुख्यत्वादिति भावः।

दुष्यन्तः - (सव्याजं विलम्ब्य, प्रतिमोच्य) **सुन्दरि! दृश्यताम्–**

अयं स ते श्यामलतामनोहरं, विशेषशोभार्थमिवोज्झिताम्बरः।

मृणालरूपेण नवो निशाकरः, करं समेत्योभयकोटिमाश्रितः॥

शकुन्तला- न तावदेनं प्रेक्षे, पवनकम्पितकर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः।

दुष्यन्तः - (सस्मितम्) **यद्यनुमन्यसे तदहमेनां वदनमारुतेन विशदां करवाणि।**

शकुन्तला - तत अनुकम्पिता भवेयम्, किन्तु पुनरहं न ते विश्वसिमि।

दुष्यन्तः - मा, मैवम्। नवो हि परिजनः सेव्यानामादेशात् परं न वर्त्तते।

शकुन्तला - अयमेव अत्यादरः अविश्वासजनकः।

दुष्यन्तः - अयि! मदिरेक्षणे! अलमस्मदविनयाशङ्कया।

शकुन्तला - (किञ्चित् दृष्ट्वा व्रीडावनतमुखी तिष्ठति)

दुष्यन्तः - (अङ्गुलीभ्यां मुखमुन्नमय्य आत्मगतम्)

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाऽधरः॥

(शाकु. अंक 3)

अत्र दुष्यन्त आत्मनः पुष्पपरिधापनकलाया वैशिष्ट्यप्रदर्शनार्थं शकुन्तलाया हस्ते नवीनस्थानगस्य मृणालवलयस्य सौन्दर्यं निरूपयति। अयमपि नायिकाया अनुरञ्जनार्थं नायककृतैकः प्रयासोऽस्ति। किन्तु पुनर्मुग्धात्वं दर्शितं शकुन्तलया। सा राज्ञः पुष्पपरिधापनकलायाः प्रशंसामकृत्वाऽऽत्मनो नेत्रयोः(तत्कालमेव समुत्पन्नं)कलुषत्वं वर्णयति। एवं कृते दुष्यन्तस्य पुष्पपरिधापनकर्मणि निहितम-नुरागातिशयमन्तरैव तिष्ठति। वस्तुतः प्रियाप्रियतमयोर्मध्य आचरिताः प्रणयव्यवहारा न कदापि परस्परं प्रशंसामपेक्षन्ते। अतएवात्र शकुन्तलया महता कौशलेन दुष्यन्तस्य मृणालवलयपरिधापनक्रियां शब्दबन्धनैरबद्ध्वा तस्य सम्मानं रक्षितम्। अपि च व्याजस्वरूपं आत्मनेत्रकलुषत्वं निरूप्य तया प्रियस्पर्शजनितस्य सुखस्यैकं नवीनं द्वारमुद्घाटितम्। राजाऽपि 'चुम्बनदानेऽनुकूलोऽयमवसरः सम्प्राप्तः'इति मनसि निधाय स्मितं कृत्वाऽनुज्ञां याचति 'यद्यनुमन्यसे' इति। वाक्येऽस्मिन् 'वदनमारुतेन'(फूत्कारेण)इति पदं स्मितकरणञ्च राज्ञो मनोभावं प्रदर्शयति। अन्यथा नेत्रनिर्मलीकर्त्तुं जलेन नेत्रप्रक्षालनमुत्तरीयस्य अग्रभागेन प्रोक्षणादीनि अनेकानि विकल्पानि आसन्। उपर्युक्तां शकुन्तलया कृतामाशङ्कामपवारयितुं दुष्यन्तोऽत्र भणति 'मा मैवमि'ति। 'मा' इति पदस्य द्विरुक्तिः तामाशङ्कां सर्वथानिर्मूलयितुमेव प्रयुक्ताऽस्ति। पुनश्चात्मन नूतनसम्बन्धस्य ऋजुतां दर्शयितुं दुष्यन्तो भणति-'नवो हि परिजनः' इत्यादिः। यथाऽचिरोपगतः सेवकः सेव्यानामादेशादतिरिक्तं कार्यं न किञ्चिदपि करोति तथाऽहमपि दृष्टिविशदीकरणरूपमेव तवादिष्टं विना न गण्डचुम्बनादिकं करिष्यामीति।

शकुन्तला - भवतु प्रकृतिस्थदर्शनाऽस्मि संवृत्ता। लज्जे पुनरनुपकारिणी प्रियकारिण आर्यपुत्र!

दुष्यन्तः - सुन्दरि! किमन्यत्?-

इदमप्युपकृतिपक्षे सुरभिमुखं ते यदाघ्रातम् ।
ननु कमलस्य मधुकरः सन्तुष्यति गन्धमात्रेण॥

शकुन्तला -(सस्मितम्) **असन्तोषे पुनः किं करोति?**

दुष्यन्तः - इदम्। (इति व्यवसितः)

शकुन्तला - (वक्त्रं ढौकते)

(शाकु. अंक 3)

प्रत्युपकाराकरणाद् लज्जितां शकुन्तलामाश्वासयितुमत्र दुष्यन्तो भणति 'इदमि'ति। संवादोऽयं राज्ञो बुद्धिचातुर्यं वाक्कलाकौशलञ्च सूचयति। तेनात्र महता कौशलेन शकुन्तलाया वदनस्य प्रशंसां विधाय आत्मनोऽधरपानेच्छा अपि प्रकाशिताऽस्ति। यथा मधुपानार्थी भ्रमरः कमलस्यमधुनोऽलाभेऽपि तद्गन्धमात्रमाघ्रायैव परितुष्यति तथा तवाधरपिपासुरप्यहं मुखसौरभमाघ्रायैव परमतोषमाप्नोमीति त्वत्कृत एवाऽयं मम महानुपकार इति।अत्र प्रशंसामुखेनात्मनोऽभीष्टप्रकाशनं न केवलं शोभनमस्त्यपितु प्रणयिजनैरनुकरणीयमप्यस्ति। एका नवीना रमणी प्रियतमेन प्रशंसिता भूत्वा एव तस्मै आत्मानं समर्पयतीति निष्कर्षोऽत्र सम्पद्यते।अत्र शकुन्तलाया लज्जाभावः सर्वथा निर्गत इति सूच्यते। राज्ञस्तादृशं वचनंश्रुत्वा सा कौतुकेन भणति 'असन्तोषे' इति। अत्र वचनभङ्ग्या मम सुरभिमुखमाजिघ्रतोऽपि भवतः सन्तोषाभावे सति भवान् किं करिष्यतीत्यर्थो व्यज्यते। सर्वदा वाक्यस्य वाक्येनैव समाधानमावश्यकं न भवति। कदाचित्प्रत्यक्षक्रियादिभिरपि समाधानं भवति। अत्र शकुन्तलावचनं श्रुत्वा दुष्यन्तस्तस्या मुखं चुम्बितुमुद्यतो भवति। मधुकरः कमलगन्धेन सन्तोषमलभमानश्चेत्तदा तेऽधरपानेऽहमिव कमलमधुपाने व्यवसितो भवतीत्यर्थः। प्रसङ्गेऽस्मिन् शकुन्तलायाः कौतुकपूर्णवचनं श्रुत्वा दुष्यन्तस्य चुम्बनदाने उद्योगः समुत्कर्षकारको वर्त्तते।

अतः परं विप्रलम्भमूलकान् संलापानुपस्थापयामि।'विप्रलभ्यते वञ्च्यते आत्मा अनेन' इति विप्रलम्भः। ईप्सितं प्राप्तिकामनया जनाः तस्याभीप्सितस्य कल्पनां कुर्वन्ति। तया प्राप्तितुल्यानन्दो भवति किन्तु प्राप्तिर्न भवति। अपिच यत् प्राप्तिसमानन्दो भवति तद्वञ्चनामात्रमेवास्ति। अतः वञ्च्यते आत्मा अनेन इति विप्रलम्भः। पदार्थस्य अस्तित्वं नास्ति किन्तु आत्मा अनुरक्तो भवति। यथा पुष्पं नास्ति किन्तु मनसि एवं प्रतीयते यत् पुष्पमस्ति। एवं सप्राणवर्णनमस्ति येनास्तित्वं प्रतीयते। किमधिकं मृगमरीचिकेव विप्रलम्भोऽपि आत्मानं छलयति।

अभिज्ञानशाकुन्तले सन्ति बहवः संवादा ये विषयेऽस्मिन् प्रकाशं प्रक्षिपन्ति। संवादेष्वेषु शब्दसौष्ठवं भावप्रकाशनमित्यादयो विषया प्रतिपादिता। वक्तव्यपोषणार्थं गुणरूपशीलादेः कथं वर्णनमस्तीत्यपि विशदेन प्रतिपादितास्सन्ति। वियोगावस्थायामेव स्नेहस्य परीक्षा भवति। शृंगाररसस्योत्कर्षोऽपि विप्रलम्भ एव दृश्यते। तत्रादौ अङ्गुलीयकदर्शनेनारूढस्मृतेः दुष्यन्तस्य शकुन्तलावियोगे भणितानां संवादानामनुशीलनं प्रस्तूयते—

दुष्यन्तः- (ध्यानमन्दं परिक्रम्य)

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्।।
(शाकु. अंक 6)

अत्रार्याजात्यां निबद्धेऽस्मिन् श्लोके राजा दुष्यन्तः शकुन्तलायास्तादृशप्रत्यादेशमनुस्मृत्य सानुशयमात्मनो निर्वेदचिन्तादिकान् भावान् प्रकाशयति। अत्र 'सारङ्गाक्ष्या'इति पदेन मृगपोतसलिल-प्रदानसमये कृतपरिहासस्यानुस्मरणं कृतमस्ति दुष्यन्तेन।

दुष्यन्तः - धिङ्, मामुपनतश्रेयोऽवमानिनम्–

संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नामकुलप्रतिष्ठा।

कल्पिष्यमाणा महते फलाय बसुन्धरा काल इवोप्तबीजाः।। **(शाकु. अंक 6)**

दुष्यन्तोऽत्रात्मानमेवापराधिनं मन्यमानः सनिर्वेदं भणति— 'धिगि'ति। 'श्रेयः' पदेनात्रापन्नसत्वा शकुन्तला विवक्षिता तथाच पदेनानेन शकुन्तलागर्भस्य प्रशंसाऽपि ध्वन्यते। संवादस्यास्य गद्यांशे 'उप नतमि'ति पदं (स्वयमेवोपस्थितमित्यर्थः) वैशिष्ट्यकारकमस्ति। इमं गद्यांशमेव विशदीकुर्वन् राजा श्लोकं पँति।अत्र बसुन्धरादि परार्द्धस्थितमुदाहरणं मूलप्रसङ्गेन साम्यातिशयं धारयति।अपिच बसुन्धरेति विशेष्यवाचकपदेनान्वर्थवशादुपमेयभूतायामपि शकुन्तलायां सादृश्यसम्बन्धेन रत्नोपमविनयौदार्यधैर्य-सौन्दर्यादिरमणीललामगुणगणप्राचुर्यं ध्वन्यते। अत्र 'धर्मपत्नीपरित्यागकृत' इत्येव नाऽपराधः, सन्तति-विच्छेदस्याप्यहमेवहेतुरिति शोकातिशयोऽत्र निर्वेदाद्युपस्कृतो गम्यते। अतः परं पतिपत्न्योर्मध्ये भणिताः संवादाः प्रस्तूयते-

शकुन्तला - उत्तिष्ठतु आर्यपुत्रः! नूनं मे सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीत्। येन सानुक्रोशोऽपि आर्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।

दुष्यन्तः - प्रिये! अवलम्ब्यतां पुत्रः, त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला - लज्जे खलु आर्यपुत्रेण सार्द्धं गुरुजनसमीपं गन्तुम्।

दुष्यन्तः - आचरितव्यमेतदभ्युदयकालेषु तदेहि तावत्।
(शाकु. अंक 7)

अनुभूतविरहतापो दुष्यन्त इदानीं शकुन्तलां पत्नीत्वेनाङ्गीचकार इत्यालोच्य मारीचाश्रमस्थितया शकुन्तलया सह संलपिता वार्त्ता अत्र पतिपत्न्योर्मध्ये भणिताः संवादा इव मन्यते। शकुन्तलाऽनुनय-प्रकाशपूर्वकं पादयोः प्रणतं पतिमुत्थापयन्ती भणति उत्तिष्ठत्विति। मम पूर्वजन्मानुष्ठितकर्मणो दुरदृष्टव-शादेव दुःखभोग आसीत् येन मयि अनुरागातिशयेन सदयोऽपि भवान् विरसः सञ्जातः, न भवतोऽपराध इति तात्पर्यम्। अत्रानेन संवादेन (वाक्येन वा) शकुन्तलायाः सौशील्यादिगुणातिशयः प्रकाश्यते। ततः शकुन्तलादुष्यन्तयोर्मध्ये सदाचारमधिगृह्य तर्कवितर्कं भवति। दुष्यन्तः पुत्रभार्यासहितो भूत्वा मारीचस्य समीपं गन्तुमिच्छति। अनेन अभ्युदयसम्भावना सूचिता भवति किन्तु शकुन्तला राजनियोगानुष्ठानमङ्गीकुर्वती सलज्जां भणति 'लज्जे' इति। पत्या सह गुरुजनसमीपे गमनं लज्जाकरमिति शकुन्तलाया आशयः। अनेन स्त्रीगतमौचित्यं ध्वनितं भवति। दुष्यन्तः शकुन्तलाया लज्जां परिहरन् सङ्गतिं भणति 'आचरितव्यमिति'। अभ्युदयिककालेषु भर्त्रा सह गुरुसाक्षात्कार आचार एव अतो न लज्जितव्यमिति तात्पर्यम्। इति शम्।

पाद टिप्पणी

1- अतः परं सः प्रियंवदानसूयाभ्यां शकुन्तलाविषयकं सर्वं वृत्तान्तं पृच्छति। अस्याः शकुन्तलाया विवाहो भविष्यति न वेति प्रश्नोऽपि स प्रकारान्तरेण पृच्छति। सर्वेषां निजप्रश्नानामुत्तरमनुकूलं प्राप्य स राजर्षिराश्वस्तो भवति, भणति च-

दुष्यन्तः-(सहर्षमात्मगतम्)**भव हृदय साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।**

आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्।। (शाकु. अंक 1)

2- **(देखें - शाकु . अं-1)**

3- यद्यपि विक्रमोर्वशीये स्वयं महाकविना कालिदासेन स्फुटशब्दावली प्रयुक्तास्ति, तथाप्यत्र स्थानसमयादीन् प्रेक्ष्य तेनैवं प्रयुक्तम्।

उर्वशी-अयं ममापहस्तित लज्जोव्यवसायः। मदनःखलु मां नियोजयति। किमत्र सम्प्रधार्यते।

लक्षणावृत्तिविमर्शः

डॉ0 सिद्धिदात्री भारद्वाज[*]

लक्षणा शब्दगा वृत्तिर्व्यञ्जनावृत्तिपूर्वगा।

प्रथमां काव्यसत्प्राणा याऽभिधामुपजीवति।।

भाषाया व्युत्पत्तिमवगन्तुं व्याकरणाध्ययनमावश्यकं भवतीति जानन्ति तद्विदः। तद्वत्काव्यविषयकं नैपुण्यमवाप्तुं अलङ्कारशास्त्रस्याध्ययनमावश्यकं भवतीति न तिरोहितं तत्रभवतां भवताम्। रसः, गुणः, दोषः, अलङ्कारः, वाचकः शब्दः, वाच्यः अर्थः, शब्दशक्तिः तात्पर्यम् इत्यादिविषयाणां सम्यग् अवबोधः अलङ्कारशास्त्राध्ययनेन विना न सम्भवतीति अलङ्कारशास्त्रस्य परमोपादेयता चकास्ति। अलङ्कारशास्त्रस्य अध्ययनेन काव्यस्य किं स्वरूपम्? वर्णनीयस्य दोषस्य किं स्वरूपम्? रसधर्मस्य गुणस्य किं स्वरूपम्? शब्दार्थालङ्काराणाम् अनुप्रासादीनाम् उपमादीनां वा किं स्वरूपम्, रसस्य काव्यात्मता कथमित्यादिजिज्ञासायाः समाधानं सम्यक्तया संजायते। तत्र सत्सु बहुविधेषु अलङ्कारशास्त्रग्रन्थेषु काव्यप्रकाशस्य उपपत्तिकौशलमण्डितस्य काचन विशेषाढ्यता स्वीक्रियते काव्यानुशीलनपरायणैर्विद्भिः समीक्षणैः।

अथ काव्यशास्त्रस्य कृते अलङ्कारशास्त्रम् इत्येतदभिधानं केन निमित्तेन प्रवृत्तमिति जिज्ञासा स्वरसतः समुदेति। तत्र करणव्युत्पत्त्या निष्पन्नः 'अलंक्रियते अनेन' इति अलंकारः, सोऽयं शब्दः अनुप्रासादिकं शब्दालंकारम् उपमादिकम् अर्थालंकारं वा बोधयति। अथ 'अलंकृतिः अलंकारः' इति भावव्युत्पत्त्या निष्पद्यमानः अलंकारशब्दस्तु किमपि विशिष्टं सौन्दर्यं प्रबोधयति। यत् दोषाणाम् अपगमः, गुणानां रसोत्कर्षसाधनता, अलंकाराणां सुषमासंवर्धनता वा चकास्ति तादृशं सौन्दर्यमेव भावव्युत्पत्त्या निष्पन्नेन अलंकारशब्देन प्रबोध्यते। उपर्युक्तसौन्दर्यप्रतिपादनात् अलंकारशास्त्रमिति व्यपदेशः प्रारभत इति समामनन्ति काव्यशास्त्रतत्त्वविदः। अर्थद्वयमप्येतद् यथासन्दर्भं सुप्रकाशितम् – आचार्यवामनेन। तद्यथा– 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् इति।[1] ''सौन्दर्यमलङ्कारः''[2] इति च। अलङ्कारशब्दोऽयं भाववचनः।

यस्तु करणव्युत्पत्त्या निष्पन्नः अलङ्कारशब्दः शब्दालङ्कारम् अर्थालङ्कारम् उभयालङ्कारं वा अर्थं प्रबोधयति तस्यालङ्कारस्य अथ च रसस्योत्कर्षविधायिनः गुणस्य काव्ये उपादानं, दोषाणां तु हानं नितराम् अपेक्षितं भवति। यदुक्तम् –

'स दोषगुणालंकारहानोपादानाभ्याम्' इति।[3]

अयि काव्यतत्त्वविदः। दोषाणां हानं गुणानान्तु उपादानं काव्यत्वसम्पत्तये परमावश्यकं भवति। अलङ्कारकृतचारुत्वं विना तु शब्दार्थयोः काव्यत्वमेव न निर्वहतीति अलङ्कारशब्देन काव्यशास्त्रस्य व्यपदेशः सर्वथा युज्यते। यदुक्तं मम्मटाचार्येण वृत्तौ-

'स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि।

अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्।। इत्यादौ

विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्तकौ इति।[4] आचार्येणानेन अलंकाराणां काव्यव्यवहारप्रयोजकत्वं मुखतः सूत्र्यते। तद्यथा- **'काव्यवृत्तेस्तदाश्रयादिति।'**[5]

अथ ये प्राचीनाः आचार्याः, अलंकारशास्त्रस्य रचयितारः सम्बभूवुः- दण्डी, भामहः, भट्टोद्भटः, रुद्रटः वामनश्च तैः सर्वैः ध्वन्यमानस्य अर्थस्य वाच्योपकारकतया अलङ्कारपक्षे निक्षिप्तता अङ्गीक्रियते। ततश्च अलङ्कारस्यैव काव्यात्मता प्राज्ञैः स्वीक्रियते। तदेवम् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति' न्यायेन काव्यशास्त्रस्य कृते अलंकारशास्त्रमिति व्यपदेशः प्रारभतेति नात्र किञ्चित् असमञ्जसम्।

परन्तु अर्वाचीनैः आनन्दवर्धनाचार्यैः गूढविमर्शिभिः ध्वन्यालोकग्रन्थे ध्वन्यमानस्यैवार्थस्य गुणालङ्कारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्यं प्रसाधितमिति अलंकाराणां प्राधान्यं सुतरां खण्डितम् अभूत्। तदनुलोचनकृताभिनवगुप्तपादेन बहुधा उपपत्तिभिः ध्वन्यमानस्यार्थस्य काव्ये प्राधान्यं संस्थापितम् – तद्विरोधिनां मतानि तु समीक्ष्य सविस्तरं खण्डितानि। गच्छता कालेन मम्मटाचार्य्येण काव्यप्रकाशे रसस्य काव्यात्मता साटोपमुद्घोषिता। तद्यथा – 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः' इति सूत्रमादाय वृत्तिरारचिता- 'शब्दार्थौ काव्यस्य शरीरम्, गुणा रसस्य साक्षादुत्कर्षकाः, ''अलङ्कारस्तु शब्दार्थरूपकाव्यशरीरोत्कर्षद्वारा रसस्यैवोत्कर्षकाः, रसश्चात्मस्थानीयः।'' इति।[6]

तदेवं देहे आत्मनः प्राधान्यमिव काव्ये रसस्य प्राधान्यमिति सिद्धान्तः प्रधानतामश्नुते। नाऽत्र काचन विमतिः। अस्यां स्थितौ काव्यशास्त्रस्य कृते **रसशास्त्रम्** इत्येवं व्यपदेशः समीचीनः प्रतिभाति, परन्तु काव्यशास्त्रजगति अलङ्कारशास्त्रमिति प्राचीनव्यपदेश एवाधुनापि प्रसरति।

नाविदितमत्रभवतां यदलङ्कारशास्त्रमध्ये काव्यप्रकाशस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। तत्र काव्यस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासायाम् सूत्रितम् – 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। इति।[7] एतदनुरोधेन ग्रन्थस्यास्य दशसु उल्लासेषु विभाजनं विहितम्। तत्र प्रथमे समुल्लासे कविभारत्याः उत्कर्षातिशयं मङ्गलश्लोकेन प्रतिपाद्य काव्यस्य फलम्, कारणं स्वरूपं च निरूप्य त्रिविधः काव्यप्रभेदो निरूपितः।

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर,संस्कृत विभागः, कला संकायः काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

शब्दार्थौ काव्यम् इत्युक्तिमाधारीकृत्य प्रवृत्ते द्वितीये उल्लासे शब्दार्थविभागनिरूपणावसरे अभिधानिरूपणानन्तरं लक्षणाया निरूपणं समादृतम्। सम्प्रति त लक्षणामधिकृत्य वाचं व्यापारयितुं प्रवर्ते।

इदमत्र ध्येयम्– प्रभुसम्मितशब्दप्रधानं वेदादिशास्त्रम्, सुहृत्सम्मतार्थतात्पर्यवत् पुराणादीतिहासशास्त्रम् अथ च तदुभयविलक्षणं किल काव्यं नाम लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म सुकुमारमतीनपि कान्तासम्मितं मधुरमुपदिशति- 'रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवदिति।'

काव्ये वाचकस्य शब्दस्य वाच्यस्य अर्थस्य च गुणीभावः = अप्रधानता भवति। रसस्य शृंगारादेस्तु प्रधानता भवति। तत्र उपायभूतो व्यापारः किल विभावानुभावव्यभिचारिभावानां संयोजनं वा व्यञ्जना वा स्वीक्रियते।

अयमाशयः- शब्दः त्रिविधः- वाचकः लाक्षणिकः व्यञ्जकश्च। एषामर्थाः वाच्यः लक्ष्यः व्यङ्ग्यश्च क्रमेण भवन्ति। येन मुख्येन व्यापारेण वाचकः शब्दः वाच्यमर्थं बोधयति स तु अभिधा इत्युच्यते। यतश्च संकेतसहाय एव शब्दः अर्थविशेषं बोधयति अतः यस्मिन्नर्थे यस्य शब्दस्य अव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स शब्दः तस्य अर्थस्य वाचको भवति। यदुक्तम् – साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः। इति[8]

इदमत्र ध्येयं- संकेतज्ञानस्य अर्थप्रतीतिजनकत्वं तावत् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चीयते। संकेतितश्चार्थः चतुर्विधो भवति- जातिः गुणः क्रिया यदृच्छा चेति महाभाष्यकृतः। मीमांसकास्तु जातौ एव संकेतम् अभ्युपगच्छन्ति। यद्यपि गामानय, गां बधान इत्यादिना अर्थक्रियाकारितामादाय प्रवृत्तिः निवृत्तिर्वा व्यक्तावेव सम्बध्यते। अथापि गोशब्दस्य सर्वासु गोव्यक्तिषु संकेतस्वीकारो नोचितः आनन्त्याद्, नापि एकस्यां गोव्यक्तौ, व्यक्त्यन्तरे व्यभिचारात्। अतः चतुर्विधेषु उपाधिषु वाचकशब्दानां संकेतो गृह्यते। गौः शुक्लः चलः डित्थः इत्येवं चतुर्णां विषयाणां भेदाद् उपाधीनां चतुर्विधत्वमास्थीयते। सोऽयमुपाधिः प्रकारान्तरेण द्विविधः -

(क) वस्तुधर्मः

(ख) वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च

पुनश्च वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः- सिद्धः साध्यश्चेति। सिद्धोऽपि द्विविधः- पदार्थस्य प्राणप्रदः, विशेषाधानहेतुश्चेति। आद्यः जातिः द्वितीयः गुणः इत्युच्यते। साध्यस्तु क्रियारूपः यत्र पूर्वापरीभूततया अवयवभानं भाति-अधिश्रयणादारभ्य अवतारणपर्यन्तम्। एतच्च पाकक्रियायामवसेयम् अवयवभानम्। अधिश्रयणाद्यवतारणान्तबौद्धव्यापारसमूहात्मिकायाः पाकक्रियायाः विक्लित्त्यनुकूलत्वेन अनुगमो भवतीति व्यापारबहुत्वेऽपि न नानार्थता आपद्यते। द्वितीयेन गुणपदार्थतया न्यायादिदर्शने स्वीकृतेन शुक्लादिना लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते।

गुणलक्षणमुक्तं महाभाष्ये-

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।

आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः।। इति[9]

तत्त्बोधिनीकृताप्युक्तम् -

संज्ञाजातिक्रियाशब्दान् हित्वाऽन्ये गुणवाचिनः।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरित्याकरग्रन्थनिष्कर्षादेष निर्णयः।। इति[10]

डित्थ-डवित्थ-देवदत्तादिसंज्ञाशब्दानान्तु अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यम् संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा संकेतकेन यदृच्छया डित्थादिषु अर्थेषु उपाधित्वेन संनिवेश्यते। यदुक्तम् –

''संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।'' इति।[11]

शब्दव्यापारविचारग्रन्थे तु मम्मटेन जातिरेवेति

मीमांसकमतमाशङ्क्य खण्डितं, मण्डितस्तु

युक्तिप्रयुक्तिद्वारा जात्यादिरिति 'वैयाकरणपक्षः।[12]

तदेवं साक्षात् संकेतितार्थबोधकः, शक्त्यपरपर्यायः शब्दस्य मुख्यः व्यापारः वृत्तिर्वा अभिधा इत्युच्यते। यदुक्तम् –

'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते। इति।[13]

अभिधायाः अनन्तरं उपतिष्ठते-

अन्वयानुपपत्त्या तात्पर्यानुपपत्त्या वा मुख्यार्थबाधे मुख्यार्थस्य अमुख्येन लक्षणीयेन तटादिना अर्थेन सह सामीप्यादिरूपसाक्षात्सम्बन्धे सति रूढ़ितः= प्रसिद्धेः अथवा प्रयोजनात् शैत्यपावनातिशयत्वादिप्रतीतिरूपात् फलात् शब्देन यया वृत्त्या अन्यः अर्थः मुख्यार्थभिन्नः तटादिरूपः प्रतिपाद्यते सा वृत्तिः लक्षणा इत्युच्यते। सेयं लक्षणा शक्यतावच्छेदकारोपरूपा, शक्यसम्बन्धरूपा, वक्तृतात्पर्यरूपा वा इष्यते। यदुक्तम् –

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया।। इति[14]

अत्र 'अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा' इति वृत्तिविशेषस्य लक्षणं विद्यते। लक्षणायां किं बीजम्? को वा हेतुरिति जिज्ञासायां तत्र त्रिविधं बीजमित्युच्यते- मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थयोगः, रूढिप्रयोजनान्यतरच्येति विवेकः। वृत्तौ स्फुटार्थकथनं नितरां श्लाध्यते काव्यशास्त्रानुशीलनपरायणैः- तद्यथा –

कर्मणि कुशलः इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात् गंगायां घोष इत्यादौ च गंगादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य बाधे, विवेचकत्वादौ, सामीप्ये च सम्बन्धे रूढ़ितः प्रसिद्धेः तथा गंगातटे

घोषः इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा। इति[15]

'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।' इत्यारभ्य 'तदेषा कथिता त्रिधा इत्यन्तेन' कारिकाभागेन लक्षणाप्रभेदाः उक्ताः। लक्षणाया आश्रयः लाक्षणिकः शब्द इत्याख्यायते तदेवं व्यङ्ग्यार्थसमर्पणोपयोगिनी लक्षणा अभिधामेवोपजीवतीति उक्त्वा वाग्व्यापाराद् विरमामि नमामि च वाग्देवीम्।

सन्दर्भ

1. काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः, सूत्र-1.
2. तदेव, सूत्र-2.
3. तदेव, सूत्र-3.
4. काव्यप्रकाशः, उल्लास-08, पृ0 472.
5. काव्यप्रकाशः, उल्लास-05, पृ0 213.
6. काव्यप्रकाशः, उल्लास-08, पृ0 462.
7. काव्यप्रकाशः, उल्लास-1. पृ0 25.
8. काव्यप्रकाशः, उल्लास-02, पृ0 31.
9. वोतो गुणवचनात् 4/1/44 सूत्रभाष्यम्।
10. तत्रैव सूत्रे तत्त्वबोधिन्याम्।
11. काव्यप्रकाशः, उल्लास-02, पृ0 32.
12. उद्धृतम्, बालबोधिनी टीका, पृ0 39.
13. काव्यप्रकाशः, उल्लास-02, पृ0 39.
14. काव्यप्रकाशः, उल्लास-02, पृ0 40.
15. काव्यप्रकाशः, उल्लास-02, पृ0 43.

●

TODAY'S WOMEN FROM MY SPECS

GARIMA UPADHYAY*AND DR. J. N. SINGH**

From the very beginning, the women from all over the world were treated unequally but Since women had a strong will to improve their status, they have managed to cast off her old shackles, male domination and make themselves in today's world. Nowadays woman has started scaling the ladders of social advance with dignity. According to poetesses Charlotte Bronte, "I am no bird and no net ensnares me, I am a free human being with an independent will."[1]. This quote inspires me always. It touches the heart of every girl, so do mine. Today's woman expects herself to be treated as an individual, a living human being, entitled to the same dignity and status as her male counterparts. Although every charter of Human Rights states that men and women are born equal and the same has been quoted in Article 14 and 15 of the Indian Constitution, the same is far from the reality.

In this paper I have made an attempt to give a brief view on today's women in changing scenario. Firstly I initiate this paper with the introduction of women, then Modern women of India, after that women empowerment with the government initiations and lastly conclude this paper. For the purpose of collecting data, Secondary sources are used.

A woman is a symbol of love, sacrifice, care and ability nurture life. They are traditionally well defined by the society is now experiencing changes. Women have succeeded in improving their status and are improving day by day. In this era men and women do not live in to water-tight compartments of bread-winning and home-keeping. Women also win bread and do many things besides. Men and women are becoming real partners. Gandhi ji once said, intellectually, mentally, and spiritually, woman is equivalent to a male and she can participate in every activity"[2]

It is true that behind every successful man there is a woman but it is also true that behind every successful woman there is also a woman and we call her 'Mother'. Life starts with women therefore I would like to initiate this paper with the women who recently crowned as Miss World, 2017[3], proves that there are many women who go outside their homes to perform well in their chosen fields, can own the world. During the final round she was asked which profession, according to her deserves on the highest salary and she said that a mother deserves the highest respect and as far as salary is concerned, it's not about the money but about the love and respect she deserves, with this answer she declare that there are many women who sit at home are still own the world. Woman like Manushi chhillar (Miss World 2017) brings the hope that every girl has the potential to hold the world in their fist but they need support and she receives it from their mothers. If you read about the successful women you found that, behind their success there is a fantastic contribution of their mothers. She is the one who gives the birth, and teach us the first alphabet of life. Mother is an achiever we just cannot leave out.

This paper is not successful to fulfill their aim without highlighting some of those women who have played spectacular role for changing the perception of women in Indian society such as Mrs. Vijaylaksmit Pandit, first Indian woman President of UN General Assembly (1953), Indira Gandhi, second woman Prime Minister in the world (1966-1977), Kalpana Chawla, first Indian woman to go to space (2003), and many more whose contribution have proved to be more than a match. The journey of women's was not stopped here it continuous. Even every year brings a change in the world of women.

Women in Modern India

Development in the field of science and technology, universalisation of education, socio-political movements, modernization and recent developments have changed the approach of society towards women to a certain extent. Now, As a result, Indian women feel that they too have their own individuality, self-respect, talent, capacity and efficiency. In other words it's boosted the morale and self-confidence of women. Many of those women,

∗Research Scholar, Deptt. of Sociology, FSS, Banaras Hindu University.
∗∗Professor, Deptt. of Sociology, FSS, Banaras Hindu University.

who could grab the opportunities, have proved that they are capable of discharging the responsibilities assigned to them on par with men. The Constitution of India provides equal rights and opportunities to women. It does not make any discrimination on the grounds of sex. Indian women are also responding positively regarding this changed situation. Their efforts and role in shaping a nation's development have proved that women are in no way inferior to men. They are efficient and perseverant enough to face all odds, challenges and obstacles to prove themselves in a male dominated society. Sarojini Naidu, Sucheta Kriplani, Arundhati Bhattacharya, Indra Nooyi, Chanda Kochhar, Kalpana Chawala, Sunita Williams, Saina Nehwal, P.V. Sandhu, Priyanka Chopra etc are some of the women who are contributing in their unique way in the journey of the development of women in India.

Whether, it is media, science research, stock exchange, foreign affairs, sports etc. women have shown their ability of decision-making, hard work and professionalism in all spheres. They are the building blocks of nation building. From Sita to Sunita Williams, are not only celebrated women but has also changed the perception regarding women. Their contribution to society in whole and Women in particular is priceless.

Women Empowerment and Government Interventions

Women empowerment means emancipation of women from the social, economical, political, and gender-based discrimination. It means there should be no discrimination between men and woman. Nowadays Women participate in every field of life but due to the deep-rooted patriarchal mentality in Indian society, women are still victimized, humiliated, tortured and exploited. The Government has been making effort to slowly realize the first step of the War towards Women Empowerment started under the Constitution of India such as: Right to equality under Article 14 of the Indian Constitution guarantees to all Indian women equality before law; Equal pay for equal work under Article 39(d), guards the economic rights of women by guaranteeing equal pay for equal work; and Maternity Relief under Article 42, allows provisions to be made by the state for securing just and humane condition of work and maternity relief for women.

Acts like- The Immoral Traffic (Prevention) Act, 1956, The Dowry Prohibition Act, 1961, The Maternity Benefit Act, 1961,The Medical termination of Pregnancy Act, 1971, The Equal Remuneration Act, 1976, The Commission of Sati (Prevention) Act, 1987, The Pre-Conception & Pre-Natal Diagnostic Techniques (Regulation and Prevention of Misuse Act), 1994,The Prohibition of Child Marriage Act, 2006 and The Sexual Harassment of Women at Work Place (Prevention, Protection and Redressed Act), 2013 are some of the legislations enforced with the aim to empower women. These proactive steps towards progressive legislative action have ensured that at least women have a fair chance to attempt becoming a part of the working population of this society, a chance towards being independent.

From my specs Women empowerment is a process, in which women challenge the existing norms and culture, to effectively promote their well being. Today, Women Empowerment is a constant battle and it is not a battle which can progress without co-operation from the society as a whole. Here are some recent Women Empowerment Schemes by the government of India mention below -

- Beti Bachao Beti Padhao Scheme
- One Stop Centre Scheme
- Women Helpline Scheme
- UJJAWALA : A Comprehensive Scheme for Prevention of trafficking and Rescue, Rehabilitation and Re-integration of Victims of Trafficking and Commercial Sexual Exploitation
- Working Women Hostel
- Ministry approves new projects under Ujjawala Scheme and continues existing projects
- SWADHAR Greh (A Scheme for Women in Difficult Circumstances)
- Support to Training and Employment Programme for Women (STEP)
- NARI SHAKTI PURASKAR
- Mahila E-Haat
- Mahila Shakti Kendras (MSK)
- Mahila police Volunteers

Nowadays women have shed away their inhibitions and fears. They are actively participating in every sphere of life and have been successful. They

participate into a battlefield of life fighting against social restrictions, emotional ties, religious boundaries and cultural clutches. After Independence, the political leaders realized the importance of women emancipation in the development of the country. They understood that the development of a country is not possible until the women are given an equal status. But sadly, the goal yet remains unfulfilled. It is high time that the society changes its attitude towards the women. The women must be treated at par with their male Counter parts. Their contribution in their respective fields needs to be acknowledged and applauded. On the professional front, they need to be provided equal opportunities as their male counterparts. Apart from these, a woman needs to understand her hidden potential. She needs to break down the barriers around her. Instead of looking for a role model, she needs to become a role model for others. It is only she who can unleash her hidden potential. She needs to believe in the fact that the hand that rocks the cradle, rules the world. The government should aim at eradicating the illiteracy among the masses. It is the education which can play an important role towards women empowerment. An educated woman is an asset to the country and forms the cornerstone of nation building. They are, both entitled to and responsible for contributing to national development but without disturbing familial peace, social harmony.

As far as government is concerned, it should have liberal policies for making jobs available to women as employment makes women not only economically strong, but socially and emotionally strong. Women like men have every right to feel secure, confident and happy and to be participating actively in the mainstream of a national growth, in solving all the problems of society and nation at every level. In this sequence regarding women, government needs to formulate strict laws to check the rising crime against women. It needs to ensure that these laws are implemented strictly and the crimes against women are completely rooted out. Swami Vivekananda has rightly quote "There is no chance for the welfare of world unless the condition of women is improved. It is not possible for a bird to fly on only one wing".

References

1. Bronte, Charlotte: “Jane Eyre”, 1847 (P.483)
2. Freedom Fighters of India, Agrawaal, Lion M.G., 2008 (P. 97)
3. Times of India, e-newspaper, 19 November 2017,(p.1)
4. Das Deenbandhu and Misha B.N.: “Women Empowerment – Perspectives of Development” in Kalpana Sinha (ed) ibid,2000 (chapter iv p.89-105)
5. ‘Yojna’, September 2016,
6. http://www.wcd.nic.in/schemes-listing/2405
7. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Notification_BBBP%20Fake%20Forms_0.pdf
8. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Final%20Approved%20Guideline%20OSC%20.pdf
9. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Revised%20WHL%20Guidelines%208092016.pdf
10. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Ujjawala%20New%20Scheme.pdf
11. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Working%20Women%20Hostel_about_revised_about.pdf
12. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Revised%20Guidelines%20Swadhar%20Greh%2C2015%20%28%20English%29.pdf
13. http://www.wcd.nic.in/schemes/support-training-and-employment-programme-women-step
14. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Paraforwebsite_0.pdf
15. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/About%20MSK%20scheme%20.pdf
16. http://www.wcd.nic.in/sites/default/files/Mahila%20E-haat%2024012017.pdf

●

SOCIAL INCLUSION AND HUMAN RIGHTS: SOME REFLECTIONS FROM CRIMINOLOGICAL PERSPECTIVE

PROF. BIBHA TRIPATHI*AND SHAMBHU SHARAN**

"We are cripples, we are afraid of everything, we depend on everyone, no one needs us....."

a blind woman.

As we all know that Human Rights and Social Inclusion are very wide and ambitious concepts talking mainly about equality, means developing the quality of being fair and impartial. The backbone of Human Rights ideology is anti discrimination. If we talk only about children than millions of children are there only in India, who are out of school because of poverty, gender, disability, caste, religion etc. apart from that, a new class of child in need of care and protection is also emerging in the era of LMP that is Liberalization, Marketization and Privatization. Parents are committing suicides due to enormous pressure of survival, maintaining high standard of living and crucial ego problems. They don't even care for their infant, adolescent children who just become orphan after that. Today's career oriented youth are challenging the institution of marriage on the one hand and trying to adopt a liability free life on the other hand. Everyone wants to exclude other from the mainstream and shows concern only for his Human Rights only.

Social Inclusion, Human Rights and Social Exclusion

The proclivity of committing crime is also increasing day by day. No matter he is an adult, or adolescent or child or a lady or an old man. Anybody can commit any crime to surprise the rest. Crime itself is an act of exclusion. Against this backdrop the paper attempts to discern the concept of social inclusion[i] from Human Rights[ii] perspective. Need not to mention that Human Rights are considered as universal, inalienable and inherent rights that derive from the inherent dignity of human person and simultaneously there is a dire need to concentrate that despite advances in human rights law, social exclusion[iii] is rampant across the globe due to the gap between legal principles and reality on the grounds.

Social Inclusion is one of the 30000 most commonly used words in the Collins Dictionary. Since the early 1990s social inclusion has gained much prominence as a central idea that guides policy making and community practice. Social inclusion is an aim or principle of justice; it means minimum level of welfare for every citizen. It's typical targets are child poverty, unemployed youth or racial minorities, Subaltern, Doubly Subaltern, Vulnerable, so on and so forth.

The paper attempts to establish that discrimination usually amounts to exclusion in some form and exclusion anywhere is a threat to inclusion everywhere. It would not be beyond the limits if said that exclusion perpetuates exclusion. People are socialized to be exclusionary and they are socialized to feel a sense of entitlement. Now the time has come when one should be ready to accept that telling the truth is not blaming, it is telling the truth.

Inclusion a method of study

Inclusion like Marxism and Feminism is a method of study, analysis, a standpoint, a way of looking at the world from the perspective of excluded. It questions government policies, popular culture, ways of doing and being, and asks how excluded people are affected by these ideological and institutional practices. Ultimately strives for promoting opportunity, facilitating empowerment and enhancing security.

If we look into the factors of exclusion, caste may be the single most determining factor of exclusion but the present paper attempts to highlight some more major factors of exclusion so that policies are made on the basis of such factors too if we really want to do inclusion.

Poverty: a way of exclusion

Though we all know about varied concepts of poverty and without indulging into them it is observed that the poverty may leave one more vulnerable to various forms of exclusion including certain forms of

* Professor, Law Faculty, Banaras Hindu University.
**Research Scholar, Law Faculty, Banaras Hindu University.

street violence. Poverty, prostitution and pornography as grand narratives can also be linked with. For a poor person everything is terrible: illness, humiliation, shame. The poor, the orphan and alike are in dire need of all sorts of advantageous policies initiated by the government.

Further, the paper attempts to analyse the politics of exclusion from the criminological point of view in which crime is seen as a form of exclusion. Since there are various theories of crime causation therefore, the paper attempts to establish a link between criminological theories and exclusion.

Pain and pleasure theory[iv]

The classical school of criminology basically deals with pain and pleasure theory. All the classical theorists agreed that all men including criminals, act rationally and deliberately to avoid pain and encounter pleasure. Following from that premises the criminal makes a deliberate, rational and hedonistic decision to engage in law breaking. If the Pain and pleasure theory is applied on exclusion than it would mean that through exclusion one gains pleasure and inflicts pain on the basis of his/her free will, rational choice and hedonism.

If the government or the public wants to rule out exclusion, it must do an intense research to discern the kinds of pleasure one gets in exclusion. Only then a due process can be adopted for inclusion.

Sociological school

According to Sociological school crime (exclusion) is a social fact, not an individual aberration and social fact requires social explanation[v]. In Differential association theory, Edwin H. Sutherland[vi] tried to explain that "Criminal (exclusionary) behavior is learned". The sociologist are always viewing the phenomena of crime and criminal behavior from the standpoint of social processes and the impact of social organization and the cultural heritage[vii].Here, one thing must be noticed that there is nothing inherent in people that make them exclusionary. Exclusion is not genetic. It is learned and what is learned can be de learned also and relearning of inclusion can solve the problem. It is adult who teach youngsters to exclude so it must be adult to teach youngsters to include.

Means and End theory

Robert K Merton[viii] has propounded the theory of cultural goals and institutional means. His thesis is based on the differential emphasis that societies place on cultural goals and institutional means[ix]. He tried to explain that lower class people are more deviant because of aspiration opportunity disjunction and they can even be retreaters or rebellion. On the basis of this theory it can be said that yester years of exclusion, oppression and discrimination may result in today's resentment, retreatism and tomorrow's rebellionism.

Delinquent sub-culture theory

Albert K. Cohen[x] has propounded the theory of Delinquent sub-culture. He claimed that crimes committed by the young could be explained by the subcultural values. He tried to show the conflict between middle class culture and labour class culture. His theory attempts to analyze that why the labor class is considered as delinquent? The theory can also be extended to establish that the Delinquent sub-culture is the result of continuous exclusion when youths experience the same kind of alienation from middle class ideals. Cohen's Status frustration and reaction formation can also be seen in the reactions shown by the excluded class. Time has come to realize that exclusion of today is criminality of tomorrow because they don't have anything to lose.

Marxist Criminology[xi]

Marxist Criminology is a critique of mainstream criminology. It is a method of study. According to this theory crime is a by-product of pathological capitalist culture. The Capitalist mode of production is exploitative mode of production. The criminal behavior is a consequence of repression, exploitation and brutalization. The outcast proletariats commit Crime. This theory put emphasis upon lack of guaranteed social space as prime root of crime. The anti social character of capitalist society leads towards continuous exclusion. Thus he provided solution that first of all the anti social character of capitalist society must be destroyed. Each man should be given social scope for the vital manifestation of his being. It says that if a man is shaped by his environment, his environment must be made humane. The theory suggests that to build socialism is to collectively shape a social space where each through free and scientific work, can assert his true individuality. The theory also emphasize upon one thing that crime commission will cease, once a genuine socialist revolution takes place.

Undoubtedly it can be said that if the governmental policies are following the core values of Marxist Criminology then not only the inclusion will

be possible but also the Human Rights of excluded shall also be preserved and protected.

Feminist Criminology

Feminism is a way of seeing the world. Not exactly a sexual orientation. To be a Feminist is to combine a Female Mental Perspective with sensitivity for those social issues that influence primarily Woman. Women in general feel exclusion and if they belong from the category of dalit then their exclusion becomes more painful.

Feminist Criminology is also a critique of 'mainstream' criminology. It opines 'mainstream' criminology as male-stream criminology. According to the feminist critique, the entire structure of International Human Rights is fundamentally male[xii]. Feminist criminology studies about women in the following parts, Women as offenders, Women as victims and Women as workers in criminal justice system. Through this school of criminology one can understand as to how women are excluded even in criminological studies.

Humanist Criminology[xiii]

The humanist criminological perspective opens the door for examination of elite deviance like corporate crime, state-sponsored violence, and violations of human rights. Peacemaking criminology is a by- product of Humanist Criminology. Richard Quinney the proponent of peacemaking criminology says that no amount of thinking and no amount of public policy have brought us any closer to understanding and solving the problem of crime. He further opines that crime is suffering. It tells us that social justice cannot exist unless we repair a serious ideological rift in the social fabric.

According to this branch of criminology it can be said that inclusion cannot be done unless we consider exclusion as suffering. To bring inclusion we have to end exclusion.

Concluding observations

A particular discipline is developed within its own limits and may not include other dimensions equally important for the society. Therefore, the paper attempts to touch three different dimensions of their respective discipline ie; Human Rights, Social Inclusion and Exclusion and criminological perspective. All three are also linked with law. It is said that Law's task is to discern the truth and it is an impartial, neutral and objective system for resolving social conflict. When exclusion is affecting badly the social fabric than the law must take its course of action so that a just and egalitarian society could be establi.

Suggestions on inclusion

Social change is subject to restructure in political and economic relation. Social inclusion will occur when there is ongoing advocacy, planning, support and commitment. Disability, discrimination and disparity will come to an end with equity, equality and egalitarianism. Till then we should follow Lord Budhha's saying that *"APP DEEPO BHAV*[xiv]**"**, meaning thereby, APNA *DEEPAK SWAYAM BANO.*

References

i. Since the early 1990s social inclusion has gained much prominence as a central idea that guides policy-making and community practice. Social inclusion may thus be conceived as an idea that extends beyond traditional discourses of the welfare state; it has the potential to embrace substantive concerns related to diversity and pluralism. As such, it can be envisioned as a set of processes that focus on major economic, political, and social systems that are together aimed at facilitating the movement of individuals, families, communities, and social groups in from the margins of society. see, Anthony Hutchinson and Bill Lee, Exploring Social Inclusion In Practice: Perspectives from the Field, Canadian Social Work Review / Revue canadienne de service social, Vol. 21, No. 2 (2004), pp. 119-136 Published by: Canadian Association for Social Work Education (CASWE) Stable URL: http://www.jstor.org/stable/41669807 Accessed: 08-09-2017 09:16 UTC JSTOR

ii. Amartya Sen, "Elements of a Theory of Human Rights" in Philosophy and Public Affairs, Vol 32, No. 4, Oxford University Press). – (2004):

iii. Social exclusion, or social marginalization, is the *social* disadvantage and relegation to the fringe of society. It is a term used widely in Europe and was first used in France. It is used across disciplines including education, sociology, psychology, politics and economics. https://en.wikipedia.org/wiki/Social_exclusion visited on 26th july, 2017.

iv. Jeremy Benthem. Introducation to the Principles of Morals and Legislation. 1789, and Cessare Beccaria, Essays on Crime and Punishment. 1764.

v. Emile Durkheim, http/en .m. wikipedia. org. accessed on 28th Nov 2017

vi. Edwin H. Sutherland, Donald R. Cessy Principles of Criminology, 11th edition, General Hall, Robhen & Little field publishers, 2NC, 1992.

vii. George B. Vold. Edwin Hardin Sutherland: Sociological Criminologist. American Sociological Review, Vol. 16, No. 1 (Feb. 1951). pp. 2-9 Published by: American Sociological Association Stable URL: http://www.jstor.org/stable/2087962 Accessed: 01/09/2011 04.

viii. Social Theory and Social Structure. The Free Press. New York. 1969.

ix. R.E. Hilbert and Charles W. Wright. Representations of Merton's theory of Anomy. The American Sociologist, Vol. 14, No. 3 (Aug, 1979)

x. Delinquent Boys: The Culture of the Gang. The Free Press. New York. 1955.

xi. Richard F. Sparks. A Critique of Marxist Criminology. Crime and Justice: Vol.2.

xii. Carol Smart, Women, Crime and Criminology, (1977).

xiii. L. Klein. Justice for Whom?: Assessing Humanist Criminology Jstor https://www.jstor.org/stable/27700329, 2002

xiv. https://preachingsofbuddha.blogspot.com/2013/08/blog-post.html.

●

ADJECTIVES IN HINDĪ AND GERMAN: A COMPARATIVE STUDY†

DR. PREM NIWĀS SINHĀ*

This Paper presents a comparative study of Adjectives in Hindī and German languages on the basis of descriptive approach. Both the languages belong to different sub-families of Indo-European language family. Hindī belongs to Modern Indo-Aryan of Indo-Iranian branch, while German belongs to West Germanic within the Germanic branch. Both the languages are major in its language families.

The term adjective is used for 'Visheşaŋ' in Hindī and das Adjectiv (das Eigenschaften/das Eigenschaft wort= quality word)' in German. Generally, "An adjective may be defined as a word which qualifies a noun and indicates the quality, kind, quantity, number etc. of the person or thing represented by the Noun."[1] It belongs to primary grammatical categories. Both the languages are rich in adjective construction and have certain features in common Adjectives are used predicatively and attributively as well in the two languages. This paper attempts to focus on similar and dissimilar declension, formation and comparison of Adjectives in both the languages. This study will be much useful in the language teaching.

A.1. Adjective in Hindī

Definition: (1) According to Āryendra sharmā, "An adjective is a word which qualifies a noun, a pronoun or an adjective"[1]

According to S. H. Kellogg: Adjectives fall into two classes, viz; uninflected and inflected. Uninflected Adjectives, as term implies, remain unchanged before all nouns and under all circumstances. Inflected adjectives all terminate in **'आ'** [ā] and correspond in all respects to Tadbhava nouns of the same termination, inflected to **'ए'** [e] in the oblique singular, The rules for the inflection of such Tadbhava adjectives are the same as those given for the inflection of the genitive post position,**'का'** [kā] . For example:

i. Uninflected Adjectives – sunder phu̲l- beautiful flower. sunder phu̲lon kā'- of beautiful flowers.

ii. Inflected Adjectives – kālā ghoṛā-black horse. kāle ghoṛe - black horses. kāle ghoṛe kā -the black horse's etc [2]

e.g. (i) vah ek lambā laṛkā hai. 'He is a tall boy'

(ii) rām ke pās ek lāl kalam hai. Ram has a red pen.

Here lambā (tall) and lāl (red) are adjectives. lambā qualifies the laṛkā (boy) and lāl (red) qualifies the kalam (pen). and laṛkā (boy) are nouns. Adjective whose direct singular masculine form ends-ā agree with nouns in gender, number and case: e.g.

(i) Singular-direct- achchā (good), masculine. achchhī feminine. Oblique-achchhe, masculine. achchhī, feminine.

(ii) Plural-direct- achche, masculine. achchhī, feminine. Oblique-achchhe, masculine. achchhī, feminine.

2. Kind of Adjectives

On the basis of quality, quantity and number, there are eight kinds of Adjectives in Hindī: [3]

1. gun vāchak Visheşaŋ (Adjective of quality) - The Adjective of quality describes the kind or quality or condition of the Nouns it qualifies. For example, according to shape/size, time, colour, taste, condition and behaviour etc. Adjectives of quality are as :

Size (ākār**) -** lambā (long), sudaul (suitable size), patlā (thin), etc.

Time (kāl**)-** nayā/naī (new), purānā (old) **p**rāchīn (ancient),etc.

Colour (rang)- lāl (red), pīlā (yellow), sunaharā (golden), etc**.**

Taste (swād**)-** mi̲thā (sweet), tikhā (bitter), khttā (sour) etc.

∗ Guest Professor, Deptt. of modern languages and linguistics, Sampurnānand Sanskrit University, Varanasi-02, U.P.

†This article is a revised version of the paper presented at the 31st all India conference of linguistics. Central University of Hyderabad (A.P.). on December 15-17, 2009.

Condition (dasā/avashthā)- achhā (good, nice), kharāb, burā (bad),etc.

Behaviour (Vyvahār)- dayālu (kind), Jhhuthā (false), pāpī (sinner), etc.

Note: The quality becomes less due to adding -sā with Adjective of quality. for example-

barā-sā, pilā-sa, chhotī-sī, etc.

Adjective ending in ā (including possessive adjective) change to ī when qualifying a feminine noun in any case or number: e.g. achchhā laṛkā (good boy), but achchhī laṛkī (good girl), achchhī laṛkiyā, achchhī laṛkī ko, achchhī laṛkiyon ko, etc.

2. pariman vāchak Visheşaŋ (Adjective of quantity): The Adjective of quantity indicates how much of a thing is involved. It is used before uncountable nouns. There are two kinds of Adjective of quantity.

i. Definite Adjective of quantity

ii. Indefinite Adjective of quantity.

for example:

i) Definite: do ser ghī (about two kilo ghī) das hāth jagah (ten hand place) etc.

ii) Indefinite: Kuchh chīnī (Some Sugar), Thoṛī chāy (a little tea), etc. For example: (i) tumhāre pās thoṛi chīnī hai - You have some sugar.

mujhe chār gaj kapṛā khaṛidanā hai - I have to purchase four yard cloth. etc.

3. sankhyā vāchak Visheşaŋ (Adjective of Number): Numerical Adjective: Adjective of Number indicates how many persons or things are meant and in what order. It is used before noun. There are two kinds of Numerical Adjective. (i) Definite Adjective of Number. (ii) Indefinite Adjective of Number.For example:

(a) Definite: It indicates the definite numbers. e.g. – ek pāv (one fourth), ek laṛkā (a boy), do hānth (two hands), pachīs rupaye (twenty five rupees) According to usage there are following kinds of definite number- Countable (Cardinal)- (gannā vāchak): ek (one), do (two), tīn (three), chālīs (fourty), sau (hundred), lākh (million) etc. In order (ordinal)- (kram vāchāk): pahlā (first), dusrā (second), etc, Frequentative- (āvriti vāchak): dunā/dugunā (double), tigunā (triple), etc. Multiplicative- ekbār (once), dobār/dubārā (twice) etc. Group (samudāy vāchak): dono (both), tīno (all of three), pāncho (all of five) etc. Distributive (vaysti vāchak/pratyek bodhak): pratyek (each), har-ek (every), do-do (two-two), ādhā-ādhā (half-half), koī (either) etc.

(b) Indefinite: It indicates the indefinite number .e.g. - kuchh log (a few people), sab/sabhī/kursiyān (all chairs).There are two kinds of countable numerical adjective:

purnānk bodhak (complete)-e.g. ek (one), do (two), paānch (five), sau (hundred), etc.

apurnpurnānk bodhak (incomplete)- e.g. - paun (one third), ādhā (half), svā (one and one fourth), etc.

4. sarvanāmik Visheşaŋ /sanket vāchak Visheşaŋ (Pronominal or Demonstrative Adjective): The demonstrative adjective points out which person, things or idea is mentioned. e.g. yah (this), vah (that), ye (these), ve (those).These are called maulik (fundamental) pronominal Adjectives. Nouns are used after these pronouns. e.g. yah ghar (this house), vah laṛkā (that boy), i) yah kalam merī hai. This is my pen, ii) ye laṛke lambe hain. These boys are tall. While in demonstrative pronoun-nouns are not used after yah (this), vah (that), ye (these), ve (those) etc.
Let's see the example.

	Demonstrative Adjective	Demonstrative Pronouns
(i)	Yah kitāb merī hai	yah merī kitāb hai
	This book is mine	This is my book
(ii)	vah thailā tumhārā hai	vah tumhārā thailā hai
	That bag is yours	That is your bag.

Other examples are :aisā ādmī - such man,jaisā desh - that country, These are called yougik (complex) pronominal adjectives.

5. sambandh vāchak Visheşaŋ (Possessive Adjective):- The possessive adjective shows possession or relationship. It is also used as demonstrative adjective; but in possessive adjective- i.e. merā (my), hamārā (our), tumhārī (your), uskā (his), uskī (her), unkā (their), iskā/iskī (its), etc. are used before noun and indicates the sense of right or relationship. for example-

i. yah merī ghaṛī hai. This is my watch.

ii. yah tumharī ghaṛī hai. This is your watch.

While in possessive pronoun these are used as:

i. yah ghaɾī merī hai.This watch is mine.

ii. ii) yah ghaɾī tumhārī hai. This watch is yours.

6. vyasti vāchak Visheşaŋ (Distributive Adjective): The distributive adjective indicates each one of two or more persons or things taken separately or in separate groups. It is also called pratyekbodhak.

e.g. - pratyek (each), koī (either), koī nahín (neither), har (every), etc.Nouns are used after these adjective. e.g. koī kalam (either pen), prtyek laṛkā (each boy), har koī (every body), etc.

7. prashn vāchak Visheşaŋ (Interrogative Adjective): The interrogative adjective is used with nouns to ask questions. For example, kis (what), kaun/kaun-sa (whose, which) are used before nouns, e.g. kis nām ko tumne kahā? What name did you say? kaun kitāb tumhari hai? Which book is yours?

While, in interrogative pronoun, these are used as- Interrogative Pronouns: e.g. what is his name? (ii) Which is your book? etc

8. yyakti vāchak Visheşaŋ (Proper Adjective): Proper adjectives are formed by proper nouns. For example: bhārat- Indian (Bhāratiya), Panjābī (Panjābī) etc. Proper Noun: e.g. (i) ham bhārat mé rahte haī. (We live in India) Proper Adjective: e.g. ham bhāratiya bhojan pasand karate haĩ. (We like Indian food.)

9. pra Visheşaŋ (Adjective per Adjective): Pandit kāmtā prasād Guru has called 'antarvisheşan'. In pravisheşan an adjective is used for an adjective together. For example: i) hanumān baṛe/bahut sāhasī the. Hanumān was very brave/courageous. ii) vah ek bahut tej vidyārthī hai. He is a very intelligent student. In these sentences baṛe/bahut, sāhasī (very, brave/courageous), bahut tej (very intelligent), are adjectives.

3. Use of Adjective

(i) bahut/adhīk (much, many):- e.g. mere pās bahut kalam hai. (I have many pens). uske pās adhīk (bahut) chāwal hai. (He has much rice.)

(ii) kuchh/tanik bhi (some, any): use kuchh paise chahiye. (He needs some money.) etc. (iii)kuchh (a few), thorā-sā/sī (a little): mere pās kuchh kitābé/pustaké haí. (I have a few books.) mere pās thoṛī –sī chīnī hai. (I have a little sugar.): uske pās thoṛā-sa pānī hai. (He has a little water.)

सा [sā] attached to the oblique form of a noun or a pronoun denotes 'like' which then functions as an adjectives. e.g. gāy-sa'cow- like etc, [sā] is also denotes;logking; seeming e.g lāl-sā-red looking; etc.[5]

(iv) pratyek /har/harek- (each, every). (v) sab, sabhī/sārī (all) e.g. pratyek laṛke ko baig milā (each boy got a bag). harek vyakti ko do ã:nkhé haĩ. (Everyman has two eyes.) eg. sab/sabhī laṛke parh rahe haí. (all boys are reading.) (vi)sab kuchh (everything, all things) e.g. vah/usne sab kuchh kho baithā. (He lost everything/all things.) (vii) Case- sign are attached only to the nouns, the Adjective having form; e.g Hamāre shahar mé -in our city, achhe laṛke ko- to the good boy.[6] (viii) Jyādā (a lot), and aur (additional). e.g . jyādā lijiye.(please, take a lot); aur lījiye (please, take some more) . etc.[7]

(i) Predicative use of Adjective: In predicative use an adjective is used before auxiliary and modal verbs. For example- yah kitāb achchhī hai. (This book is good.) Rāmu budhā thā. (Rāmu was old.) etc.In these sentences, achchhī (good), and budhā (old) was used before auxiliary verbs hai (is) and thā (was).

(ii) Attributive use of Adjective: In attributive use an adjective is used before noun. For example yah ek achchhī kitāb hai. (This is a good book.) Rāmu ek budhā ādmī thā. (Rāmu was an old man.) In these sentences achchhī (good), and budhā (old) was used before nouns kitāb (book), and ādmī (man).

(iii) Substantive use of Adjective: Adjective are often used as nouns, in which case they are inflected like nouns of the same terminations. e.g 'baṛo ke samay se'- from the time of ancients'(of the great). kisī gyanī ne kahā hai - some wise (man) has said.

(iv) Adjectives as Adverb: A few adjectives are also in frequent use as adverb, when so used they are never infected. Most common in the use of 'baṛa',-great, and 'bahut' much in the sense of very as-'yah baṛā kathor hai' -This is very hard. 'vah to bahut sundar (shavd) pad hai-That is truly a very beautiful word / pad

(v) Repeating of Adjectives: A very high degree

of any quality may be expressed by repeating the adjectve, as;' kālā kālā'-very black. 'mi̲the mi̲the phal'-very sweet fruits.

(vi) Adjective Affix: The adjective 'bhar' full is never used by itself; but part take rather of the character of an affix , like the English 'full' in such phrases as a 'spoonfull; a housefull but bhar is used much more extensively than the corresponding English 'full'. Any nonus taking this affix is regularly inflected before it, as before the postposition, whenever inflection is possible. Example;

pyale bhar-a cup full /a full cup. din bhar- the whole day. mere jivan bhar- all my life long.etc[8]

(vii) Participles used as adjectives: Present participle can be used as an adjective with normal adjective ending e.g.; 'hãnsatā huā laṛkā'. (laughing child). 'gāti huī chṛiyān' (singīng bird) etc (ii)Past participle can be used as an adjective. e.g' merī khoī huī chījen'. (my lost thihings).' girī huī pattiyān'. (fallen leaves)

4. Formation of Adjective

By suffixation:-Adjectives are formed by adding suffix in nouns. for example-

Noun	Suffix	Adjective
dharm (religion)	ik	dhārmik
dhan (wealth)	vān	dhanvān

According to Gender, person and case ākārānt visheşaŋ (+ ञा/I Adjectives) change into either -e or -i. For example

(Purling) Masculine	Striling (Feminine)
ek vachan (singular) (first person)- kālā (black), baṛā (big), aisā (such)	Kālī, baṛī, aisī
bahu vachan (Plural)- kāle (black), baṛe (big), aise (such)	Kālī, baṛī, aisī etc.

5. Degree of Comparison: In Hindī Adjective changes in form to show comparison. For example- 1. Diwākar ek lāmbā laṛkā hai. - Diwākar is a tall boy. 2. Dinkar diwākar se adhik lambā hai. Dinkar is taller than Diwakar. 3. Dinesh varg mẽn sabse adhik lambā laṛkā hai. Dinesh is the tallest boy in the class. In these sentences lambā (tall), se adhik, lambā (taller) and sabse adhik lambā (tallest) are the another form of lambā (tall). In Hindī comparison of adjectives are denoted by suffix se, apekchhā, se barhakar, se kahī, tar, tam, banispat, se jyādā, sabsé, se adhik, sabsẽ se kam, etc. For example-

(i) Sohan ki apekchhā rām adhik shist hai. Ram is better gentle than sohan.
(ii) Yah sabse achchhī kitāb hai. This is the best book of all.

5.1 Kinds of degree of comparison: 1**.** Mulāvasthā (positive degree). 2.Uttarāvasthā (comparative degree). 3.Uttamāvasthā (superlative degree).

5.1.1. Mulāvasthā (Positive degree): An adjective is said to be in the positive degree when no comparison is made. For example: i. sohan chhoṭā hai. - Sohan is small. ii yah kamarā baṛā hai.- This room is big. In these sentences chhoṭā (small), and baṛā (big) are adjectives, and are in mul rup original (positive) form.

5.1.2. Uttarāvasthā (Comparative degree): An adjective is said to be in the comparative degree when two things or persons are compared. For example- i. sohan mohan se adhīk chhoṭā hai. sohan is smaller than mohan. ii. yah kamarā us kamare (se adhik) ke banispat baṛā hai.This room is bigger than that room. In these sentences se adhik chhoṭā (smaller) and se adhik/ke banispat baṛā (bigger than that) denote the comparison of adjectives.

5.1.3. Uttamāvasthā (Superlative degree): An adjective is said to be in the superlative degree when it is used to compare more than two things or persons. For example- i. sohan is gẽv mẽ sabse chhoṭā ādamī hai. Sohan is the smallest/shortest man in this village. ii.yah kamarā sabse baṛā hai.This room is the biggest of all.

Examples are as follows:

mulāvasthā (positive)	uttarāvasthā (comparative)	uttamāvasthā (superlative)
sundar (beautiful)	adhik sunder (more beautiful)	Sundartam/ sabse adhik (most beautiful)
ûchchā (high)	ûchchtar (higher)	ûchchtam (highest)
komal (soft)	komaltar (softer)	komaltam (softest)
ṭhandhā (cold)	se adhik ṭhandhā (colder)	sabse adhik ṭhandhā (coldest)

adhik (much)	adhiktar (more)	adhiktam (most)
chhoṭ̂ā (short)	Usse chhoṭ̱ā (shorter)	shbse chhoṭ̱ā (shortest)

An outlines of degree of comparison of adjectives are as follows-

	Form	Example
(i) positive	original (mul) form	Thandhā (cold), komal (soft)
(ii) Compar -ative	se adhik + po-sitive. positive + tar (ending)	se adhik thandhā (colder) komltar (softer)
(iii) Superlat -ive	sabse adhik + positive- positive + tam (ending)	sabse adhik thandhā (coldest) , komaltam(softest)

B.1.Adjective in German

Definition: (i) Adjectives are words which desrcribe, modify or qualify noun and pronouns"[1]

(ii) According to Heinz Griesbach and Dora schulz: Adjectiv. kennzeichnen Personen, Sachen oder Begriffe (Nomen), Eigenschaften (Adjectiv) oder Umstände (Adverbien).[2]

e.g Richard is fleiβig. Richard is diligent Der schüler arbeitet fleiβig. The student works diligently Er antwortet falsch. He replies incorrectly.[3] .

Here 'fleiβig' and 'falsch' describe 'Richard' and 'Antwort' and are therefore adjectives. Here adjectives have no specific ending.

The German adjective agrees with its noun in number, gender and case, except when it forms part of the predicate. e.g, Er ist krank. He is ill.wir bleiben treu. we remain faithful. etc.

1. Kinds of Adjective: German adjectives may be classified according to Hindî Adjective. According to George o. Curme,: Adjectives may be divided into two general classes descriptive and limiting adjectives, (i) A descriptive adjective is one that expresses some quality or attribute of the object designated by the noun, also the two participles usually have descriptive force when used adjectively[4]. (ii) A Limiting adjective is one that merely defines or restricts the meaning of a noun. According to Curme and Timothy Buck [5]: There are three types of declension: the strong, the weak and mixed.

George o. Curme has also classified 1.Pronominal/Demonstrative adjectives: The demonstratives, which can be used either adjectively or substantively are: dieser, diese, dieses,- 'this'. Jener, Jene, Jenes- 'that'; der and das- 'this', 'that', etc;

1.1. Interrogative Adjective

(i) The interrogative adjective welcher, welche, welches-'which', 'what', are used adjectively or substantively, in question direct or indirect, is always strong when declined, but must be uninflected before ein, and may be before an descriptive adjective and sometimes before a neutral noun in the nominative and accusative singular. e.g. welcher schüler ? Which student?

welches Glück ! What good fortune!

(ii) The parts of the interrogative 'was für eins' (eine, ein)- What kind's used in questions direct and indirect. e.g was fur ein Buch ist das? What kind of book is that.

1.2. Relative adjective

The relative adjective welcher, welche, welches-which is declined like the interrogative. e.g welche letzteren- The latter of which . Welcher is usually a pure pronoun with the additional function of a subordinate conjunction, and requires the verb at the end of its clauses. Even as real adjective,…. enough of the pronominal and conjunctional nature is left to require the verb at the end. eg mit welcher der Zug müssen wir fahren. By which train we must go.etc.

1.3. Possessives adjective

The possessives are mein (my), dein (thy, your). sein (his, its), ihr (her, its, their), unser (our), euer (your), ihr (your). These words are used either adjectively or substantively, but with different inflection for each use.

e.g mein Buch (my book). etc..

2. Declension of Adjective

According to Griesbach, and Schulz there are three types of declension:[6]

1. Definite declension of Adjectives. 2. Indefinite declension of Adjectives.

3. Adjective declension without article.

2.1. Definite declension of Adjective: According to Curme and Buck, it was used as weak declension. When an adjective precedes a noun in German, i.e.

called adjective ending. The article (i.e. its gender, number, and case) preceding the adjective determines the adjective ending. If a definite article (der) or a demonstrative pronoun (dieser) precedes the adjective, the adjective takes either -e or -en as an ending. The adjective will take an -e ending in the masculine singular, feminine nominative and accusative singular; der Junge Mann, die Schöne Frau, das kleine Kind. The adjective following all other declined form of the definite article singular and plural has an -en ending: Die kleinen Kinder sind hier. Ich sehe den Jungen Mann, Ich helfe dem kleinen Kind. Here is the skelton declension:

	Singular			Plural
	Mascul -ine	Femi-nine	Neuter	All Genders
Nominat -ive	der -e	die -e	das -e	die -en
Accusati -ve	den -e	die -e	das -e	die -en
Genitive	des -e	der -en	des -en	der -en
Dative	dem -e	der -en	dem -en	den -en

Here is the declension in full of der süsse Wein, die frische Milch, das kalte Bier, die Guten getränke

Nom.	der Süsse Wein	die-frische Milch	das kalte Bier	die guten getränke
Acc.	den süssen Wein	" " "	" " "	" " "
Gen.	des süssen Weins	der frischen Milch	des kalten Biers	" der " "
Dat.	dem süssen Wein	" " "	dem kalten Bier	"den getränker

2.2. Indefinite declension of Adjectives: According to Curme and Buck, it was used as mixed declension. If an indefinite article or a possessive pronoun precedes the adjective and its function in the sentence is shown i.e. it has an accusative, dative or genitive ending-then the adjective takes the -en ending: einen alten Mann; eines kleinen Kindes. When the indefinite article a possessive pronoun occurs without an ending (ein), then the adjective shows the function of the noun in the sentence by adding an appropriate ending. This happens in the masculine nominative singular (ein alter Mann) and in the neuter nominative and accusative singular (ein kleines Kind). Here is the skeleton of endings.

	Singular			Plural
	Mascul-ine	Femini-ne	Neuter	All gender
Nomina -tive	ein -er	eine -e	ein -es	meine -e
Accusat -ive	einen-en	eine -e	ein -es	meine -en
Genitive	eines -en	einer -en	eines -en	meiner -en
Dative	einem -en	einer -en	einem -en	Meinen -en

This declension is mainly met with in the singular in the case of nouns denoting substances süsser Wein (sweet wine), frische Milch (fresh milk), kaltes Bier (cold beer), gute Getränke (good beverages).

	Singular			Plural
	Mascül -ine	Femini -ne	Neuter	All gender
Nominati -ve	süsser Wein	frische Milch	kaltes Bier	gute getränke
Accusati-ve	süsser Wein	"	"	"
Genitive	süssen Weins	frischer Milch	kalten Biers	guter Getränke
Dative	süssen Wein	"	kaltem Bier	guten geträn ken

2.3. Adjective declension without article: According to Curme and Buck, it was used as strong declension. Since, German classifies its nouns in three genders and may express them in four cases, either in singular or in plural form; the language has evolved certain markers which indicate gender, case, and number. Consider the following example: i.Der kaltes Kaffee ist in der Küche. (The cold coffee is in the

kitchen) ii. Die kalte Suppe ist in der Küche, iii..Das Kalte Essen ist in der Küche.

Quite clearly, only the articles tell us the distinctive of if instead of saying "The cold coffee" would be missing in the German equivalent. Nothing would be reveal gender, case, and number of this or other nouns the distinctive portion of the marker were transferred to another element in the noun phrase consisting of the noun and its modifier.i.e article and /or adjectives[7] Hence let us see the following examples:

i. Der kalte Kaffee ist in der Küche. ( ) kalter kaffee ist in der Küche.

ii. frische Butter, altes Brot, grünes Licht , kranken Sohn gute, luft. e. g wir brauchen gutes Luft. e.g. wir brauchen gutes Luft. We use fresh air.etc.

Here is the skeleton declension:

	Singular			Plural
	Mascu-line	Feminine	Neuter	All gender
Nomina-tive	-er	-e	-es	-e
Accusa-tive	-en	-e	-es	-e
Dative	-em	-er	-em	-en
Genitive	-en	-er	-en	-er

The full declension are as follow:

Nominative	Schwarzer Kaffee	frische Butter	Altes Brot	Schlechte Eier
Accusative	-en "	-e "	-es "	-e "
Dative	-em "	-er "	-em "	-en "
Genitive	-en "	-er "	-en "	-er "

Hence a simple noun group can appear in four variations:

1.article + noun 2. definite article + adjective + noun.

3. Indefinite article + adjective + noun. 4. Zero article + adjective + noun

Let us see examples for a neuter noun: 1. das Bort. The bread 2. das frische Brot. The fresh bread 3. ein frisches Bort. a fresh bread 4. frisches Brot.fresh bread.

3. Use of Adjectives: Adjectives used as nouns: All adjectives in German, and those participles used as, adjectives can also be used as nouns. These are often called adjectival nouns.[8] After the indefinite pronouns etwas, mehr, nichts, viel, wenig the adjective is treated as a noun, i.e. it must be declined and capitalized the gender of such a noun is always neuter.[9] e.g. Wir erwarten nichts Gutes. (We expect nothing good.). Der Geschäft hatte wenig Brauchbares. (The shop had little that was useful.). e.g. der Alte (the oldman), die Alte (the old woman), das Gute (the good) etc. (ii) Deutschland (Germany)-Deutsche/der Deutsche (German) etc. it is cauled-proper adjective. (ii) Adjective are used predicatively/non-attributively and attributively.[10]

3.1. Predicatively: Predicate adjectives take no endings. e.g. where the adjective comes after the verb, For example. i. Das Buch ist neu. The book is new. ii. Der Mann ist gut. The man is good. etc.

3.2. Attributively: Adjective can be used altributively, where the adjective comes before the nouns. e.g. i. Das neue Buch. The new book ii. Die rote Rose. (red rose). iii. der breite Fluss. The wide river. iv. das ist ein_gutes mann_This is a good man. v.Der breite Fluss. The wide river. das Haus ist hoch. (house is high), das hohe Haus (high house)

4. Morphological Changes[11]

Adjectives ending in -el drop the final vowel when declined : e.g.-dunkel (dark)- Das dunkle Haus. (the dark house), in dunklen zimmer. (in the dark room). Adjective ending in -en and -er drop the -e in the spoken language:e.g. munter (lively)- die munt (e) ren Kinder (the lively children). The adjective hoch changes to hoh-when declined. e.g. hoch (high),die hohen Bäume. (the high trees),

4.1. Cases with Adjectives

Many adjectives can be used with a noun dependent on them which then takes a particular case. The case varies depending on the individual adjective e.g

(i) Adjectives which govern the Dative: Er war seinem Gegner uberlegen. He surpassed his opponent.

(ii) Adjective which govern the Genitive: Er ist sich seiner Sache noch nicht sicher. (zeit) He is not quite sure of his ground.

4.2. Other cases of Adjective

Adjective with prepositions many adjectives can be

linked to a noun by means of a preposition..Adjecitve governs a particular preposition,. Which preposition is used depends on the individual adjective, and the preposition often retains little of its full meaning. e.g geil auf-(keen on), ch bin so geil auf Tennis, sagte er. (I am so keen on tennis, he said.)

4.2.1. Participles used as adjectives

(i) The present participle can be used as an adjective with normal adjectival endings; e.g der singend Vogel, (singing bird.) etc.

(ii) The past participle can also be ued as an adjective. e.g

Dir gefallenen Blätter (the falllen leaves) etc.

(iii) An adverb or adverbial phrase often takes an adjective function when there is no corresponding adjective. In the predicate to express time e.g Es war im märz. A number of adverbs could stand as an adjective in the predicate, it was only a natural development for them to assume adjective function also in the attribuitive relation. Thus nahe, fern, zufrienden, einzeln, täglich etc. have developed into full adjective with inflection.

Most adjectives do not only add the endings -er and -est (en) but also change the vowel to the corresponding vowel + umlaut.

i.a becomes ä ; e.g. kalt (cold) - kälter, am kältesten ii.o becomes ö : e.g. groβ (big)- gröβer, am gröβter. iii.u becomes ü; e.g. klug (intelligent), klüger, am klügsten.

Some adjective have substitute forms for the comparative and superlative e.g. gut (good), besser (better), am besten/beste (best)

viel (much), mehr (more), am meisten/meist (most)

Limiting adjectives are divided into two classes-

Limiting adjective are divided into two classes numeral and pronominal adjective

5. Declension of two or more adjectives[12]

Normally, when we have a string of adjectives that precede a noun, all must be declined in parallel . e.g. Dies ist ein groβer modern<u>e</u>r Betrieb. (This is a big modern factory)

The exceptions to this rule are listed below:

After beide the second adjective in the dative singular masculine and neuter is usually declined as after der-words: beide geschäftlichen Partner 'both business partners.' After folgend - the second adjective is often declined as after der-words, especially in the singular. folgendes wichtige (s) Detail. the following important detail. If viel is declined, the adjective that follows is declined as after der words in the neuter nominative and accusative and the dative singular masculine and neuter and sometimes in the genitive plural: mit vide<u>m</u> anderen material (with a lot of other material) etc. If wenig is declined the second adjective is declined as after a der-word in the dative singular masculine and neuter, otherwise as after the zero articles. aus wenige<u>m</u> billige<u>n</u> material. from a small quantity of cheap material. If viel and wenig are not declined, the following adjective is declined as after the zero article. Note: There is a difference in meaning between declined and undeclined viel/wenig. aus wenig billigem material (out of the material that was expensive (=hardly cheap), mit viel gute<u>m</u> Willen (with a lot of good will). Here, billig and gut are modified by wenig and viel, wenig and viel are therefore adverbs and remain undeclined. In the declined version of the sentence, billig and wenig are two characteristics of the material which are not connected as such: Das material ist billig und wir haben nur wenig. The material is cheap and we only have a little of it. Ein wenig remains undeclined and means 'a little'. Trinken sie doch noch ein wenig Wein. Have another drop of wine. Ich spreche nur ein wenig Deutsch. I only speak a little German. If two or more adjectives are connected by a hyphen or occur as a compound, only the last one is declined; die deutsch-deutschen Beziehungen. The relationship between West and East Germany die blau-weiβ-rote Fahne. The French or British flag. etc.

6. Formation of Adjectives: Adjectives are formed by adding suffixes:

i. Adjective is derived from nouns by adding -isch, -(l) ich, or -ig. e.g. das Kind (child)- kindi<u>sch</u> (childish). ii. die Kunst (art)- künstl<u>ich</u> (artificial) iv.die Gunst (favour)- günsti<u>g</u> (favourable). v.-ig forms many adjectives from adverbs of place and time. vi.hier (here)- vii.hiesig (local), heute (today)-heutig (the present day). It is also added to nouns, often with modification, e.g. die Macht (power)- mächtig (powerful) etc.- lich can add a nuance to an adjective (e.g. all colours): Die Tasche ist bräunlich. The bag is brownish. etc. ii. Adjective

is derived from nouns by adding-ant (foreign ending). e.g. das Risiko (risk)-riskant (risky), der Charme (charm)- charmant (Charming) iii.Adjective is derived from nouns by adding -bar. e.g.: das Wunder (miracle)- wunderbār (wonderful), das Mitte (means)- mittelbār (indirectly) iv. Adjective is derived from verbs by adding- bar to the stem. e.g. das ist machbar. It can be done/accomplished etc. v.Adjective is derived from verbs by adding-end to the stem. e.g. entsprechend (respectively), vielsagend (telling/significant) vi.Adjectives are formed by adding-en, and -ern. e.g. gold-goldén, hölz-hölzern etc. vii., -los, less, is added to nouns : e.g. sinnlos (thoughtless, mad, foolish), arbeitslos (unemployed) heimatlos (homeless, stateless) etc.

7. Comparison of Adjective: Comparison of adjective in German has only one method. It has the synthetic form. The comparative of adjective is always formed by adding -er to the ordinary form in the comparative and -st, -ste in the superlative degree. Hence there are three types of comparison.e.g

Grund form (Positive)	**Komparativ (Comparative)**	**Superlativ (superlative)**
gut (good)	besser (better)	best (e) (best)
alt (old)	älter (older)	alteste (oldest)
hoch (high)	höher (higher)	höchste(highest)
jung (young)	jünger(younger)	jüngste (youngest)
meist(e)(most)	viel (much)	mehr (more)

a, o, u, (ä, ö, ü,) are modified in the comparative and superlative degrees of most monosyllabics. (Diphthongs are not modified-laut, lauter)

A large number of adjectives are not modified in comparison. e.g.- schmal, stumpf, stolz, voll, rund, etc. Adjective ending in -el, -er, -en often drop the e of the ending in the comparative but keep it in the superlative. edel (noble), -edler - edelst. etc. i.The comparative and superlative are, of course, adjectives and are declined as such. Thus just we have: der arme Mann; so we have der ärmere Mann (the poorer man), and der ärmste Mann (the poorest man) etc. ii.Wie is the conjunction used with the positive. e.g. sie ist eben so schön wie ihre mutter. She is just as beautiful as her mother. leicht wie die Luft. (light as air) iii. The superlative of the adjective, e.g. längst, is never found in that form, being always accompanied by qualifier and inflected. Thus, "This is the longest street" is -'dies ist die längste strasse', and This street is (the) longest, - diese strasse ist die längste. iv.Expressing similarity and dissimilarity. Similarity- This is expressed by using (nicht) so + adjective wie:- Deutschland ist so groB wie GroB britannien. Germany is as big as Great Britain.etc. It can be emphasized by adding genau, eben or gerade in front of so : Benzin ist fast genau so teuer wie Diesel. Petrol is nearby as expensive as diesel. Dissimilarity : This is expressed by using the comparative als. London hat mehr Einwohner als Berlin. London has more in habitants than Berlin.

8. Numeral System (Das Numerale):[13] (i) There are mainly three types of numerals in German language. cardinal, ordinals and multiplicative. Important examples are as follows:

8.1. The cardinals: null (0), ein/eins (1), zwei (2), drei (3), sechzehn (16), vierzig (40), ein hundert (100) etc. funf und dreissig (35), eine million (one million) etc.

All numbers are feminine. e.g. die eins, die hundert. exceptions das/die tausand das/die hundert.

8.2. The Ordinals: In German the ordinal numbers are formed by adding- te to the cardinals except in the case of first and third. Upto 19 the ordinals are formed by adding -te and from 20 onward the addition is -ste. Second is also formed by the addition of -te. e.g. erste (first), sechste (sixth), hunderste (100th) etc.

8.3. The multiplicative: i.The multiplicatives are made by adding -fäch or -fältig to the ordinals : einfäch (single), einfältig (one fold) etc.by adding-mal (= time) to the ordinals einmal (once), dreimal (three time/thrice), Note the adverbs : manchmal (sometimes). etc. from the ordinals we get the adverbs. erstens (firstly), zweitens (secondly) etc.-tes (teil) is added to the ordinals- the final -t of the latter being omitted. 1/3 drittel (third), 1/4 viertel (fourth), 1/2 ein halb. (half). Other numerals system are as: Distributive -jeder/jede/jedes- each, jede (r,s)- every, etc. Indefinite: alle (all), wenig (few), etc.Group : beide (both), all drei (all three) etc.

8.4. Pronominal Adjectives[14]: The demonstrative which can be used either adjectively or substantively, are; dieser, diese, dieses- this; Jener, Jene, Jenes, that; welcher, welche, welches. That, that; one solcher, solche, solches,- such, etc. The inflection of these

prononinals is treated in the following article. der, die das, are used either adjectively or substantively, but with some what different inflection for each use. e.g Jenner- is much used to indicate something well known, either by referring backward to some definite person or thing already mentioned or by making reference to some well- known person or thing that is at once recognized by the accompanying dercription e.g Jene Blätter, nach denen Sie fragten, habe ich noch nicht gefunden. etc.

9. Comparative Points: The comparative points are as follows: 1. Adjective agrees with its nouns in number, gender and case in both the languages 2. Almost all the pronouns can function as adjective in both the language. e.g. yah kitāb (this book) - dies Buch (demonstrative). kyā kām (what work)- was Arbeiten (interrogative) etc. 3. In German definite articles play an important role in the construction declension of adjective while Hindī has not definite article.

e.g. German Hindī

Definite article ×

der (masculine), die (feminine), das (neuter)- (the)

4. Formation of Adjectives occurs by adding suffixes in both the languages.

Hindī German

Dhārm (religion)- ik (suffix) –dhārmik (religious) Kind (child)- isch (suffix)- kindisch (childish)

5. Adjectives are used predicatively and attributively as well in both the languages, e.g. Predicative: (Hindī)- shahar achchhā hai. (The town is good.). (German.)- die Stadt ist gut. Attributive. Hindī- achchhā shahar (good town). German - die gute Stadt.

6.- Participles (Present and past) are also used as adjectives in both the languages.

7- Morphological changes are found in both the languages. It occurs according to person, number and gender. e.g. Hindī : andherā (dark) adherā makān/ghar (dark house.). German: dunkel (dark)- das dunkle Haus. Hindī: unchā (high)- ünchī chhat (high roof). German: hoch (high)- die hohe Bäume.

8- Hence there are three types of comparison are found in both the languages. i.e. mulavasthā (positive), uttārāvastha (comparative), uttamāvasthā (Superlative). In Hindi comparative of adjective is formed by adding, -tar se (usse), adhik, ki appekchhā and in superlative adjective is formed by tam, sabse, adhik, sabse kam etc. while in German it is formed by adding –er (comparative ending) to the original form in the comparative and -st, -ste(superlative ending) in the superlative. e.g.

Positive (Comparative) (Superlative)

Hindī: ûnchchā(high) ûchchtar(higher) ûnchchtam (highest)

German:hoch (high) höher (higher) höchste (highest)

Hindī: chhoṯā (short) usse chhoṯā (shorter) sabse chhoṯā (shortest)

German: kurz (short) kürzer (shorter) kürzeste (shortest)

9- Three types of Numeral system are found in both the languages. e.g.

(i) Cardinal (ii) ordinal, and (iii) multiplicative

Cardinals	Ordinal	Multiplicative
Hindī: ek (one), do (two), chār (four), etc.	pahlā (fīrst), dusrā (second), chauthä (fourth), etc.	ekbār (once), dubārā/ dobār (twice), etc.
German: eins, zwei, vier. etc.	erste, zweite, etc.	Einmal, zweimal. etc.

Conclusion

Therefore on the basis of aforesaid discussion we have tried to present almost all the important possible forms declension, formation, and comparison with in both the languages. During this attempt, we got similar and dissimilar declension, formation and comparison of adjectives in the two languages, which were cited with appropriate examples. Interestingly, both the languages belong to different language families, nevertheless they share some common features within adjectival structure and usage, Hence this study can be useful in the teaching of both the languages.

References

1. English

1. Green, David: (1971) Contemporary English Grammar Structures and composition, The macmillan co of India Ltd. Delhi. First edition., Reprinted. 1979 pp20

2. Hindī

1. Sharmā, Āryendra: (1998)A Basic Grammar of Modern Hindī,Central HindīDirectorate, New "Delhi, First edition 1998 fifth edtion. 1994. PP. 59-60
2. Kellogg, S.H. : (1893) A Grammar of HIndī language Munshiram manohar lāl Publishers Pvt.Ltd.India,Second eddtion 1893.PP134-135
3. Prasād, Dr. Vāsudevnandan: (1993) ādhunik Hindī vyākaran aur rachnā , Bhārtī Bhavan Prakāshan. Patnā 32rd edition . PP. 194-197
4. Guru, Kāmtā Prasād : Hindi Vyākaran..Nāgarī prachārnī sabhā,Vārānasī U.P Samvat 2039 Thirteenth edition.
5. Shārma,Aryendra : (1958) A Basic Gurammar of Modern Hindī. Central Hindī Directorate, New Dehli, fifth edition, 1994 pp 59-60
6. R.S McGregor: (1972) Outline of Hindī Grammar. Oxford university press, Delhi First edition 1972 page 94
7. Kellogg, S.H.: (1893) A Grammar of HIndī language Munshiram manohar lāl Publishers Pvt. Ltd. India, Second eddtion. PP. 426-42

3. German

1. Durrell, Martin: (2011) Hammer's German grammar and Usage. Routledge, New York. U.S.A First Published 1997, fifth editon.2011 Page 119.
2. Heinz Griesbach.: Dora schulz : Grammatik der deutschen Sprache. Max Hüeber Verlag, München Germany 1962, Page188
3. Ibid Deutschsprachlehre für Auslander Max Hüeber Verlag, Munchen Germany 1967, page 7
4. Curme, George.O:A Grammar of the German language Frederick Ungar Publishing co. NewYork U.S.A Second edition 1960 pp.126-130
5. Buck, Timothy A concise German Grammar Oxford university perss, Delhi First Published 1999.pp 50-51
6. Heinz Griesbach.: Dora schulz : Grammatik der deutschen Sprache. Max Hüeber Verlag, München, Germany 1962, Page 188-191
7. Ibid- Deutschsprachlehre für Auslander Max Hüeber Verlag, Munchen Germany 1971, pp46-47
8. Lorna Sinclair (series-edition): Collins German Dictionary andGrammar. Harper Collins Publishers Glasgow,Great Britain, fourth edition, 2006 page 148
9. Eckhard Christine-White Black Ruth: German. Cassell language guides German Book Centre, CIT .east Madras. First Published.1992 First Indian edition 1993. Page 44
10. Lorna Sinclair(series-edition) Collins German Dictionary and Grammar. Harper Collins Publishers Glasgow, GreatBritain, fourth edition, 2006 page140
11. Eckhard Christine-White Black Ruth: German.Cassell language guides German Book Centre, CIT east Madras. FirstPublished.1992 First Indian edition 1993Page45-46
12. Ibid:. ,, ,, ,, ,,page 15-17
13. Curme, George.O A Grammar of the German language Frederick Ungar Publishing co. NewYork, U.S.A Second edition 1960 pp.147-152
14. Ibid:. ,, ,, ,, ,, page 153-154

●

ROLE OF MICROFINANCE HELPING PEOPLE IN ERADICATION OF POVERTY

ABHISHEK KUMAR SINGH*AND DR. DEEPAK KUMAR**

Microfinance is the provision of financial services to low-income clients, including consumers and the self-employed, who traditionally lack access to banking and related services. More broadly, it is a movement whose object is "a world in which as many poor and near-poor households as possible have permanent access to an appropriate range of high quality financial services, including not just credit but also savings, insurance, and fund transfers." Those who promote microfinance generally believe that such access will help poor people out of poverty. Microcredit emphasizes the provision of credit services to low income clients, usually in the form of small loans for micro enterprise and income generating activities. Use of the term 'microcredit' is often associated with an inadequate amount of the value of savings for the poor. In most cases, the provision of savings services in 'microcredit' schemes simply involves the collection of compulsory deposit amounts that are designed only to collateralize those loans. Additional voluntary savings may collect but the clients have restricted access to their enforced savings. These savings become the main source of capital in the financial institutions.

Microfinance is considered as a tool for socio-economic development and can be clearly distinguished from charity. Families who are destitute, or so poor they are unlikely to be able to generate the cash flow required to repay a loan, should be recipients of charity. Other served by financial institutions.

Review of Literature

Micro finance is emerging as a powerful instrument for poverty alleviation in the new economy. Beyond the direct linked with poverty reduction, it is an indirect link to address the issues of health, education and gender. Micro finance cover not only consumption and production loans, but will also include other credit needs such as housing and shelter improvements. Women constitute a vast majority of users of micro-credit and savings services. The different organizations in the field of microfinance can be classified as "Mainstream" and "Alternative" Micro Finance Institution. National Agricultural Bank for Rural Development (NABARD), Small Industries Development Bank of India (SIDBI), Housing Development Finance Corporation (HDFC), Commercial Banks, Regional Rural Banks, the credit cooperative societies etc., are some of the mainstream financial institutions involved in extending micro finance. On the other hand, institutions have come up to fill the gap between the demand and supply for micro finance. Microfinance in India can trace its origins back to the early 1970s when the Self Employed Women's Association ("SEWA") of the state of Gujarat formed an urban cooperative bank, called the Shri Mahila SEWA Sahakari Bank, with the objective of providing banking services to poor women employed in the unorganized sector in Ahmadabad City, Gujarat. The microfinance sector went on to evolve in the 1980s around the concept of SHGs, informal bodies that would provide their clients with much-needed savings and credit services. From humble beginnings, the sector has grown significantly over the years to become a multi-billion dollar industry, with bodies such as the Small Industries Development Bank of India and the National Bank for Agriculture and Rural Development devoting significant financial resources to microfinance. Today, the top five private sector MFIs reach more than 20 million clients in nearly every state in India and many Indian MFIs have been recognized as global leaders in the industry.

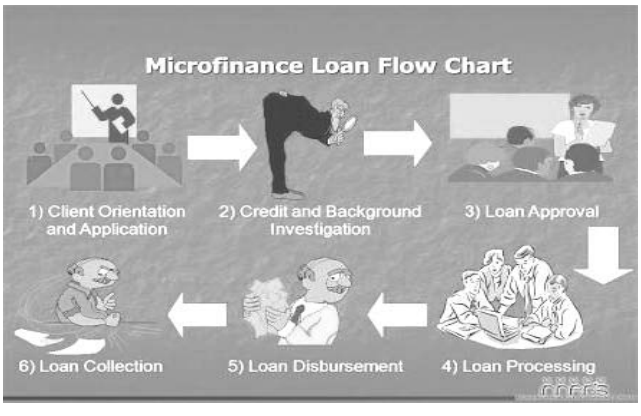

* Research Scholar, Faculty of Commerce, Banaras Hindu University.
** Assistant Professor, Office Management, Faculty of Arts, Banaras Hindu University.

Indian microfinance sector is expected to grow nearly ten times by 2011 to a size of about Rs250 billion from the current market size of Rs27 billion, at a compounded annual growth rate of 76%. Microfinance in India started evolving in the early 1980s with the formation of informal Self Help Group (SHG) for providing access to financial services to the needy people who are deprived of credit facilities. National Bank for Agriculture and Rural Development, the regulator for microfinance sector, and Small Industries Development Bank of India are devoting their financial resources and time towards the development of microfinance.

Government, NGOs and other financial institutions have introduced various welfare schemes and activities to reduce poverty. Microfinance, by providing small loans and savings facilities to those who are excluded from commercial financial services has been developed as a key strategy for reducing poverty throughout the world. In India, a substantial microfinance system based on self-help groups (SHGs) was developed. It allows poor people to protect, diversify and increase their sources of income, the essential path out of poverty and hunger. As a developmental and economic tool it has caught the imagination of banks, financial institutions and NGOs in India.

Role of Micro Finance Institutions

1. Poverty reduction tool: Microfinance can be a critical element of an effective poverty reduction strategy. Improved access and efficient provision of savings, credit, and insurance facilities in particular can enable the poor to smooth their consumption, manage their risks better, build their assets gradually, and develop their microenterprises. Microfinance is only a means and not an end. The ultimate goal is to reduce poverty. Government, NGOs and other financial institutions have introduced various welfare schemes and activities to reduce poverty. Microfinance, by providing small loans and savings facilities to those who are excluded from commercial financial services has been developed as a key strategy for reducing poverty throughout the world.

2. Women Empowerment: In rural areas women living below the poverty line are unable to realize their potential. Microfinance programmes are currently being promoted as a key strategy for simultaneously addressing both poverty alleviation and women's empowerment. The self-help groups (SHGs) of women as sources of microfinance have helped them to take part in development activities. The participation of women in SHGs made a significant impact on their empowerment both in social and economic aspects. Vast sections of the rural poor are even now deprived of the basic amenities, opportunities and oppressed by social customs and practices. Several programmes were implemented by various governments and nongovernmental organizations to uplift them both economically and socially. It has been an accepted premise that women were not given enough opportunities to involve themselves in the decision making process of the family as well as in the society. Hence, women were the main target groups under SHG programme. Microfinance can provide an effective way to assist and empower poor women, who make up a significant proportion of the poor and suffer disproportionately from poverty.

3. Development of the overall financial system: Without permanent access to institutional microfinance, most poor households continue to rely on meager self-finance or informal sources of microfinance, which limits their ability to actively participate in and benefit from the development opportunities. Microfinance can contribute to the development of the overall financial system through integration of financial markets. Microfinance institutions (MFIs) can be small and medium enterprises at the heart of rural sustainable development. Their development positively correlates with rural business development.

4. Self-Employment: Poverty reduction through self-employment has long been a high priority for the Government of India. Microfinance is an experimental tool in its overall strategies. Most of poor people manage to optimize resources over a time to develop their enterprises. Financial services could enable the poor to leverage their initiative, accelerating the process of generating incomes, assets and economic security. However, conventional finance institutions seldom lend down market to serve the needs of low-income families and women-headed households. Therefore fundamental approach is to create the self-employment by financing the rural poor through financial institutions. Microfinance, thus, creates the hope and increases the self-esteem of the poor by giving the opportunities to be employed.

5. SHG-bank linkage programme: Indian micro finance is dominated by the operational approach Self-help Groups (SHGs). The approach is popularly

known as SHG-Bank linkage model. This model is the dominant model, initiated by the NABARD in the early 1990s. Today the SHG model also links the informal groups of women to the mainstream system and it has the largest outreach to micro financial clients in the world. SHGS comprise a group of 15-20 members. The groups begin by savings that are placed in a common fund. In a way, SHGs are co-operative (credit) societies linked to a commercial bank rather than an apex cooperative bank. Once linked to the bank, the SHGs may access a given multiple of the pooled savings for disbursement to its members. The SHG-bank linkage programme was conceived with the objectives of supplementary credit delivery services for the unreached poor, building mutual trust and confidence between the bankers and the poor and encouraging banking activity both on thrift as well as credit and sustaining a simple and formal mechanism of banking with the poor. The linkage programme combines the flexibility, sensitivity and responsiveness of the informal credit system with the technical and administrative capabilities and financial resources of the formal financial sector which rely heavily on collective strength of the poor, closeness of effective social mobilization functions contributing to an overall empowerment process.

Micro Finance-Features and Principles

Microfinance is considered to be an adequate tool for financing small scale activities/technological applications in the rural areas because of the following features.

(a) Provide credit for investment in small scale activities chosen by the poor people.

(b) Empower the poor to build self confidence that I can do something.

(c) Can pay for itself with the interest earned.

(d) Allow to develop opportunities for self-employment to the underserved people.

(e) Have the broadest utility and the least cost per beneficiary.

The principles of sustainable micro-financing are as follows:

(i) It offers flexible customer friendly services preferred by low-income group,

(ii) It has opportunities for streamlining operations and reducing costs (standardized simple lending process, decentralized loan approval, inexpensive offices, and use staff from local communities)

(iii) It operates in market basis charging market interest rates and fees, and

(iv) It strives to recover the costs of the loan.

Role of Microfinance in Poverty Reduction

Microfinance is about providing financial services to the poor who are not served by the conventional formal financial institutions - it is about extending the frontiers of financial service provision. The provision of such financial services requires innovative delivery channels and methodologies. The needs for financial services that allow people to both take advantage of opportunities and better management of their resources. Microfinance can be one effective tool amongst many for poverty alleviation. However, it should be used with caution - despite recent claims, the equation between microfinance and poverty alleviation is not straight-forward, because poverty is a complex phenomenon and many constraints that the poor in general have to cope with. We need to understand when and in what form microfinance is appropriate for the poorest; the delivery channel, methodology and products offered are all inter-linked and in turn affect the prospect and promise of poverty alleviation. Access to formal banking services is difficult for the poor. The main problem the poor have to take when trying to acquire loans from formal financial institutions is the demand for collateral asked by these institutions. In addition, the process of acquiring a loan entails many bureaucratic procedures, which lead to extra transaction costs for the poor. Formal financial institutions are not motivated to lend money to them. In general, formal financial institutions show a preference for urban over rural sectors, large-scale over small scale transactions, and non-agricultural over agricultural loans.

Formal financial institutions have little incentives to lend to the rural poor for the following reasons.

Administrable difficulties: Small rural farmers often live geographically scattered, in areas with poor communication facilities, making loan administration difficult.

Systematic risks: Agricultural production is associated with some systemic risks, such as drought

and floods, which is reflected in a high covariance of local incomes.

Lack of information: The absence of standardized information, Standard lending tools, such as financial statements or credit histories, do not exist in these areas.

Repayment problems

The repayment of working capital may be required only once a year. For example during the harvest season. On the other hand, access to informal loans is relatively easy, convenient, and available locally to low income households for the following reasons:-

* Informal moneylenders use interlinked credit contracts to reduce default risk such as development of business relationship with the clients.

* Informal moneylenders have local information which helps them to appraise credit needs and credit worthiness of the client.

* Informal moneylenders are considering the needs and requirements of clients even for small amount of loan.

* Informal moneylenders will profit from social sanctions such as those that may exist among members of a family. These sanctions may serve as a substitute for legal enforcement.

* Informal moneylenders use specific incentives to stimulate repayment, such as repeat lending to borrowers who repay promptly, with gradually increasing loan size.

Despite the fact that many rural poor acquire their loans from the informal financial sector in rural areas of developing countries; the sector has some basic limitations. Common feature of many rural communities is that much of the local information does not flow freely; it tends to be segmented and circulates only within specific groups. Usually the informal credit market is based on local economies and is thus limited by local wealth constraints and the covariant risks of the local environment. Since most of the world's poor do not have access to basic financial services that would help them manage their assets and generate income. To overcome poverty, they need to be able to borrow, save, and invest, and to protect their families against adversity. Another shortcoming of the two financial sectors in developing countries is their inability to satisfy the credit needs of the poor that has led to the new development of microfinance. Microfinance is believed to be able to reduce the above-mentioned inadequacies of formal and informal financial institutions and is emerging as an important credit partner to the poor in the developing world.

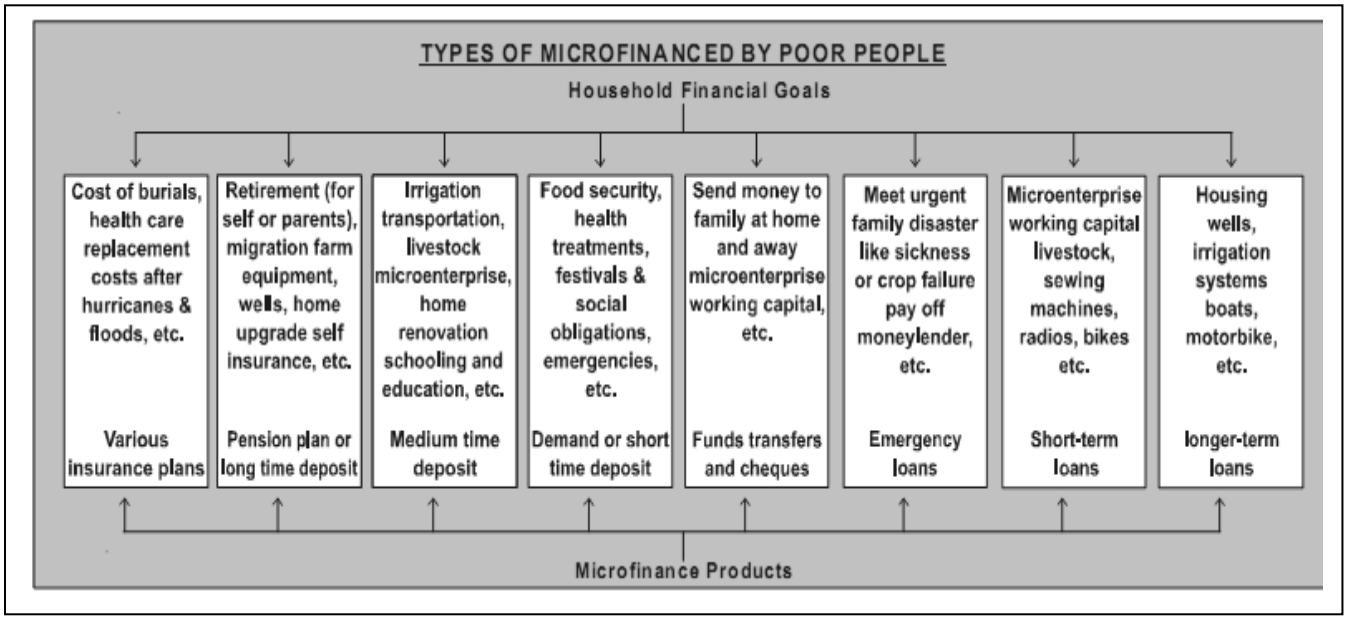

Microfinance and Poverty Reduction in India

Microfinance is the provision of financial services to low-income clients, including consumers and the self-employed, who traditionally lack access to

banking and related services. More broadly, it is a movement whose object is "a world in which as many poor and near-poor households as possible have permanent access to an appropriate range of high quality financial services, including not just credit but also savings, insurance, and fund transfers." Those who promote microfinance generally believe that such access will help poor people out of poverty. The dynamic growth of the microfinance industry has been promoted not only by market forces but also by conscious actions of national governments, Non-Governmental Organizations (NGOs) and the donors who view microfinance as an effective tool for eradicating poverty. The powerful push behind this huge and increasing support for microfinance indicated that national economic and social impacts are significant and it needs to be examined more closely.

Schemes of a Government of India

There are so many schemes for the upliftment of poor in India. One of them Micro-credit programmes is run primarily by NABARD in the field of agriculture and SIDBI in the field of Industry, Service and Business (ISB). The success of Micro-credit programme lies in diversification of services. Micro Finance Scheme of SIDBI is under operation since January, 1999 with a corpus of Rs. 100 crore and a network of about 190 capacity assessed rated MFIs/NGOs. Under the programme, total amount of Rs. 191 crore have been sanctioned up to 31st December, 2003, benefiting over 9 lakh beneficiaries. Under the programme, NGOs/ MFIs are supposed to provide equity support in order to avail SIDBI finance. But they find it difficult to manage the needed equity support because of their poor financial condition. The problem has got aggravated due to declining interest rate on deposits. The office of the development commissioner (Small Scale Industries) under Ministry of SSI is launching a new scheme of Micro Finance Programme to overcome the constraints in the existing scheme of SIDBI, whose reach is currently very low. It is felt that Government's role can be critical in expanding reach of the scheme, ensuring long term sustainability of NGOs/MFIs and development of Intermediaries for identification of viable projects.

Role of Microfinance

No	Role of Microfinance	1	2	3	4	5	%	Mean
1	Microfinance is very important in socio-economic environments and play vital role in reducing poverty	2.5	7.5	7.5	48.8	33.8	**82.6**	3.91
2	Microfinance is the supply of loans, savings and other basic financial services to the poor people.	2.5	11.2	5	51.2	30	**81.2**	3.95
3	microfinance is provision of micro-loans and saving to low-income groups, small businesses and poor people	3.8	8.8	22.5	20	45	**65**	3.94
4	Micro finance banks are institutions that are established to provide financial services to the active poor.	3.8	12.5	17.5	35	31.2	**66.2**	3.78
5	Role of microfinance institutions are to provide diversified, dependable and timely financial services to the economically active poor	3.8	10	26.2	23.8	36.2	**60**	3.79
6	Role of microfinance institutions is creating employment opportunities.	1.2	8.8	31.2	31.2	27.5	**58.7**	3.75
7	Role of microfinance institutions is to provide benefits to the poorest people both an economic and socio well-being point-of-view	3.8	8.8	25	38.8	23.8	**62.6**	3.70
8	Role of microfinance institutions to help existing business grow or diversify their activities	5	10	15	33.8	36.2	**70**	3.86
9	Role of microfinance institutions to encourage the development of a new business.	13.8	15	20	22.4	28.8	**51.2**	3.72
10	Role of microfinance institutions to empower women or other disadvantaged population groups	5	5	32.5	18.8	38.8	**57.6**	3.81

The results (Table above) indicate microfinance plays a greater role because mean scores for overall of the total sample (3.821), for respondents are significantly greater than the mean scale 3.60. Microfinance is very important for poor people as well as businesses and it is the technique of poverty reduction, and provides diversified, dependable and timely financial services to the poor people and existing business, creates employment, encourages a new business development, and empowers women or other disadvantaged population groups.

Challenges Faced By Microfinance Institution

The results (Table above) point out the major challenges that face microfinance institutions range from default risk inherited from borrowers and lack of understanding the concept of microfinance by the clients to inadequate donor funding where the microfinance institutions do not have enough adequate capital from donor to meet the needs of the microfinance beneficiaries in order to help those who need assistance of the microfinance. On the other hand, the challenges facing microfinance institutions include insufficient support from government.

Discussion

The results indicate that micro finance is important for the society but there is some challenges faced by micro finance institutions and the challenges include inadequate donor funding, insufficient support from governments, improper regulations and also the challenges include Lack of standardized reporting and performance monitoring system for microfinance institutions. The results support the findings of Muhammad and, Irobi (2008,2010), According to Muhammad (2010), focus on the challenges and opportunities face microfinance sector in India, his study resulted that numerous challenges are ahead of microfinance sector like improper regulations, increasing competition, innovative and diversified products, profitability, stability, limited management capacity of micro finance institutions (MFIs) etc. On the other hand, the rapid increase in poverty in India, along with other opportunities, is paving way for the growth of this sector and offering a huge market potential for microfinance. On the other hand according to Irobi (2008) found in his study that the major challenges of microfinance institutions in India are communication gaps and Inadequate awareness; insufficient support from governments; inadequate donor funding; less attention on financial sustainability of MFIs; lack of adequate loan or equity capital to increase loan-able funds; high turnover of MFI staff; limited support for human and institutional capacity building; illegal government and NGO operations that spoil the market; and lack of standardize reporting and performance monitoring system for MFIs.

Conclusion

Microcredit and microfinance have received extensive recognition as a strategy for poverty reduction and for economic empowerment. Microfinance is a way for fighting poverty, particularly in rural areas, where most of the world's poorest people live rural development and poverty reduction are commonly related to the issue of rural employment. Rural households livelihood strategies comprise several options, including farming and non-farm activities, local self-employment and wage employment, and migration. Microfinance has proven to be an effective and powerful tool for rural development and poverty reduction. Like many other development tools, it has sufficiently penetrated the poorer strata of society. The poorest form the vast majority of those without access to primary health care and basic education; similarly, they are the majority of those without access to microfinance. Microfinance is one of the ways of building the capacities of the poor and developing them to self-employment activities by providing financial services like credit, savings and insurance. To provide micro finance and other support services, MFIs should be able to sustain themselves for a long period. There are so many schemes for the development of poor in India. Creating self-employment opportunities through microfinance is one way of attacking poverty and solving the problems of unemployment. It shows that access and efficient provision of microcredit can enable the poor to smooth their consumption, better manage their risks better, gradually build their assets, develop their micro enterprises, enhance their income earning capacity and enjoy an improved quality of life. Microfinance services can also contribute to the improvement of resource allocation, promotion of markets, and adoption of better technology; thus, microfinance helps to promote economic growth and development.

References

1. Aryeetey, E. (Summer 2005), "Informal Finance for Private Sector Development in Sub-Saharan Africa", Journal of Microfinance, Vol. 7, No. 1

2. Ghalib, Asad K. (2007), "Measuring the Impact of Microfinance Intervention: A Conceptual Framework of Social Impact Assessment", The Singapore Economic Review Conference

3. Dunford, Christopher. 2001. Building Better Lives: Sustainable Linkage of Microfinance and Education in Health, Family Planning, and HIV/AIDS Prevention for the Poorest Entrepreneurs. http://www.microcreditsummit.org/papers/papers.htm.

4. Lapenu C, Zeller M (2001). "Distribution, Growth and Performance of Microfinance Institutions in Africa, Asia and Latin America," Food Consumption and Nutrition Division Discussion Paper No.114, Int. Food Policy Res. Ins. June 2001

5. Meyer (2002). An earlier helpful survey published by ADBI. This draws out some of the methodological problems in assessing impact and surveys a number of important studies available at the time of the writing (around 2001).

6. Microfinance Information Exchange Inc (2005). Benchmarks. All observations are medians. India observations draw from panel data for MFIs in 2004-05 Benchmarks.

7. Patrick H (2004). "Measuring Microfinance Access: Building on Existing Cross-Country Data". Prepared for UNDP, World Bank and IMF Workshop on the Access of Poor and Low Income People to Financial Services, October 26, 2004. Available at: http://www1.worldbank.org/ finance/assets/images/

8. Report of ministry of small scale industries India published on website www.ssi.ac.in

9. Sadegh Bakhtiari (2006), Microfinance and Poverty Reduction: Some International Evidence, Volume 5, Number 12 –International Business & Economics Research Journal.

10. Benchmarks (2005). Microfinance Information Exchange, Inc. (MIX).

11. Muhammad, S. (2010). Microfinance Challenges and Opportunities in Pakistan. European Journal of Social Sciences – Volume 14, Number 1.

12. Irobi, N.C. (2008), Microfinance and Poverty Alleviation: A case study of Obazu Progressive Women Association Mbieri, Imo State- Nigeria. Uppsala: Department of Economics.

●

BUILDING SCIENCE OF INDIAN TEMPLES IN ANCIENT INDIA

DR. VINAY KUMAR*

Each culture and era has a distinctive construction practice which is unique and represents the ideology, development, art and architecture of that particular era or culture. In this context, the Hindu Temples are epitome of knowledge, art, architecture, culture and represents the advancement of building science of the ancient Indian subcontinent. The ideology and tradition of Indian temple exists not only in history but also in the present era which gives a sense of flow to traditional Indian values and also creates a profound impact on the socio-economic life of the people. This paper deals with the styles, design and geometry, structural system and construction technology of the Indian temples. The distinctive architectural styles and elements of Hindu Temple are also presented in this paper. The structured systems which were prevalent in the Indian temple construction are explained in this paper. The construction technology starting from the selection of the team to planning, carving and assembling of individual pieces are also detailed in this paper. The relationship between structure stability and symmetry and proportion of Indian temples is also presented here which explains the resistance of Indian Temples against Seismic forces and other environmental effects.

The Hindu temples are known as *Mandir* in Hindi. The word *Mandir* was derived from Sanskrit word *Mandira*. Although the architecture of the Indian temple varies across the India, its basic element remains the same. The temple in India as an architectural entity emerged with certain concepts about God. They started to be developed somewhere around 4500 years ago during the mature phase of Indus-Saraswati or Harappan Civilization (2600-2000 BCE)[1] .The temples in these periods were open air shrines kept under sacred trees or near water bodies which changed with the onset of *Mahajanapada* period (700 BCE).In this period, the concept of temple as closed structure gained prominence with the ordinary thatched huts of the villages of Northern India in the period between 700 to 500 BCE providing an early model for the temple builders. The multi-storeyed temples began to be constructed in the Sunga-Kushana period (200 BCE - 200 CE)[2]. In 320 CE, the Gupta empire was established and the concept of duality in *Bhakti*- the god and the devotee, the former being the most sacred entity, gained prominence. And due to this concept, two spaces were provided in the temple, one for the God (*garbha-grha*) and one for the devotees (*mandapa*). An early example of such an arrangement is Sanchi Buddhist temple no.17[3]. The limitation to vertical monumentality and height was broken in late fifth and early sixth century in Gupta period with a second storey as well as *shikhara* or *vimana* becoming a common feature in Indian temples. Also, one of the most interesting features of these temples is that they were raised without the use of mortars. The development of temple architecture or iconography took place prominently in this period as mythologies and deities were translated in stone and started ornating the entities of the temple structure. Up to the fifth century, there was a unilinear development in the temple architecture but with the onset of seventh century, the temple construction took a turn for regionalization. The North Indian or the *Nagara* style adopted a curvilinear *sikhara* ending with a pointed finial at the top whereas the south Indian or *Dravida* style developed stepped *vimana* ending in a round *stupi*. In modern times, the temple construction in North India became more confused whereas the temples of South, Gujarat and Orisaa continued following the traditional temple construction practices.

Several treatises on architecture and construction such as the *Vedas*, the *Brahamanas*, the *Upanishads* and the *Bhagvad Gita* gives surprisingly accurate details on *pramana* (measurement) techniques, materials and other structural specification of the Indian temples[4]. The technical treatises in the field of the architecture and sculpture which gives the basic layout for the construction of temples are *Shilpa Shastras* and *Vastu Shastras*.The *Mayamata* and *Mansara* are the two most referred treatises of Southern India on architecture and iconography and the rules laid by these treatises are rigidly followed for the temple construction. It contained details about the science of the accurately laying out the ground temple, keeping in mind the astronomical and other cosmic movements and position which is also known as

* Assistant Professor, Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Banaras Hindu University.

mandala[5]. The *mandala* is basically a sacred form consisting of the intersection of the circle and the square[6].

The Indian temple is a depiction of macrocosm (universe) as well as the microcosm (the inner space). The idea behind the development of Hindu temple is to link man with the god. Hence, the temple with all its architecture and decoration and rituals, is a place to get ultimate liberation which is the guiding philosophy of Hinduism[7]. The Indian temples also act as a place for more intellectual and artistic development. The temple complex housed schools, hospitals and courts for general citizen and its spacious halls were used for the recitation of *Mahabharat* and *Ramayana*. The temple maintained its sustenance through the income generated from the cultivable land which was assigned to it by the king[8]. It also provided livelihood for large number of persons and greatly influenced the economic life of the community.

Elements of Hindu Temple

The Hindu temples adopted a definite structure in the later half of the 7th century[9]. The common elements of the Hindu temples in their original Sanskrit terms are as follows: The main compound of the temple is known as *Vimana* which comprises of two parts. The top portion of the *Vimana* is known as *Sikhara* and the lower portion which lies inside the *Vimana* is called *Garbhagriha* (cella or inner chamber) (Fig. 1 and Fig. 2).

1. "*Sikhara*" refers to the spire or the tower. It is shaped as pyramidical and tapering representing the mythological "*Meru*" or the highest mountain peak.

2. "*Garbhagriha*" refers to the womb chamber which is the innermost chamber of any temple where the deity resides. It is mainly square in layout and is entered through eastern side.

3. "*Pradakshina Patha*" refers to the ambulatory passageway for circumambulation and comprises of enclosed corridor outside the *garbhagriha*. The devotees walk around the deity in clockwise direction, paying their respect to the deity.

4. "*Mandapa*" is the pillared hall in front of the *garbhagriha*, used as assembling point by devotees for chant; rituals meditate or observe the priests perform the rituals. Sometimes, "*Natamandira*" is also provided in some temples which mean the hall for dancing. In some early temple structures, the *mandapa* was isolated and separate structure from the sanctuary.

5. "*Antarala*" refers to the intermediate chamber which joins the main sanctuary and the pillared hall of the temple premises.

6. "*Ardhamandapa*" refers to the front porch in the main entrance of the temple which leads to the main temple Some other essential structural elements found in the Hindu temples are:

7. Mainly found in the south Indian temples, "*Gopurams*" are the monumental and ornate entrance to the temple premises.

8. "*Pitha*" or the plinths of the main temple.

9. The gateways typical to north Indian temples are "*Toranas*".

10. The "*Amalaka*" is the fluted disc like stone placed at the pinnacle of *sikhara*

The Geometry of Hindu Temple

The Hindu architecture was among the first ones that established a relationship between human figure and the system of proportion which was later studied by Leonardo da Vinci and Le Corbusier in modular system of measurement. It is based on the geometry of *Vastupurashamandala* in which the form of *Purasha* was made to fit the abstract idea of square as the highest geometric form[10]. The basic form of *Vastupurashamandala* is the square which represents the earth and the circle represents the universe suggesting timelessness and infinity (Fig. 3). The *mandala* is actually a square divided into smaller squares arranged in the form of a grid. Each smaller square depicts the area of the respective Gods. The most commonly used *mandala* is the square subdivided into 64 and 81 squares. Thus, the *Vastupurashamandala* was the basis of the ground floor plan for all Hindu temples. The basic shape of the temple plan was : the outermost ring of square of the *mandala* from thickness of walls of main shrine, the central 4 squares was reserved for the main deity, the inner ring of 12 square form the walls of the *garbhagriha* and the next 16 to 28 forms the *pradkshina patha*. These simple divisions of square with permutation and combination became the base for the development of more complex temple compound.

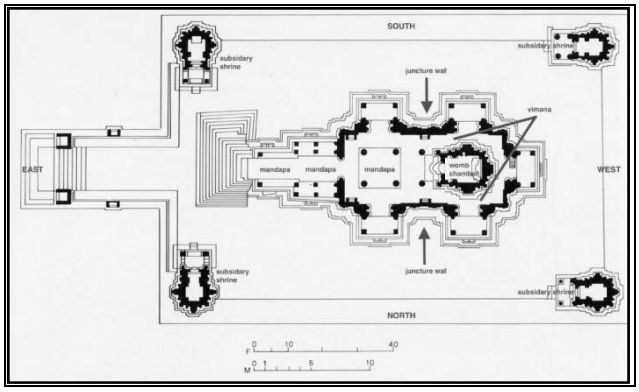

Fig. 1: The typical Hindu Temple plan depicting various elements.

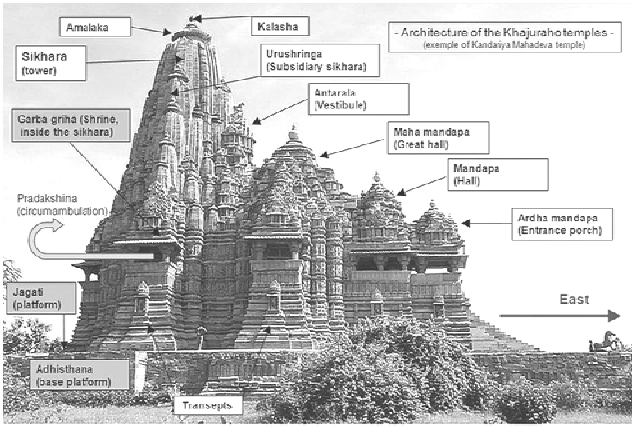

Fig. 2: The typical elevation of Indian Temple depicting various elements

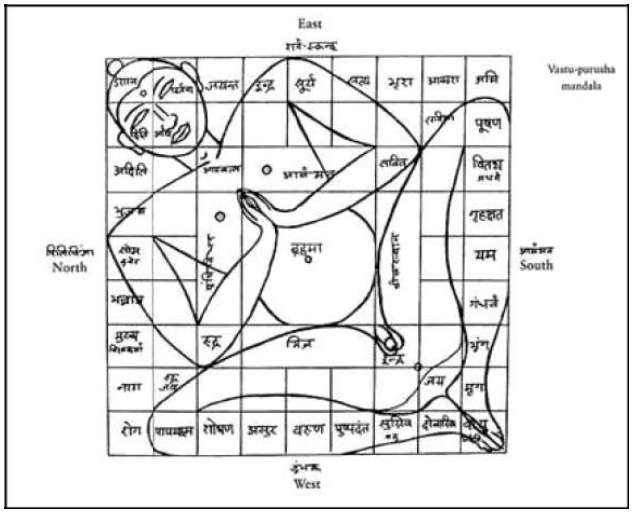

Fig. 3: *Vastupurashamandala*

Construction Materials

The temples were constructed with all types of materials depending upon the availability from region to region. The materials varied from timber to mud, plaster, brick or stone incorporating the entire India. The material played a significant role in overall aesthetics, construction techniques and monumental character of the temple.

Earlier temple structures were constructed with less durable materials such as timber, brick or plaster and thus, have mostly disappeared or only fragment remains. Sites excavated in Vaishali in Bihar shows examples of temples constructed with mud or mud brick. The usage of timber and bamboo was mainly in the temples of Himalayan valleys and the region of West Bengal and Kerala. The construction of the temples with bricks was prominent in pre Christian era but was limited to those area where suitable stone or bricks are available. The use of stone for temple construction was one of the prominent developments in Indian temple architecture. The construction from stone evolved from rock cut sanctuaries (Stupa, Sanchi) to more complicated structure with ornate carvings and sculpting.

Fine grained dark marble and soapy chloritic schist was used by later western Chalukyan who established themselves in the tenth century around the areas of Malkhed and Kalyani. Jain temple of Lakkundi is a great example of this era. Earlier Pallava temples were constructed of hard igneous rocks such as granite (Olakkannesvara temple), leptinite (Shore temple of Mamallapuram) and gnesis (Mukundanayanar temple). At later stages especially during Pandya era (around 6th century), the lower portion of the temples were being constructed using solid granite stone masonry whereas the lighter materials like brick, timber and plaster were used to construct the super structure. The Hoyasala Empire (a prominent southern empire) which ruled over parts of Karnataka, parts of Tamil Nadu and Andhra Pradesh used greenish grey soapstone which were soft and sculptor friendly[11]. The temples of Kerala primarily used timber, tiles or copper sheet to build super structure whereas the *vimana* was constructed using granite or hard laterite blocks. The temples of Himachal Pradesh were generally built using the combination of wood and stones generally in dry stone machinery. The architects of Bengal used laterite, bricks, wood, terracotta or mud for erecting different types of temples with lime or mud mortar as binding materials.

The Structural Systems of the Hindu Temples

The trabeated system or the post and lintel method was the basic construction technique used in Hindu temples which was later developed into corbelling techniques. This method was primarily used for wooden construction but later evolved for stone construction.

Trabeated System

In the trabeated system, the various arrangements between vertical elements (pillars and pilasters) and horizontal elements (cross beams and lintels) are used to provide the stability to the system. The most salient feature of the trabeated system is that only horizontal and vertical members are used in this system and the spans were used to close the interior spaces. The roofing was done by laying horizontally the slabs of stone from one supporting beams or walls to another.

Corbelling System

In corbelling system, each horizontal course is constructed in such a way that stone or bricks in each layer are projected out to bridge the gap between the two walls. It diminishes the space until it can be closed with a single piece of stone or brick. It was primarily used to create interiors of the temple and stone shells of super structure above the sanctuary.

The Construction Technology of Hindu Temples

The available information of temple construction was collected from stone slabs, metal plates, palm leaves and manuscripts. Primarily, both Dravidian and *Nagara* temple construction followed same procedures up to construction of the temple. The slight variation occurred due to the variability of materials used for construction, the climate or the availability of manual labors for construction.

It started with the selection of team headed by chief architect (*sompurash* in the west, *mahapatras* in the east and *sthpatis* in the south). The construction team consisted of four classes: 1) *Sthapati* (Main architect versed in traditional science, mathematics and *Shilpashastras*) 2.) *Sutragrahin* who did the work assigned by *sthapati* 3.) *Taksaka* who did the carving and cutting of stone 4.) *Vardhakin* is the mason or carpenter who assembled all the pieces.

The construction of temple was a long and tremendous process which sometimes used to last for years. The first stage was the planning of the temple where the *sthpati* with the team did the selection of site, inspection of site, orientation and layout of the site, selection of materials, quarrying and transportation of materials. The layout was done on the basis of Indian Circle Method and with the help of instrument known as "*shanku yantra*". The nature of main deity played a major role in determining the orientation of temple. The stone which was to be used for construction must have some quality features such as even color, hard and perfect and pleasing to touch. The second stage was the craving of different parts of the temples in which the *takshaka* directed the sculptors and *shilpis* to carve parts according to the drawings and specification. The cutting and carving the stone was done according to pre defined shape. The joining was also pre decided and rough joinery was created while cutting. The tools required such as hammers, chisel were locally made and sharpened regularly. The sketching was done either by charcoal piece or sharpened bamboo pieces. The polishing was done using stone bars. The third and the final stage consisted of assembling of the parts of temple which consisted of the actual construction of the temple. Ramps were constructed for the easy placement of heavy materials. The major joinery system used during the assembling of temple were mortise and tenon joint (peg is fixed between the two mortise cut out in two different stones and was used primarily used between two courses of masonry to avoid movement due to lateral forces) and lap joint. The usual thickness of stone used for wall varied form 800 mm to 1200 mm. The column consisted of 5 parts as two parts of base, one part as shaft and two as the capital of column. Also, columns and beams were monolithic structure.

Structural Plan and Earthquake Resistance

The 22nd chapter of treatise *Brahma Samhita* contains 107 chapters of technology and science which presents various aspects related to earthquake resistance of the buildings[12]. One of the chief factors which provide these temples considerable degree of earthquake resistance is their configuration as they provide a regular and direct route for material to come down, such as the configuration of *Dravida* temple particularly of the main structure.

Symmetrical forms are always preferred from earthquake resistance as asymmetrical forms produces eccentricity between the centre of mass and centre of rigidity which results in the torsion and tends to stress

the concentration. Thus selection of symmetrical plans and layouts is important in seismic design[13]. The square is selected as the basic unit and of triangle as the principle controlling the layout which concluded in strictly symmetrical plans.

Earthquake forces are felt more at the ground level. The ground story has dual purpose as apart from carrying its own lateral loads it also carries the sheer force of the upper floors which is similar to the downward building of vertical gravity loads[14]. Structural Plan Density is defined as the total area of all vertical structural members divided by gross floor area. For a RCC framed building it is 3 but it is as high as 47 % for Surya Konark Temple giving it earthquake resistance. As building grows taller, its period increases with a change either upward or downward. The period of building is not a function of height to depth ratio, story height, type of structural system and amount of distribution of mass. The construction technique used in construction of tall pyramidical temple roofs (*Shikharas*).

Conclusion

Thus, we see that the temple architecture in ancient India portrayed the advancement of ancient Indian building sciences. The balance, hierarchy, regulation and symmetry like architectural concepts were well developed in ancient India before thousands of years. The design and construction of these temples was fairly intricate, they were built according to a complex calculation involving physical and metaphysical elements. The *parikrama* (walkway into the temple), the *garbhagriha* (the sanctum sanctorum), the shape and the size of the idol, the *mudra* held by the idol and the *mantra* used for the consecration of the temple, were all determined by the fundamental parameters of the design. Based upon a deep understanding of the inner energies of the human system, these elements were built in order to create a powerful space for inner transformation.

Endnote

1. S.P Gupta and S. Vijayakumar. 2010. Temples in India: Origin and Developmental Stages. D.K. Printwood (P) Ltd., New Delhi, p. 14.

2. Acharya V.A, 1919. "Indian Temple Architecture: Form and spaces" Research Paper, Roorkee: Department of Architectural and Planning, I.I.T., Roorkee, India, p. 27.

3. Barker L. M. 1969. *Pears Encyclopedia.* London: Pelham Books Ltd. F 154.

4. Kak S. 2002. "Space and Cosmology in Hindu temples". *Vaastu Kaushal: International Symposium on Science and Technology in Ancient Indian Monuments.* New Delhi. November 16-17.

5. Meister, Michael W. 1983. "Geometry and Measure in Indian Temple Plans: Rectangular Plans." *Artibus Asiae,* Vol. 44, No. 4, pp. 266-296.

6. Prabhakar Shankar, 1979. "The Vastu Vidya of Vishvakarma", *Studies in Indian Architecture,* Mumbai: Asia Publishing House, p. 79.

7. Michell, G. 1988. The Hindu Temple: An Introduction to its Meaning and Forms. Chicago and London: the University of Chicago Press, p. 23.

8. Shweta Vardia and Paulo B Lourenco. "Building science of Indian Temple Architecture". In the *Proceedings of the International Conference on Rehabilitation and Restoration of Structures* (ICI), IIT Madras, Chennai India. 12-16 February 2013, pp. 167-178.

9. Fletcher, Sir. Banister. 1992. *The History of Architecture.* New Delhi: CBS Publishers and Distributors, p. 24.

10. Grover S., 1988. *The Architecture of India: Buddhist and Hindu. Ghaziabad:* Vikas Publishing House Pvt. Ltd., p. 76.

11. Dagens, B., Mayamata, 1986. *An Indian Treatise on Housing Architecture and Iconography,* New Delhi, Sitaram Bhartia Institute of Scientific Research, p. 43.

12. Acharya P.K. 1946. *An Encyclopaedia of Hindu Architecture.* London: Oxford University Press, p. 89.

13. Vasudha A Gokhale. architectural Heritage and Seismic Design with Reference to Indian Temple Architecture. In the *Proceedings of 13th world conference on Earthquake Engineering,* Vancouver, B.C., Canada August 1-6, 2004. Paper no 2819.

14. Arnold Christopher, 1981. *Building Configuration and Seismic Design.* Maac Graw Hill Inc, p. 53.

●

KIRAN DESAI'S THE INHERITANCE OF LOSS: A STUDY IN MULTICULTURAL PERSPECTIVE

PROF. M.K. PANDEY*AND GEETANJALI**

The present study investigates Multiculturalism by exploring the novel "*The Inheritance of Loss*" by Kiran Desai. The novel meticulously unfolds the story of Jemubhai Patel and Biju's inexorable encounter with the west. The novel comprises several crucial themes like colonialism and its legacy, racial discrimination, identity crisis, difficulty of assimilation that leads to rejection of people from third world countries due to ethnic disparity and causes a feeling of inferiority from which stems alienation, rootlessness. In the present era of globalization large bulks of migrations has brought into existence several multicultural societies in the United States, Canada and Australia. These rapid transformations in several societies affirm the clear impact of colonial epoch that resulted in the homelessness, alienation and identity crisis. These problems of adjustment, racial and ethnic differences are the focal zone of rendition to many Indian novelists in their works. They managed to depict the fragmented psyche of the immigrants.

Multiculturalism is a theory that analyses the consequences of residing in a society which consists of people hailing from various ethnic backgrounds covering colonized masses. It supports the attitude that all cultures deserve to be treated on equal terms, and hence attracts the attention of readers and scholars from several points of view. Multiculturalism is the co-existence of diverse ethnic cultures within a community, where culture includes racial, religious, and culturally distinct groups and is manifested in customary behaviors, patterns of thinking and communicative styles. Though, cultural diversity has been prevalent in societies for a very long time, it is towards the end of 20^{th} century that concept of multiculturalism as an area of study affirmed its dominant presence in the world literature. Basically, multicultural societies of America and Canada are called land of immigrants. America is the nation of multiracial communities. The social model for American society has shifted away from the image of "Porridge" into which all the elements lose their identity to the plate of "Salad" whose ingredients can be separated without losing their identity, yet increasing the taste and nutrition of salad. C.W. Watson argues: "Multiculturalism compels us to think through the social and collective dimensions of diversity" (watson:45). The view that the various cultures in a society deserve equal respect and scholarly interest became a significant force in American society during 1980s and onwards.

Formative aspects of multiculturalism are immigrant minorities,persons seeking shelter,migrant workers and national minorities.Multicultural communities stem from a number of formative aspects that caused migration of people from various nations to 'New World'. Migration from countries like Germany, Middle East, and Asia took place in a large bulk during and after the world wars. To these people first world nations held the promise of fulfilling their dreams and aspirations and it trigger off their steps towards their dreams.

The immigrants try to retain their identity, culture, and language despite their professional work. Multiculturalism makes entire society stronger because the society benefits from the breadth and depth of the diverse cultural assets, including languages, beliefs, and practices. Moreover, a diverse workplace possesses a larger pool of skills, talents, contacts, languages, points of view and creativity. Multicultural theorists maintain the view that cultures are overlapping and interactive, but they however contend that individuals belong to separate societal cultures. Liberal egalitarian defenders of multiculturalism like *Kymlicka* continue that special protections for minority cultural groups still hold, even after we adopt a more cosmopolitan view of cultures, because the aim of group-differentiated rights is not to freeze cultures in place but to empower members of minority groups to continue their distinctive cultural practices so long as they wish to.

There is no doubt that it has benefitted the societies on a larger scale but more often than not its upshot has been seen in form of splintered personality that is jammed somewhere between the East and the West. It creates a warped mindset that doesn't befit

∗ Professor, Deptt. of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University.
∗∗ Research Scholar, Deptt. of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University.

any society. The present novel consists of the figures like Jemubhai, Biju and Sai who do not fit their society as they are the outcome of colonial period and its aftermath. The impact of colonialism can be seen in the conduct of Jemubhai Patel and Sai. Confrontation to west resulting in form of humiliation and self mortification compelled Jemubhai to make him hate his own land and its people and at the same time adopting English ways of living that set him apart from his family and friends. Sai is born during the postcolonial India where the impact of imperialism still sways the life of its people as it is long ingrained in their psyche. Biju experiences the temporariness there in America as he does not have the Green Card and moves from one place to another in order to get shelter:

"Biju couldn't help but feel a flash of anger at his father for sending him alone to this country, but he knew he wouldn't have forgiven his father for not trying to send him, either." (89, Desai).

Though Biju is affected and fascinated by the English like the colonized masses and that is reason of his arriving to United States, and like any other immigrant clings to his own *Desi* style and culture and at times feels a pang for village life.For instance in the novel; *"The Bluest Eye"* by Afro-American novelist Toni Morrison yearning for beauty that stands the parameter of English culture causes and results in the excruciating suffering to the girl Pecola and apparently ends into her death. Therefore *The Inheritance of Loss* tries to accentuate the personality of the characters which eventually distorts and leads them to naught after they meet the consequences of their encounter with the west and what they inherit is only "Loss" as a result it questions if these societies contribute to make a diverse pool of various ethnic societies or it reduces in form of identity crisis, alienation and poses a problem of in-betweeness and hybridity. The novel unfolds the condition of immigrants like Biju, Jemubhai when they arrive to the nations like England, and America with the hope of materializing their aspirations of becoming wealthy. The duration of their stay abroad proves too oppressive to them. Problem of cultural assimilation creates complexity in the persona of these figures. As characters like Jemubhai Patel encounters racial discrimination in the following lines:

"The young and beautiful were no kinder; girls held their noses and giggled, "Phew, he stinks of curry!"

Thus Jemubhai's mind had begun to warp; he grew stranger to himself than he was to those around him, found his own skin odd-colored, his own accent peculiar. He forgot how to laugh, could barely manage to lift his lips in a smile, and if he ever did, he held his hand over his mouth, because he couldn't bear anyone to see his gums, his teeth. They seemed too private." (47, Desai).

Similarly Biju's experience in America is also not different,

"Good-bye, Baby Bistro."Use the time off to take a bath," said the owner. He had been kind enough to hire Biju although he found him smelly."(26, Desai).

It leads them to attempt to equalize themselves to the English by imitating them and their culture. In this endeavour of trying to assimilate themselves with the English and in failing to do so or their rejection by the English by denying them place in their cultural space they become rootless and the feeling of alienation cherish in their attitude. When JemuBhai Patel went to England for higher studies, he never feels at ease there, even in the filthy cluster of houses he is refused accommodation before he could get space in the house of Mrs. Rice.

Desai portrays multicultural society of America as centre to many youths for their livelihood that seems as a result of attraction towards the west with a feeling of imitation. Being the inhabitant of the colonized nations the ingrained notion within the psyche of people Desai through this novel beautifully captures that sensitive nerve of diasporic experience of the immigrants which is shared by Jemubhai and Biju during their expedition, though the way they encounter the west is quiet distinct.In The Inheritance of Loss, Kiran Desai presents a landscape of America as land of opportunities with characters from several countries. Characters like Jemubhai, Biju, Saeed, who migrated there in order to materialize their dreams confronts the question of adjustment, identity crisis, homelessness and ethnic conflict. Nepalese-Indians are presented as criminals and terrorists and are victimized by the prejudice of mainstream policies within multicultural societies. This novel questions the biased attitude towards migrant people as the "Other". As migration is the very base of multiculturalism, through the novel Desai delineates aftereffects of east-west confrontation that results in form of alienation, feeling of homesickness, separateness and homelessness that is to be noted in the characters presented in the novel.

The problem of Homelessness is quite apparently visible from the portrayal of JemuBhai, and

Biju whose experience abroad leads to their personality disintegration. As India is also the nation of several culturally different groups, it also possess some conflicting outputs of it in form of Sai, the daughter of Zoroastrian pilot father and a Guajarati mother whose married were never approved of.“*In a country so full of relatives, Sai suffered a dearth”. (35, The Inheritance of Loss).* Displaced recurrently from his sense of home and result of the humiliations encountered by Jemubhai in England finally creates a warped mind set within him which is hardly human. This is also evident in case of Biju who in spite of being surrounded by many persons feels himself lonely and possessed nostalgic attitude for his home. Biju was engrossed in the reminiscences while talking to his father on telephone:

“The atmosphere of Kalimpong reached Biju all the way in New York; it swelled densely on the line and he could feel the pulse of the forest, smell the humid air, the green-black lushness; he could imagine all its different textures, the plumage of banana, the stark spear of the cactus, the delicate gestures of ferns; he could hear the croak trrrr whonk, wee wee butt ock butt ock of frogs in the spinach, the rising note welding imperceptibly with the evening. . . .’(252, Desai).

Experiences faced by the Judge and Biju brings out feelings of inferiority and ethnicity with which the people from third world nations undergo and are made to accept themselves as “subaltern” in multicultural societies of England and America. They suffer from identity crisis and start feeling dispossessed of their roots and this result in disintegration of personality. This sense of otherness and ethnic conflict becomes the very cause of separateness in the character of Jemubhai, Biju and Sai. Here question that arises is of belongingness as which place they belong to? And in this context Jhumpa Lahiri opines:

“I think that for immigrants, the challenges of exile, the loneliness, the constant sense of alienation, the knowledge of and longing for a lost world, is more explicit and distressing...*”(Lahiri:4).* However, the conflict accentuates the sense of the boundary between the insider and the outsider. The novelist Kiran Desai appears to be critical of the multicultural outlook in the American nations as it distort the personality of the migrants. She tends to be in support of the view by Salman Rushdie about migrants:“What is the best thing about migrant peoples? I think it is their hopefulness…and what’s the worst thing? It’s the emptiness of one’ luggage” (*67, The Fictional World of Kiran Desai).*

Desai’s *The Inheritance of Loss* accentuates the question whether multiculturalism celebrates the cultural relocation and cultural pluralism or these cultural transportation challenges the Human identity. To sum up, the novel deals with multiculturalism as a result of colonial period, cultural shift and the attraction towards the west of the people from once colonized nations that turn out in form of rootlessness, disintegration and feeling of lack of belongingness. Enriching function of the concept of multiculturalism rather ends up in more agonizing experience.

Works Cited

1. Abrams, M.H. and Geoffrey Galt Harpham. A Glossary of Literary Terms. Delhi: Cengage Learning India Private Limited, 2012.Print.
2. Desai, Kiran. The Inheritance of loss.NewYork: Grove Press, 2006.Print.
3. Iyengar, K.R.S. Indian Writing in English.Delhi: Sterling Publishers Pvt.LTD, 2014.Print.
4. Lahiri,Jhumpa, “An Interview with Jhumpa Lahiri” www.writerswrite.com November 2003, https://www.writerswrite.com/books/interview-with-jhumpa-lahiri-110120031web.
5. Nityanandanam, Indira. The Fictional World of Kiran Desai. New Delhi: Creative Books, 2010.Print.
6. Watson C. W., Multiculturalism. New Delhi, Viva Books Private Ltd, 2005.Print.

●

A SOCIOLOGICAL INTERPRETATION OF EDUCATION: SOME CONCEPTUAL ISSUES

VINAY KUMAR VERMA*AND DR. ALOK GARDIA**

It is now axiomatic to claim that man is a social animal. During the long journey of human civilization, man has evolved different social systems (like Education, Health, Family and Religion) to fulfil their needs of being human in association as well as numerous aspirations of the society. Education system plays a pivotal role to mould society in new amplitude and for the betterment of an individual. There are various factors (psychological /philosophical and sociological) which advocate the significance of education. The present paper is an attempt to extend sociological interpretation of Education with respect to socialization and culture. Educational system reflect underlying changes in society because the any sound system is the construct built by society, which naturally seeks to reproduce its collectively held values, beliefs, norms, and conditions through its institutions. Thus, as time unfolds, educational systems come to contain the imprint of past stages in the development of society, as each epoch leaves its imprint on the system. By uncovering these imprints and analyzing them, the development of a society can be reconstructed from the educational system. (Durkheim, 1965)

Education etymologically is derived from **Educere** and **Educare** meaning thereby the development of individual from within and to train or to mould respectively. Education has become a subject of public debate as well as theoretical speculation. People differ in their conception of education such as philosophical, psychological and sociological concepts etc.

Plethora of sociologists have established that education act as a socializing agency and teachers play a major role of acting as socializing agents. In other words education in sociological terms is a potential agency of socialization and transfer of identity to prospective generations. Education is also a process helps in achievement of the purposeful living society .Society is a product of several social forces (caste, class, family). Education in this respect is a process which helps the member of society to adopt the constantly changing of the society. Some definitions of education are given below which reflect the concept of sociological perspective of education.

According to John Dewey “Education is a tool to realize the societal needs and aspirations” Emile Durkheim noted that –Education is the process of preparing people to fit into the complex social structure through the process of socialization.

Socialization as “a learning process, one that involves development or changes in the individual’s sense of self”, and this is exactly true. Socialization is a learning process. When your parents teach you how to use a toilet or behave politely, when your teachers teach you about your country’s history, when a priest teaches you to behave a certain way (i.e. listen to God’s commandments), you are being socialized. When you are being socialized, you are taking part (willingly or unwillingly) in a learning process.

Socialization is the manufacturing process and we are the mass produced manakins. We are well designed, sufficiently shaped, appropriately manicured, parts of socialization. We are a product of the socialization process and we are fitted into the social/productive machine just like any part in any machine would be. We are a product of a process; we are a part in a machine. What part we play, and how our part is shaped, is entirely dependent on the socialization process. If you were raised in India or America, or Russia, or even France, you would be shaped entirely differently and your “identity” would be different as a result. (Sosteric, 2015).

Socialization guarantees the replication of the social order from generation to generation. Each new baby that enters society is taught, by the agents of socialization, how to think, act, and behave in accordance with the expectations (gender, social class) of the society within which it lives. It is a process by which children learn knowledge, values, beliefs, rule and regulations of the society .These ways play an important role in moulding the personality of the children. Therefore child prepares himself or herself to

* Research Scholar, Department of Education, Faculty of Education, Banaras Hindu University.
** Associate Professor, Department of Education, Faculty of Education, Banaras Hindu University.

take multiple roles through the process of socialization.

There are different type of socialization micro level macrolevel and meso level. Primary socialization occurs to learn the values, norms and belief as a member of a society. Primary socialization starts from family of the child. Macro and Meso level socialization occurs at school and college level respectively.

Emile Durkhiem (1895) noted that Education is the process of preparing people to fit into complex social structure through the process of socialization it helps the child to trained for the future roles of adult life children have to be learned to be members of more than one institutional group such as they have to learn to be fathers or mothers, teachers or civil servants. Education in this context may be formal and informal, education received in the family or from the peer groups and education received in the school respectively. Education plays a crucial part to socialise child in following ways:-

- Informally
- Formally
- Interpersonal skills
- Curricular and co –curricular activities
- Agency of social control
- Approval of social behaviour

Imitation is one of the factor of socialization with help of education. Teacher/Teacher educators organise teaching learning process which help in socialization.

Talcot Parsons (1961) described following roles of education in context of its social relevance.

- Emancipation of child from the family
- Internalization of social values and norms at higher level rather than available in the family
- Differentiation of the school class in terms of actual achievements and differential valuation into adult role system.

School as a socializing agent

Education /school is one of the most important socializing agent in the development of a child. It is the organized part of the process through which successive generation learns the accumulated knowledge of a society. When we are young, our behaviour is guided by certain values and norms of a particular society. For e.g. we are told that teachers is like a God and we should respect our teachers. This sort of knowledge has accumulated over several generations from times.Schools can be agents of change or conformity, teaching individuals to think outside of the family and the local.

The effect of teachers

Teachers are important agents of children's life, especially in the elementary school. The children's bonding to their first 2-3 years in the elementary school is similar to their bonding to their parents, and they want their expectations to be met, too. So teachers are not only transmitters of knowledge and information, but they have other roles, because children spend most of their waking time at school with their teachers. Teachers sometimes have to provide basic needs (mostly in kindergarten), they take care of the children, teach morals and values, give models how to solve conflicts and try to compensate the deficiencies of children coming from families with low socioeconomic status or from families with other psychological problems. Sometimes teachers' goals and the children's goals are different, especially when the students are in adolescence.

Research documenting teachers' goals for their students contain social values and expectations, for example to control their impulses, to solve their conflicts in a mature way and to respond to requests appropriately. Teachers encourage cooperative, pro - social behaviour, communication and sharing with each other and forbid aggression, social exclusion and theft. But the main goal is to transmit knowledge, to teach them subjects and the distant goal is to prepare the pupils for their adult life.

Studies reported that in elementary school close and supportive teacher-pupil relationships contribute to less aggression and to the identification with the teachers' expectations. In older students as adolescents, researches also confirm the positive influence of good teacher and student relationship. Studies documented that emotionally supportive teachers prevent dropping out of school, and they encourage academic interest, motivation, positive self-concept. To summarize, we can state that teachers are as important participants of children's life as their parents, and all of us can mention teachers in our life who had great influences on us.

Concept of Culture

In sociological literature, culture means the whole way of life. It is socially transmitted, not biological. It is used to denote symbolic and learned behavoiur of human society. Culture is learned, acquired and transmitted. It is social in nature

Culture as a complex of knowledge, belief, art, morals law and customs. (Tyler,1871)

Culture is the configuration of learned behaviour, whose component elements are shared and transmitted by the members of particular society (Linton, 1947)

In the other words culture can be defined as the product of what we think and what we do.

- Culture is ideal, gratifying, integrative and adoptive.
- It is super individual and super organic.
- It is means of fulfilling our needs
- It is composition of tangible and intangible aspects of human society.

Morrish (1972) point out that it is the function of education not merely to preserve and transmit the best of the past,it must its function in the present as well as its possibilities for future through innovation and ultimately it must seek to provide a total view of society and its purposes.

Culture and Education

Cultural and Education can not be divorced from each other. They are interdependent. The cultural patterns of a society guide its educational patterns. As for example, if a society has a spiritual pattern of culture, then its educational procedures will emphasize the achievement of moral and eternal values of life. On the other hand if the culture of a society is materialistic, then its educational pattern will be shaped for the attainment of material values which promotes pleasures of senses and material comforts. A society devoid of any culture will have no definite educational organization. Hence, the culture of a country has a very powerful impact on its educational patterns. Education as a part of culture has the twin functions of conservation and modification or renewal of culture. It is the culture in which education germinates and flourishes and exerts a nourishing influence. Human being receives from society the gifts of family life, community life, education, vocation, legal rights, safety and protection in the same way he/she inherits from the culture the gift of cultural heritage.

One of the major tasks of education is to hand on the cultural values and behaviour pattern to its young and potential members. By this means that a society achieves a basic social conformity,and ensures that that traditional mode of life are preserved.but a modern society needs critical and creative individuals who are able to make new inventions and discoveries,and willing to initiate social change.

Therefore it is also important that education system provide for change, which may be termed as a creative function of education .when a society is changing then they lead to conflict between old and the new elements of culture. It is the education system which respond to both kind of changes and mediates to sociocultural change process. Conversely, the changing culture of the society also shapes and re-creates the education system to make it relevant to the children growing up in those societies. Impact of culture on educational institutions moulding, reforming, and developing the cultural pattern of the society.

Impact of Education on Culture

Just as the culture influences education, in the same way education also influences culture of a country. It can be seen in the following manner:

Preservation of culture: Every country has a distinct culture of its own. Hence, it tries to preserve its culture and its distinctiveness in its original form. Education is the only means through which this task can be accomplished. Thus, education preserves the culture of a society.

Transmission of culture: The process of preservation includes the process of transmission from one generation to another. The famous sociologist Ottaway has rightly remarked ‘The function of education is to transmit social values and ideals to the young and capable members of the society.’

Development of culture: The function of education is to bring the needed and desirable change in the cultural ideals and values for the progress and continued development of the society without which social progress can not take place. Education acculturates an individual modifies cultural processes by research and deeper investigations into all areas of human requirements.

Continuity of culture: Culture is a life breadth of a society. Without which a society is bound to decay. Education upholds the continuity of culture through its diverse activities and programmes. A society establishes schools to preserve and transmit its culture to the coming generations. Children should be motivated to learn more and more from cultural interaction among various cultures. Thus cultural integration and assimilation will enrich the composite culture of a society.

Development of personality: Education aims at developing the personality of a child. It employs diverse cultural patterns of thinking, behaviour and cultural values so that children are physically, mentally, morally, socially and intellectually develop with the development of society to the maximum extent.

Removal of cultural lag: While material cultural develop at a faster speed due to scientific and technological inventions non material culture consisting of ideas, values and norms lags behind and create a gulf between the two. Education is the only means by which these gaps can be bridged.

Thus, Education and culture are interdependent and complementary to each other. However the existing system of education in India has not evolved from its own culture. There is a need that education should be related to our own culture. Education system not related to Cultural Heritage. It has been rightly said. "The existing system of education is largely based on the ideals of spreading western science and literature and way of life among a small minority of the population and of training persons for services under the government. It is still academic and book-centred and fails to promote social, cultural, economic or political development on proper lines." A foreign system of education was introduced in India without taking into account the cultural heritage of India. It is cut off from Indian cultural traditions and is alien to masses.

Reorganization of education has remained a challenging task right from the beginning after independence. K.G. Saiyidain an eminent educationist observed, "We are to-day at one of the great cross roads of our history when the pattern both of our culture and our social order is being refashioned. While it is true that education should always be essentially a forward-looking activity, in normal times when changes take place rather slowly and decorously, its function is mainly conservation— adjusting the child to relatively stable environment. But in periods of crisis like the present, when the older is dying out and the new one is not quite born, when the older forms of culture have lost their grip on the loyalty, at least, of the young and the new "shape of things" is far from being clear, education has a special difficult and critical role to play.

Conclusion

Thus from the above discussion it is inferred that culture and socialization process of a child describes the accessibility of level of education in his/her life. Sociological interpretation of education rationalizes the significance of education as an important institution of the society that contributes essentially to maintain social solidarity, social order as well as social equilibrium in the society. The social premise of education reflects the need and requirement of the society. Thus, It is the duty of teacher and teacher educator to identify societal needs and organizing education (making as a part of curriculum) fulfil such needs.

Therefore, at all level of schooling as well as higher education the social base of education has been identified as a core element &it needs to be more impetus to transform our country with the help of potent social agency called Education.

References

1. Ballantine , J.H.(1997) *The Sociology of Education*: A Systematic analysis, New Jersey:prentice Hall.
2. Ravikumar,S.R.(2001) *Education Sociology* ,Jaipur: Mangaldeep publications.
3. Mooney,Knox&schat ,(2007).Understanding social problems,5th edition
4. IGNOU, MES-051 *Eduction: Philosophical and Sociological perspectives.*
5. Socialization:retrieved from https://www.tankonyvtar.hu/hu/tartalom/tamop412A/2011-0023_Psychology/050600.scorml) on august 8,2018 at 1:40 pm
6. Culture:retrieved from //sol.du.ac.in/mod/book/view.php?id=1449&chapterid=1335) on august 8,2018 at 2 pm
7. Sosteric,M.(2015)*what is socialization* retrieved fro https://www.sociology.org/what-is-socialization/) on august 1,2018 at 11;30AM

THE EARTH: OUR HOME AND US

PROF. K.N. PRUDHVI RAJU*

It is one in nine with none akin third from the Sun
With moon around, rotating and roving round the Sun
Sphere splendid wrapped in wind and washed with waters
Abounds in life and abode of humans

There is the space/'brahmaand' which is being filled up by our universe/'viswam' of about 14 to 15 billion light years in expanse now. May be our own universe is one among many universes within the space/'brahmaand'. There were super clusters, groups within super clusters, galaxies within groups, constellations within galaxies, planet systems within constellations and our earth is one among the nine planets in the Solar System around the star Sun. Our Earth is like a tiny microscopic speck of a body among the trillions of cosmic bodies of immense sizes. It is the only known planet around a star with life supporting and sustaining atmosphere and with water as solid, liquid and gas just because it is in the 'golden zone' at a distance of about 153 million km from the Sun. It is because of this water in three states and the atmosphere with a perfect combination of Nitrogen, Oxygen and Carbon dioxide that our earth has given rise to plants, animals and humans.

Fact, it is one in 'en till we can find another
Reason for its import in the cosmic pillar
When alone we are in the vastness unbound
Waste not life on a mere trifle unsound

We don't know yet whether there is another planet like our earth supporting life and inhabited by higher life forms and humans in the vast expanse of our universe. This is the uniqueness of our planet earth. There is nothing comparable like our earth and there is nobody to compete with us in the cosmic pillar. We should wonder, we are alone in this expanding vastness. Because we are alone we should value life as humans as the most precious gift. Our life and death are great gifts from the mighty powers of this universe. So, let life grow and die its natural death rather than nipping it halfway through for reasons of mere dejections and rejections.

Its moon making moods in our mind
With cool reflection of the Sun torrid
Waxing and waning in a rhythm fortnight
Sans light in a night, in another shining full bright

The one moon we have around our planet has a power to pull the oceans up and down. The sunlight strikes it with its fire power but the moon is good enough to reflect it as cool light, the moonlight that ignites the fire of romance into the young and the old alike. It fascinated poets and folks into making many a poem and songs. It is a joy for mothers showing it to their babies and singing lullabies. It is a ball for the playful babies who try to reach out to catch hold of it. Its phases running into two fortnights gave us a measure of a month. The ends of fortnights result in a full moon and a new moon. The waxing and waning phases differ from place to place and its sighting in full and in thin crescent starts festive celebrations. So moon matters to us.

The fire within welled up with vapours
Into droplets condensed forming clouds
Falling in rain flowing over filling the ponds
Flowing in streams running in rivers filling the oceans

As the cosmic gases and dust of the primordial earth condensed into a dense ball the heat went up inside melting its matter which poured out to cover it with a crust. Gases too that spewed out of condensing earth along with the molten liquid condensed to form clouds; the clouds rained flowing over the land filling the ponds; the waters spilled and flowed into streams turning into large rivers flowing into the oceans.

Water the essence and energy of life
With forms myriad in multitudes marine rife
Fishes and frogs through reptiles to avians
Mammals and apes to homo sapiens

It is said, water is life, water is ambrosia, water is peace, water is panacea, water is sap, water is food, water is strength, water is sacrifice, water is energy

* Professor, Deptt. of Geography, Institute of Science, Banaras Hindu University, Varanasi.

etc., etc. It is also said, where there is water there is food, where there is food there is life, where there is life there is action, where there is action there is knowledge, where there is knowledge there is sacrifice. We are the only creatures who can think of sacrifice. We must give back something to the water for water to be there to give rise to life and to sustain it. The green plants contributed oxygen enriching the atmosphere giving rise to fishes, frogs, lizards and birds. Our waters in the oceans are full of a multitude of life forms. Higher forms of life came into being with mammals roaming over our planet and the apes have gradually evolved into humans.

Its Nature mystic with seasons rhythmic
With silence stoic and sounds of music
Its gifts bountiful, take them handful
But be careful, future needs plentiful

The beauty of its Nature is ethereal and its natural world is beyond our comprehension. Our planet has hot, wet and cool zones with periodically cycling seasons. Like a stoic philosopher our earth bears our burden and yet has a tranquillity of its own. Its sounds are a pleasure to please our senses to satiety. Our planet is like an enormous basket full of gifts to fill our hands. But we have to be careful as the future needs plentiful as our numbers increase not in ones and twos but in leaps and bounds from two to four and four to eight and so on.

Orbiting the Sun in path elliptic with axis incline
Cause of seasons creating many a clime
To and fro winds blow and currents flow
Setting a temperate high and a tropical low

Our planet is revolving round the Sun in a slightly elliptical path with an inclined axis. This inclined axis constantly pointing towards the pole star makes the earth receive sunlight differentially as it revolves round the sun around its near-circular path. It is because of this differential incoming solar radiation onto the earth at different times at different places during its revolution around the Sun causes seasons. Thank goodness it is not monotonously hot and cold all the time. There is a torrid zone, a tropical zone, a temperate zones and cold zone around the earth. It is these temperature differences at the surface of the earth that create pressure differences in the atmosphere making the winds blow. Winds create waves. Also the prime force making the ocean waters move in currents is the temperature. The currents influence weather patterns over most of the globe. Beware, now and then there can be a tornado, a hurricane, a cyclone etc., etc.

By sound surrounded of silent drone
Bearing our burden lying prone
With a mélange of melodies yonder in the woods
Sounds serene of running brooks and whispering winds

The cosmic background radiation is an all pervading sound of silence in our entire universe. Our planet is equally silent in offering us whatever it has and in accepting whatever we are doing to it. Its forests harbour many birds on wings the chirpings and calls of which fill the air with melodies musical mixed up with roars and howls of predators on foot. Even the roar of falling waters and ripples over the rapids and cascades create sounds so soothing that no one will ever want to wander away from it all.

Has everything what we need to live
Take them to meet the needs to live
Just enough to please our senses five
But not so much to hurt our hive

The earth is endowed with all resources we need to live, but, we should not be intemperate to please our greed. We should not be insensitive that our earth cannot be hurt however much we take away from it.

Living the present reflect into future
Progress in procreation is manifold in nature
Let not our numbers double in progression geometric
Life should go on as ever in cycles concentric

Live life to its fullest extent but look beyond into the future. We will double and treble into billions more than at present. We should contain our numbers within a ratio with resources, for life should go on into eternity.

A source sacred, treat it with grace
Set not the race against its face
Learn from the past, civilizations perished fast
Go not in the same cast for future to last

Our earth is like a body as we are and hence should be taken care of just as we take care of our own body. If most of the human civilisations disappeared from the scene, it is mostly because of indiscriminate stripping of the earth of its resources. So, let us not go in the same path taking away as much as it has, so that our progeny can have as much as they need to live.

Everything is made of prime elements five
Its spheres five are precious as our senses five
Sans which life cannot thrive
Divine grace we are at the helm to drive

The world is made of elements five—ether, air, water, fire and earth. There is lithosphere, hydrosphere, atmosphere, biosphere and cryosphere making up the earth. These five spheres are the five senses of the earth which are crucial for its existence. Divinity destined us to occupy the driver's seat to steer it safe. So follow the middle path of moderation.

We have a sense of discrimination
What use if we can't use it to live in moderation
Dear to us is our face, deface not its surface
Let there be saving grace it is our Mother's face

Of all the creatures we are the most intelligent with a sense of discrimination between the good and the bad. We would be failing in our duty we can't use our power of reasoning to live in moderation. Let us not scrap its surface bare of its pregnant forests and fertile soil. Just as we groom our faces let our mother earth's face be groomed with care so that she takes care of us, her own offspring.

The past is the key into the future
Learn from mistakes to keep our stature
Scrape it not bare to cause a deluge
To induce and initiate a catastrophe huge

What ancient civilizations did to themselves by disturbing its nature is a lesson to learn to sustain life into the future. Most of the cities of the past were washed out by floods and buried under silt, a direct result of felling forests and scraping the soils. If we can't learn from this mistake of the past to save our future what use is our intelligence?!

If we run fast at the pace we are running
Will not remain where we are and gain nothing
Future depends on saving give time to it for healing
There is none better for living we have an onus of giving

Actually we are all running at a great speed to take away all that the earth has. Most of the earth's resources we are spending away are exhaustible. So, with indiscriminate use of non-renewable resources we can't remain with the same status as we are now in. We have to save and conserve or else there is no other planet habitable for us to go and live. So, let it be take and give back; let us give back something to our mother earth for she is nourishing us with all her resources she is endowed with.

Forests are its lungs, spare them for posterity
For it to retain its entity for eternity
Let a plant bloom, a bird and bee zoom
A solace to our gloom and to cease our doom

One singular reason for enrichment of our early atmosphere is plant from unicellular to multi-cellular. Forests absorbed excess carbon dioxide and released oxygen keeping both within limits perfectly proportioned for us. They continuously breathe in carbon dioxide and breathe out oxygen, a basic requirement to keep a balance between the two for life to thrive on earth. If at all the earth has to hold back its record of having us as its unique species, we must allow the plants and forests grow failing which we can't stop our impending annihilation.

We take our wind from the sylvan surroundings
A loss of which is like losing our lungs
Conserve to contribute to its future content
Forests provide our home its life's content

Forests and plants provide us oxygen and if forests are lost our oxygen is lost. We cannot last if oxygen is lost. So, we must do everything to conserve our forests for it is they who provide us our life serving gas. Forests not only contain plants but are also habitats for many an animal and we cannot survive without animals.

Future doesn't mean only the next generation
Life should continue forever with amelioration
Let none else take the credit of being alone
Till that claim comes let it remain the only one

We should worry not just about our children's future alone, but should in fact worry about the future of life itself on our planet. Ever since humans turned intelligent, they have been making attempts to live better and better and happier and happier. If there is somebody else like us on any other planet, let them not boast that they are alone in this universe. Till somebody finds us or till we find somebody like us in this universe, let our planet remain unique with no planet like ours and with none like us anywhere in this universe. We are kings of our planet and let us protect our kingdom to last forever.

To sustain life our duty prime, fauna and flora are part of life
Do they whatever is adding to life, do we whatever is reducing life
Our Home is a system we are a key control system
Help it to self-regulate and disturb not its eco-system

The primary duty of every individual is to help every plant and animal to live its life because we cannot sustain ourselves without them. Plants and animals have 'life'/'praan' like us. If we have 'praan' and ant too has 'praan'. If we have a right to live plants and animals too have a right to live. We have voice, but they don't have it; let us protect the voiceless. Therein rests our glory of being the most powerful and intelligent of all life on earth. It is an irony by living their life, plants and animals are contributing a great deal to our environment and unfortunately all our activities are leading to reduction and wasting of life. The contribution of plants and animals is positive whereas our contribution is negative. Our earth is an object with multitudes of parts. Each and every part is connected with each and every other part in very complex matrices. So, there are complex interconnections, interdependencies and interrelationships among all the parts of our planet. And, all the parts function in a particular method to make the earth work. Even if one of its small parts is affected the earth feels pinched and it would ultimately affect us. Among all these parts our role is very critical and we can work to control and balance its functioning. Many things on the earth regulate themselves to reach equilibrium. Whatever we do, we must do so that the earth regulates itself. Just as we have our own habitats all plants and animals together have their own habitats. Let us live in our own habitats and let them live in their own habitats. It is said, let there be peace in space, let there be peace in the universe, let there be peace in the sky, let there be peace on earth, in water , in air, let there be peace in all herbs and plants, let there be peace always everywhere and in everything etc., etc.

A plant and a pasture, a bear and a beast survive sans us
But, alas! the converse doesn't work thus
Survive we can't sans greens and grains, milk and meat
So, arise awake, go by divine script to play our part neat

Left alone, plants and animals can live their life without humans. But humans cannot live their life without plants and animals. We can't survive without the produce of plants and animals. So, we must wake up and play our role perfectly to sustain life on earth.

●

''प्रज्ञा''
नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

(अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

(ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

(स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

दिनांक एवं स्थान .....

मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

PRAJÑĀ

RULES AND GUIDELINES

1. As far as possible, **"Prajñā"** will be published twice a year : One issue at the time of start of the academic session, the other on the occasion of the Malaviya Jayanti.
2. The Teachers/Research Scholars of B.H.U. intending to publish their articles/research papers in the first issue of **"Prajñā"** are required to submit their manuscripts in the office of **"Prajñā"** before 30th November. The deadline for the submission of articles/ research papers for the second issue shall be 30th April. The research papers/articles of research scholars should be forwarded and recommended by the Supervisor/Head of the Department concerned.
3. The authors contributting their research papers/ articles shall get two copies of **"Prajñā"** : The first one would be the author's copy and second will be in lieu of 10 reprints of their articles.
4. All donations/subscriptions should be sent to the Editor, **"Prajñā"** B.H.U. Journal, Varanasi-221005.
5. **Guidelines for preparation of Manuscript of Articles/Research Papers :**
   a. Article/Research Papers should be Computer typed. Authors are required to submit a C.D. of their manuscripts alongwith the hard copy.
   b. The manuscript should be typed in double-space with 2 cm margin on the A-4 size bond paper.
   c. **For the manuscripts in Hindi and Sanskrit, the following instructions be followed :**

      APS-DV-Prinyanka Roman Font, Title–17 point black, Author's Name–13 point italic black, Text 13 point, folio 11 point and footnote 9 point.

   d. **For the manuscripts in English, the following instructions be followed :**

      'Time New Roman' font, Title-14 point All caps black, Author's Name - 11 point All caps italic black, Text-11 point upper lower, Footnote and Folio - 9 point. Text should be composed on A-4 size in the above font.

   e. **The Research papers/articles should not go beyond a maximum of 10 typed pages.**
6. **The declaration of the author for publication of articles in the "Prajñā" journal:**

   I, the author of the research paper/article entitled "....." declare that :

   a. I take the responsibility of the content and material of my paper as I myself have written it and also have read the manuscript of my paper carefully. Also, I hereby give my consent to publish my paper in the **"Prajñā"** journal.
   b. This article/research paper is my original work and no part of it's similar version is published or has been sent for publication anywhere else.
   c. I authorise the Editorial Board of the **"Prajñā"** journal to modify and edit the manuscript. I also give my consent to the Editor of **"Prajñā"** to own the copyright of my research paper/article.

   Author's Name and signature .....

   Date and Place .....

   Mobile/Telephone.....

●

''प्रज्ञा'' पत्रिका अंक 64, भाग 1, वर्ष 2018–19 का लोकार्पण करते हुए कुलपति प्रो. राकेश भटनागर

स्थान – कुलपति कार्यालय, 20 जुलाई 2018

मध्य में – कुलपति, प्रो. राकेश भटनागर

कुलपति के बायें– प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय, सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल एवं (पीछे) डा. ज्ञान प्रकाश मिश्र, पत्रिकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग

कुलपति के दायें– प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी, संस्कृत विभाग; डॉ. नीरज त्रिपाठी, रजिस्ट्रार एवं प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय, अंग्रेजी विभाग।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

ISSN:0554-9884
(यू.जी.सी. द्वारा स्वीकृत सूची में
क्रमांक जर्नल नं.- 40698 अंकित)

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दूओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।

2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।

3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।

4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTIVES OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Samskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;

2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;

3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and

4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.